जानकीहरणम्

रचयिता

महाकवि कुमारदास

अनुवादक

व्रजमोहन व्यास

संपादक

श्रीकृष्ण दास



मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद-३

प्रकाशक
वीरेन्द्रनाथ घोष
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटे
इलाहाबाद

मूल्य
पच्चीस रुपए
१९६६

मुद्रक
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद



स्वर्गीय पण्डित ब्रजमोहन व्यास

निवेदन

महाकवि कालिदास कृत रघुवंश की प्रसिद्धि सारे भारत में हो चुकी थी। मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तल और रघुवंश—इन तीनों महान् कृतियों की रचना कर कालिदास ने अपने लिए अमरत्व अर्जित कर लिया था। रघुवंश के समान उच्च काव्य की रचना करना परवर्ती कवियों की महत्त्वाकांक्षा बन गयी थी। अनेक प्रयत्न हुए परन्तु उन प्रयत्नों में किसी को भी सफलता नहीं मिल सकी। अनेक उत्कृष्ट काव्यों की रचना हुई जिनमें कवियों ने अपनी प्रतिभा, कौशल और क्षमता का परिचय दिया। परन्तु कालिदास की ऊँचाई, माधुर्य, सौष्ठव, कलात्मकता और वैभव एवं ऐश्वर्य तक पहुँचना किसी के लिए भी सम्भव न हो सका।

रघुवंश की विजय दुन्दुभी श्रीलंका के आकाश में भी ध्वनित, प्रतिध्वनित हुई। महाकवि कुमारदास के कानों तक भी रघुवंश की चुनौती पहुँची। उन्होंने दर्पभरे स्वर में कहा—"रघुवंश के रहते जानकीहरण केवल दो व्यक्ति कर सकते थे या तो कवि कुमारदास या रावण।" यह गर्वोक्ति कवि कुमारदास ने की थी अथवा नहीं—इसके सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु यह गर्वोक्ति सारे देश में फैल गयी—जन-जन का कण्ठहार बन गयी। जानकीहरणम् की रचना रघुवंश को सामने रख कर ही की गयी। जानकीहरणम् की रचना ने कवि कुमारदास को भी अमरत्व प्रदान कर दिया। इसकी उत्कृष्टता के सम्बन्ध में किसी को भी सन्देह न था। यह बात दूसरी है कि जानकीहरणम् को रघुवंश की समकक्षता नहीं प्राप्त हो सकी, परन्तु यह भी सत्य है कि इस रचना की महत्ता सब को स्वीकार करनी पड़ी। जानकीहरणम् की काव्यात्मक उत्कृष्टता के कारण ही यह लोकोक्ति चल पड़ी जिसे कुमारदास कृत समझा जाता है—

जानकी हरणं कर्तुं, रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च, रावणश्च यदि क्षमः॥

फिर काल-देवता ने जानकीहरणम् को अपना ग्रास बना लिया। लगा उसका लोप हो गया। शार्ङ्गधर पद्धति, सुभाषितावली और औचित्य विचार चर्चा में इस ग्रंथ का चर्चा भर आया। परन्तु सम्पूर्ण ग्रंथ का पता न था। इधर-उधर जो उद्धरण अथवा संकेत मिलते थे उनसे जानकी-हरणम् का नाम भर चला आता था। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में अनेक विदेशी तथा भारतीय विद्वानों ने शोध एवं अनुसंधान करके अनेक ग्रंथों की हस्तलिपियों को प्राप्त किया। जानकीहरणम् भी इसी क्रम में सिंहली विद्वान् श्री के० धर्माराम स्थविर के हाथ लगा। इस प्रकार इसके पुनरुद्धार का क्रम आरम्भ हुआ। और, अब आदरणीय पण्डित व्रजमोहन व्यास की कृपा से यह अनुपम ग्रंथ अपने संपूर्ण रूप में, भाषानुवाद के साथ, हमें प्राप्त हो रहा है।

महाकवि कुमारदास कृत सपूर्ण जानकीहरणम् का नागराक्षरों में यह सानुवाद प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है। इस युगान्तरकारी, अद्भुत ग्रंथ को इस प्रकार मँजोकर और उसका हिन्दी मे रोचक, लालित्यपूर्ण, निर्दोष अनुवाद करके परलोकवासी पण्डित व्रजमोहन व्यास ने संस्कृत और हिन्दी साहित्य के प्रेमियों को उपकृत किया है। इस ग्रंथ के प्रकाशन से संस्कृत साहित्य के इतिहास की एक टूटी शृंखला जुड़ेगी और अनेक नवीन तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा।

लंकानिवासी महाकवि कुमारदास कौन थे? उन्होंने जानकीहरणम् की रचना कब

और किन परिस्थितियों में की ? क्या वस्तुतः उन्होंने कालिदास कृत रघुवंश का प्रत्याख्यान करने के लिए ही जानकीहरणम् की रचना की ? इन सारी बातों पर आदरणीय पण्डित व्रजमोहन व्यास ने विशद् विवरण प्रस्तुत किया है।

जानकीहरणम् के केवल दस सर्ग प्राप्त थे। फिर पन्द्रह सर्ग प्राप्त हुए। अन्त में बीसों सर्ग प्राप्त हो गए। इस प्रकाशन में सम्पूर्ण ग्रंथ प्रथम बार देखने को मिलेगा। इसका सारा श्रेय श्री व्यास जी को है। उन्होंने जिस अध्यवसाय और परिश्रम से इस ग्रंथ के सर्गों को संग्रहीत और संपादित किया, वह एक लोमहर्षक कथा है जिसका कुछ आभास व्यास जी ने अपनी भूमिका में दे दिया है। वास्तविक बात यह है कि यद्यपि इस महान् ग्रंथ की चर्चा तो हमारे संस्कृत साहित्य के इतिहास मे यत्र-तत्र मिलती थी, परन्तु यह ग्रंथ प्राप्त न था। १८९१ ई० मे विद्यालंकार कालेज, पेलिय गोड, केलानिया, लंका, के प्रिन्सिपल श्री के० धर्माराम स्थविर ने इस महाकाव्य के चौदह सर्गों और पन्द्रहवें सर्ग के प्रारम्भिक बाईस श्लोकों का शब्द प्रति शब्द अनुवाद सहित सिंहल लिपि मे संपादन किया और वह सत्य समुच्चय प्रेस, पेलिय गोड, कोलम्बो से प्रकाशित हुआ। जयपुर शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष पं० हरिदास शास्त्री ने इसे नागराक्षरों में रूपान्तरित किया। १८९३ ई० में संस्कृत कालेज, जयपुर, के अध्यक्ष ने इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया। इस संस्करण में कुल चौदह सर्ग और पन्द्रहवें श्लोक के प्रारम्भिक बाईस श्लोक थे। इस सर्ग के बाकी श्लोकों को व्यास जी ने डॉ० राघवन की कृपा से प्राप्त किया। अन्त मे, श्री सी. आर. स्वामीनाथन् के शोध प्रबन्ध से लेकर पांच और सर्गों को भी जोड़ा गया और सम्पूर्ण ग्रंथ तैयार हो गया।

इसके अनुवाद का कार्य वस्तुतः बहुत कठिन था। परन्तु वयोवृद्ध व्यास जी ने कठिनाइयों की चिन्ता न की। उन्होंने अनेक विद्वानों की सहायता प्राप्त की और अनेक दुरूह अंशों को भी बोधगम्य बना दिया। आदरणीय व्यास जी के इस दुष्कर कार्य ने अनेक विद्वानों को विस्मित कर दिया। श्रद्धेय व्यास जी ने प्रायः असम्भव को संभव कर दिया।

यमकों के अनुवाद के सम्बन्ध मे व्यास जी ने अनेक विद्वानों की सहायता ली, मुख्यतः पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय तथा पण्डित रामकुबेर मालवीय, अध्यक्ष साहित्य विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, से। यथा :

श्रद्धेय व्यास जी,

प्रथम ३ पृष्ठों का अर्थ (९ श्लोकों का) यथाकथंचित् खींचतान कर भेज रहा हूँ। जैसा कि मैंने निवेदन किया था कि पुराने महाकाव्यों के यमक पर सर्गों का पुनरध्ययन के बाद इस कार्य में भिड़ना चाहिये। अब समयाभाव के कारण, मैं उन अपेक्षित महाकाव्यों को पढ़ नहीं सकता हूँ, न शक्य होगा। केवल अपनी ओर से माथापच्ची कर जो कुछ निकला, वही भेज रहा हूँ।

—स० प्र० चतुर्वेदी

श्री रामकुबेर मालवीय का पत्र

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्तो माननीया व्यास महोदयाः,[1]

सादरप्रणामा विलसन्तुतराम् !

शब्दसारश्चादयोऽसिहे मयि सम्प्रति राजति।
धारयन्त्यर्थमुग्धाभोता यस्मिन्नेव महोत्सवे॥१॥

कृतं मया भवत्कार्यं महासागरलघनम्।
यया हनुमता सम्यक् रामकार्यं महोत्कटम् ॥२॥
अस्य कार्यस्य निष्पत्त्यै न मम प्रार्थनं वरम्।
किमनाराधितश्चन्द्रः कैरवं न समीक्षते ॥३॥
शिवरात्रिदिनान्तं त्वत् पार्श्वं प्राप्स्यंति निश्चितम्।
कूटश्लोकार्यसंख्यानं न्यासीकृतमिवस्थितम् ॥४॥
यद्वा होलिकान्तं तत् प्राप्स्यत्येव त्वदन्तिकम्।
भवतामुत्सवार्थंव तया च प्रभविष्यति ॥५॥
श्रीमद्रामकुबेरस्य मालवीयस्य कोविद !
एवैव प्रार्थनालिस्ते पदपद्मे विराजताम् ॥६॥

व्यास जी का उत्तर

कमलाधीशपतिष्ठताम्

एषा खलु निखिलशास्त्रकलावगाहगभीरबुद्धेः, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय साहित्य विभागाध्यक्षस्य तत्र भवतः यमककुलधूमकेतोः श्री मद्रामकुबेरमालवीयस्य चरणकमलाभ्याम् व्रजमोहनव्यासस्य अवमिनतलोलेन शिरसा, साभारप्रयिता प्रणामसन्ततिः।

तत्रभवता प्रेषितेन षड्श्लोकविभूषितेन अरविन्दबन्धुसन्निभेन पत्रेण प्रफुल्लीकृतं मे हृदयारविन्दम् । तिरोहितञ्च संशयसंसृततिमिरान्धत्वम् । तत्क्षणमेव काव्यवाकाशमार्गेणोपनीता, साहित्यशास्त्र–कलकलनिनादिनी तत्रभवतां स्वरलहरी सहसा पुनरुक्तेव मे कर्णविवरे प्राविशत् ।

कः रामके शास्त्रं शासति शासितरि च यमकानाम्।
अयमाचरत्यविनयं संशयभीतेषु व्यासचरणेषु ॥

इत्थं साहसोत्साहसम्पृक्तां वाणीं श्रुत्वा उत्फुल्लमनसा सहसा मयोक्तम्
"शिवरात्रि दिनान्ते होलिकान्ते वा" यदा तत्रभवतः कूटश्लोक–सख्यानं आगमिष्यति तदात्र विस्मयविस्फारितायतलोचनाः सर्वे पण्डितमानिनः त्रपाभिभूता कथयिष्यन्ति ।

कोप्येष बुद्धिनिकषः खलु रामभद्रः
यो नामशेषानिव नः करोति।
अद्यास्तमेतु भुवि पण्डितराजशब्दः
साहित्यगर्वितजनाः यमकाश्च यान्तु ॥

तत्रभवतामानन्दसन्दोहनिष्यन्दिपत्रमस्माकञ्च आभारज्ञापनमुभयमपि प्रास्ताविकायां प्रकाशयिष्यते ।
प्रयागे
महाशिवरात्रौ ।

व्यास जी ने जिस लगन और धैर्य के साथ, जिस कौशल और योग्यता के साथ इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि तैयार की और इसके परिशिष्टों का चयन करके इसको पूर्णत्व प्रदान किया उसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। वस्तुतः भाषानुवाद का ही नहीं, उसके संपादन का भी श्रेय श्रद्धेय श्री व्रजमोहन व्यास जी को ही है ।

परिशिष्ट में व्यास जी ने चरित्रकोश, स्थानकोश, धर्माराम स्थविर की भूमिका, टामस की टिप्पणी, वार्नेट की टिप्पणी, वार्नेट द्वारा उद्धृत सोलहवाँ सर्ग, जानकीहरण के कुछ पाठ, राइज डेविड्स की टिप्पणी, जानकीहरण में प्रयुक्त छंद, सर्गों में प्रयुक्त छंद, छंदों की श्लोक संख्या,

महाकाव्य का विवरण, यमकों के लक्षण, यमक एवं शब्द चित्र, यमक एवं शब्द चित्र (सारिणी) तथा राक्षसों का वंश-वृक्ष--इन सोलह अध्यायों में सहायक साहित्य भी दे दिया है। इससे मूलग्रंथ के विभिन्न पक्षों पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है।

जानकीहरणम् के काव्य सौष्ठव पर श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी का एक संक्षिप्त निबन्ध भी दे दिया गया है। इसके लिए व्यास जी ने अपने जीवन काल में ही आदेश दिया था।

व्यास जी का देहावसान ७८ वर्ष की उम्र में गत २५ मार्च १९६३ को हो गया। जीवन के अन्तिम क्षण तक वह पूर्णतया स्वस्थ थे। यकायक कठोर काल ने उनको हमारे बीच से उठा लिया। परन्तु उनका मनोहारी, सशक्त, जीवन्त व्यक्तित्व हमारी आखों के सामने है। अब भी उनकी मधुर वाणी कानों में गूंज रही है। काश कि यह ग्रंथ व्यास जी के जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया होता!

स्वर्गीय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने इस ग्रंथ की विशद भूमिका लिखने की इच्छा प्रकट की थी। परन्तु अपनी यह इच्छा वह पूरी न कर सके। असमय ही वह गोलोकवासी हो गए। उनकी भूमिका प्रस्तुत ग्रंथ में सम्मिलित नहीं हो सकी, इसका हमें बहुत दुख है।

दुःख है कि **जानकीहरणम्** की पाण्डुलिपि का संपादन करने में मुझे न तो श्री व्यास जी की सहायता मिल सकी, न डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की। इन दोनों महानुभावों की सर्वथा अप्रत्याशित परलोक-यात्रा से साहित्य जगत् को जो क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति कैसे हो सकेगी? संपादन सम्बन्धी जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनके लिए व्यक्तिगत रूप से मैं ही उत्तरदायी हूँ। अगर इन दोनों आचार्यों की सहायता और निर्देशन से मैं लाभान्वित हो पाता तो निश्चय ही यह ग्रंथ और भी अधिक सुचारु रूप से प्रकाशित हो पाता।

जानकीहरणम् को जनता के सामने प्रस्तुत करने मे हमे अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। अभी तक जिस ग्रंथ को लुप्तप्राय माना जाता था, वही अब अपने सपूर्ण रूप मे, हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो रहा है, सचमुच यह आनन्द का विषय है।

कुमारदास कृत यह ग्रंथ कितना महत्वपूर्ण और महान् है इसके सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना है। जानकीहरणम् की महत्ता स्वयंसिद्ध है। हमें गर्व है कि हम इस अनुपम ग्रंथ का इतना पूर्ण और प्रामाणिक सानुवाद संस्करण इस रूप में प्रकाशित कर सके। विज्ञ क्षेत्रों में यह अवश्य ही अभिनन्दित होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

—श्रीकृष्ण दास

प्रस्तावना

संस्कृत–वाङ्मय का समीक्षा-शास्त्र एक परिपक्व एवं परिनिष्ठित शास्त्र है। समीक्षात्मक वाङ्मय, सर्जनात्मक वाङ्मय की महत्ता का परिचायक होता है। संस्कृत काव्य-वाङ्मय में ऐसे अनेक रत्न हैं जिनकी ईदृकता (गुण) और इयत्ता (परिमाण), इन दोनों दृष्टियों से विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। एवमेव भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की विशाल कालावधि में साहित्य-मर्मज्ञों के समीक्षा-ग्रन्थ भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं। संस्कृत की इस दीर्घकालीन समीक्षा-परम्परा का यह शुभ परिणाम हुआ कि प्रसिद्ध कवियों के विषय में समीक्षा का परिनिष्ठ्यूत तत्व, अत्यल्प शब्दावली में, निहित किया जा सका है, जिससे उन कवियों की प्रमुख विशेषताओं की झलक हमें मिलती है।

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्
दंडिनः पद–लालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।

इस लघुतम श्लोक में चार प्रसिद्ध कवियों के काव्य-सौष्ठव को खोल कर रख दिया गया है। विशाल काव्य-साहित्य और समीक्षा-ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से जिस निर्णय पर हम पहुँचते है, यह इस सुभाषित मे मानों निचोड़ दिया गया है। साहित्य-पारखियों को यह सुविदित है कि कविकुल गुरु कालिदास की सर्वश्रेष्ठता के विषय में 'अनामिका सार्थवती बभूव' इस समीक्षात्मक सुभाषित ने कितने अल्प शब्दों मे, कितने प्रभावशाली ढंग से, कितनी बड़ी बात कह डाली है।

इसी कोटि का एक कवित्वपूर्ण समीक्षा सुभाषित निम्न-लिखित है :

जानकीहरणं कर्तुं, रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासोवा, रावणोवा यदि क्षमः॥

अर्थात् रघुवंशी रामचन्द्र के रहते रावण ही जानकी-हरण कर सकता था, वैसे ही रघुवंश महाकाव्य के रहते कवि कुमारदास ही जानकीहरण महाकाव्य की रचना कर सकते थे। इस सुभाषित में यह भी संकेत मिलता है कि काश्मीर से लेकर लंका तक के विस्तीर्ण भारतवर्ष के संस्कृत कवियों को एक दृष्टि में रख कर परखने से कालिदास एवं कुमारदास—ये दोनों महाकवि उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत में एक दूसरे के समकक्ष प्रतिनिधि कवि माने जाते थे। इस परस्पर-तुलना को अधिक कवित्वमय तथा रोचक बनाने के लिये उत्तरकालीन कल्पना प्रतिभा ने इस जनश्रुति को जन्म दिया कि कालिदास एवं कुमारदास, न केवल समकालीन थे अपितु परस्पर-मित्र भी थे तथा लंका द्वीपवासी कुमारदास ने कालिदास के वियोग में जीवन को निरर्थक समझा। एवं 'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते' कुमारदास के इस श्लोकार्ध को कालिदास ही पूरा कर सके थे। 'बाले तव मुखांभोजे, दृष्टमिन्दीवरद्वयम्'। रघुवंश-प्रतिस्पर्धी जानकीहरण के रचयिता कुमारदास का यश तेरहवीं शताब्दी के संस्कृत-जगत् में सर्वविश्रुत था। तभी तो जल्हण की सूक्ति-मुक्तावली में राजशेखर का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक (जानकीहरणं कर्तुम्...क्षमः को) कुमारदास की

प्रशंसा में उधृत किया गया है । दशम शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार और समीक्षक राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में कुमारदास के जन्मान्ध होने का निर्देश किया है, जो उत्कृष्ट कवित्व को प्रमाणित करने के लिये एक 'कवि समय' सा हो गया है। किन्तु महाकाल के प्रवाह के चपेटे मे जानकीहरण महाकाव्य भी आया तथा विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गया। संस्कृत वाङ्मय में पूर्वविश्रुत किन्तु पश्चात् विस्मृत ऐसे अनेक ग्रन्थ-रत्न हैं जिनका उद्धार आधुनिक काल में हुआ है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अश्वघोष के महाकाव्य, भास के तेरह नाटक, इसी प्रकार मध्य युग की कालावधि मे लुप्त हो गये थे; किन्तु पुनरुपलब्ध होने पर आज उनकी अभूतपूर्व प्रसिद्धि है। संयोग की बात है कि उपर्युक्त ग्रन्थ-रत्नों का उद्धार आर्यावर्त (अर्थात् सामान्यतः उत्तर भारत) में नहीं, अपितु दक्षिण भारत में या भारत के बाहर हुआ, क्योंकि वहीं उनकी पाण्डुलिपियाँ सर्वप्रथम पायी गयी थीं। इसी प्रकार जानकीहरण का भी शब्दानुवाद—सहित मूल सर्वप्रथम सिंहली लिपि में प्राप्त हुआ था। खण्ड-खण्ड कर अवशिष्ट ग्रन्थांश भी अब उपलब्ध हो गया है। बीस सर्गों का यह महाकाव्य हिन्दी-अनुवाद तथा अनेक परिशिष्टों के साथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रकाशन की पृष्ठभूमि बहुश्रुत अनुवादक श्रद्धेय ब्रजमोहन व्यास जी की साहित्यिक लगन है। व्यास जी प्रयाग नगर की सांस्कृतिक विभूति के विशिष्ट प्रतिनिधि थे। आज वे हमारे बीच में नहीं है। उनका पार्थिव शरीर यश:शरीर मे परिवर्तित हो गया है। किन्तु जिन्हें उनका साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे सभी सशपथ मुक्त कंठ से कहेंगे कि उनकी सुन्दर गौरवर्ण देह, शुभ्र तथा स्वच्छ परिधान, मुच्छ-सुशोभित भव्य मुखमंडल, ताम्बूल रंजित अधर, दृढ़ किन्तु कोमल स्वास्थ्य-सूचक अंग-यष्टि, एक पौरुष-युक्त 'पुमान्' के सर्वथा अनुरूप थे। साथ ही निनादिनी मधुर वाणी, शुद्ध उच्चारण-प्रक्रिया, मुखाग्ररूप मे उत्तमोत्तम गद्यपद्यमय काव्यांशों की उद्धरण-क्षमता, संस्कृत-साहित्य से अगाध प्रेम, अद्भुत एवं परिष्कृत श्लोक-पाठ-शैली, उनकी साहित्य-मर्मज्ञता एवं विद्या-व्यासंग की परिचायिका थी। इसके अतिरिक्त हृदय की उदारता, वदान्यता, कलाप्रियता, साधुवृत्ति, सविनय माधुर्य, निश्चल व्यवहार तथा विनोदप्रियता—उनके मनोहारी व्यक्तित्व की उच्चता का स्पष्ट भान कराती थी। संक्षेप में वे प्रयाग नगर के, विशेषतः अहियापुर मुहल्ला के, बाह्य एवं आन्तर दोनों रूपों में, सच्चे प्रतीक थे। प्रयाग नगर को उन्होंने अनेक पुस्तकों के रूप में साहित्यिक निधि प्रदान की है। प्रयाग-संग्रहालय उनकी कर्मठता तथा दूरदर्शिता का अद्भुत प्रमाण है। किन्तु जीवन के विविध क्षेत्रों मे (वकील, प्रशासक, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता आदि के रूप में) सफलता प्राप्त करने के बाद ७५ वर्ष की उम्र मे इस महाकाव्य का हिन्दी अनुवाद करने की उनकी तैयारी एक आश्चर्यावह उपक्रम था, इसमें सन्देह नहीं। भारवि-माघ की कवि-परम्परा की अलंकृत एवं अधिकांशतः कृत्रिम कार्यशैली मे लिखे गये जानकीहरण का मुहावरेदार, स्थानीय पुट—युक्त ठेठ हिन्दी में रूपान्तर करना उन्हीं के लिये शक्य था। अपनी धुन में उन्होंने चित्रबन्ध वाले अठारहवें सर्ग के अनुवाद में काफी माथापच्ची की और कराई, किन्तु बाद में वे तभी इस कार्य से विरत हुए, जब उन्हे यह विश्वास हो गया कि एकाक्षर, द्वयाक्षर, आदि विचित्र श्लोकों की रचना में स्वयं रचयिता भी अभिप्रेतार्थ के पूर्वज्ञान का आग्रह नहीं करता, बल्कि उसे अपने विद्वान् पाठकों के व्याख्या-कौशल पर छोड़ देता है। संस्कृत भाषा की लोच तथा मनमाना अर्थ व्यक्त करने के सामर्थ्य की कसौटी के रूप मे यह चित्रबन्ध-काव्य-निर्माण-परम्परा उस युग में चल पड़ी थी और भारवि, माघ आदि महाकवियों की होड़ मे कुमारदास ने भी इस परम्परा को अधिक प्रश्रय दिया। अतः अठारहवें सर्ग के अनुवाद में रचयिता के अभिप्रेत अर्थ के व्यक्त करने में सम्पूर्ण सफलता का दावा न कर उसे अनुवादक के वैदुष्य, व्याकरण विषयक प्रतिभा और व्याख्या-नैपुण्य का उदाहरण मानना चाहिये। व्याकरण की उणादि-प्रक्रिया के अनुसार संस्कृत भाषा कामधेनु के समान है जिससे

कोई भी निपुण दोग्धा अभिप्रेत अर्थ निकल सकता है । भाषा अर्थवती है, अर्थ-ग्राहक मिलना चाहिये। अस्तु।

प्रस्तुत प्रकाशन में मूल ग्रन्थ की उत्कृष्टता, विशद अनुवाद शैली और कलात्मक मुद्रण कला आदि सभी विषयों में मणिकाञ्चन-संयोग से हिन्दी वाङ्मय की श्रीवृद्धि होगी, यह सन्देहातीत है। स्वर्गीय व्यास जी का यह मरणोत्तर प्रकाशित ग्रन्थ उनकी साहित्यिक अभिरुचि और वाग्विदग्धता की पुण्यस्मृति का अन्तिम प्रतीक है।

विजया दशमी
१९६६

—सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी

सांमनस्यम्

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥

—अथर्ववेद, काण्ड ३, सूक्त ३०।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये !

भूमिका

सत्कविरसनाशूर्पी निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ॥

सुकवि के जिह्वारूपी सूप से पछोर कर भूसी निकाले हुए चावल के पके हुए भात से तृप्त साहित्यिक, प्रेयसी के अधर का आदर नही करते, सुधा की कौन गिनती? वह तो दासी के समान है।

अपने गुरुदेव, संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, संस्कृत साहित्य के मधु-लोलुप भृंग, आचार्य बालकृष्ण भट्ट की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से मुझे संस्कृत साहित्य में अनुराग हुआ। मैंने इसका सविस्तर वर्णन, अपनी पुस्तक 'पण्डित बालकृष्ण भट्ट के संस्मरण' में किया है। मेरे पिताश्री पूज्यपाद डाक्टर जयकृष्ण व्यास, भट्ट जी के अभिन्न मित्र थे। वे संस्कृत साहित्य के बड़े प्रेमी थे। माघ का 'शिशुपाल वध' उनका प्रिय काव्य था। माघ के श्लोकों के अर्थ लगाने का प्रयास, वे पहिले बिना टीका देखे हुए करते थे और जब इस प्रकार श्लोक का अर्थ नही ही निकलता था तब वे टीका की सहायता लेते थे। माघ की ओर मेरा यह पक्षपात, और बिना टीका के श्लोकों की गुत्थी सुलझाने की धृष्टता उन्ही से प्राप्त मेरी पैतृक सम्पत्ति है।

मेरे पितामह, मनसा और कर्मणा पवित्र, ऋषितुल्य, पण्डित लक्ष्मीनारायण व्यास नगर के एक वयोवृद्ध, लब्धप्रतिष्ठ वैद्य थे। वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी मेधा-शक्ति इतनी प्रखर थी कि वैद्यक के कई ग्रन्थ उन्हें आद्योपान्त कण्ठस्थ थे।

मेरे प्रपितामह, पण्डित सतीप्रसाद जी व्यास संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और धुरन्धर वैयाकरण थे। वे नित्य गंगा-स्नान के लिये पैदल जाते थे। जाते समय वे आरम्भ से अन्त तक पाणिनि की अष्टाध्यायी का पाठ करते थे और लौटते समय अन्त से आरम्भ तक उलटा पाठ करते थे। जैसा लड़के 'सौ पूरे निन्यानवे, अट्ठानबे, सत्तानवे,' का पाठ करते हैं। उनमें संस्कृत के शुद्ध उच्चारण एवं व्याकरण से परिशुद्ध, धाराप्रवाह भाषण करने की अपूर्व प्रतिभा थी। बतलाने के लिये भी वे अशुद्ध शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। कहते थे कि जो मैं कह रहा हूँ वही शुद्ध है। इसके अतिरिक्त सब अशुद्ध है। बत्तीस वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया।

अपनी वंशावली का थोड़ा विस्तार से वर्णन करने के कई कारण हैं। एक तो, मनुष्य जब स्वयं धनहीन होता है तो वह अपने संपन्न पूर्वजों की दुहाई देता है। यद्यपि अँग्रेजी की एक कहावत है कि 'What is to the dumb whose forefathers were eloquent and what is to the blind whose forefathers could see?' 'गूंगे को इससे क्या लाभ यदि उसके पूर्वज व्याख्यान वाचस्पति थे और अंधे को इससे क्या लाभ कि उसके पूर्व-पुरुषों की दृष्टि बड़ी तीव्र थी!' परन्तु बात कुछ ऐसी ही है। उत्तराधिकारी अपनी पैतृक सम्पत्ति से वञ्चित हो सकता है परन्तु तज्जनित गौरव एवं कल्याणकारी सम्पत्ति से विधि भी उसे वञ्चित नहीं कर सकते। दूसरे जब उनकी सन्तान, उत्साह के कारण अपनी शक्ति से अधिक कोई काम कर बैठता है, तो उसके गुरुदेव एवं शक्तिशाली पूर्वज वात्सल्य से प्रेरित होकर उसके पीछे आ बैठते हैं जिसके कारण उसकी साधना सफल हो जाती है।

कालिदास ने शाकुन्तल में कहा भी है :

> सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
> सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
> किंवाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
> तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥—शाकुन्तल ७, ४ ।

बड़े कामों में लगा मनुष्य यदि सफल होता है तो उसका कारण बड़े लोगों का सम्मान-प्रदान है। यदि ऐसा न होता तो भला अरुण में इतनी शक्ति कहाँ थी जो वह अन्धकार को दूर कर सकता, यदि सूर्य उसे आगे-आगे न कर देता और पीछे से उसे शक्ति प्रदान न करता रहता।

> न कुछ हम हँस के सीखे हैं, न कुछ हम रो के सीखे हैं।
> जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, बस उनके हो के सीखे हैं ॥ —ज़फ़र ।

यद्यपि मैं साहित्य प्रेमी था और मैंने काव्य और नाटकों का यथाशक्ति अध्ययन भी किया था, परन्तु जानकीहरण से अनभिज्ञ था। केवल उसका नाम मात्र सुना था। जब मैंने राजशेखर की काव्य-मीमांसा में यह श्लोक पढ़ा :

> जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
> कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥

तो, इस सुन्दर श्लेषयुक्त श्लोक को पढ़ कर मेरा जी फड़क उठा, और मैंने निश्चय किया कि इस काव्य को मैं अवश्य पढ़ूँगा। परन्तु पुस्तक सरलता से उपलब्ध न थी, यद्यपि बाद में पता चला कि प्रयाग विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय में वह थी। मैंने उतावली में बम्बई से नन्दरगिकर द्वारा सम्पादित, एक प्रति तुरन्त मँगवा ली। उसको उलट-पुलट कर देख ही रहा था कि सहसा मेरी दृष्टि इस श्लोक पर पड़ी—

> विरामः शर्वर्या हिमरुचिरवाप्तोऽस्तशिखरं,
> किमद्यापि स्वापस्तव मुकुलिताम्भोरुह दृशः ।
> इतीवार्यं भानुः प्रमदवनपर्यंतसरसीं,
> करेणाताम्रेण प्रहरति विबोधाय तरुणः ॥—जानकीहरण ३, ७८ ।

श्लोक सरल था। बिना किसी प्रयास के हृदय में घर कर गया। प्रभात का वर्णन है। सरसी अलसाई हुई प्रमद वन तक फैली हुई है। उसके कमल रूपी नेत्र मुंदे हैं। इतने में तरुण सूर्य का उदय हो रहा है। वह अपने आताम्र करों (श्लेष: हाथ–रश्मि) से सरसी को थपकियाँ देता हुआ यह कह कर जगा रहा है कि 'रात बीत गई, शीत-रश्मि चन्द्र अस्ताचल पर चले गये। अरी मुकुलित-कमल-नयने ! तू अभी तक सो रही है। जल्दी उठ।' सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में सूर्योदय-वर्णन के श्लोकों में यह एक अनुपम रत्न है। इस श्लोक को पढ़ कर जानकीहरण की ओर मेरा आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। फिर तो मैंने दसों सर्गों का कोना-कोना छान डाला। उनमें मुझे

बहुत पूछ-ताछ के बाद पता चला कि यह महाकाव्य बीस ही सर्गों में समाप्त हो गया है। मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डाक्टर वी० राघवन् ने लिखा कि "जानकीहरण बीस सर्ग में ही पूरा हो गया है, २५ में नहीं।" एक दूसरे पत्र में उन्होंने यह भी लिखा कि—
"In the discussions about the colophon in the Calcutta edition you might have noted that it has been pointed out that there is another reading इति पञ्चदशः सर्गः। 20th canto gives a perfect conclusion to the whole theme of the Kavya and there is hardly any matter left forf urther cantos. Beyond this colophon reproduced in the Calcutta Edn. from Dharmarama and his Sanna there is no such thing as an expression mentioning the work going up to 25 cantos."

कलकत्ते से सम्पादित प्रति में 'कोलोफन' के सम्बन्ध में जो चर्चा की गई है उसमें आपने देखा होगा, कि यह बतलाया गया है कि उसमें 'इति पञ्चदशः सर्गः' ऐसा एक दूसरा पाठ भेद है: २०वें सर्ग मे कथा की पूर्ण रूप से समाप्ति होती है और आगे के सर्गों में कहने के लिये कुछ बच नहीं रहता। इस 'कोलोफन' के अतिरिक्त जो धर्माराम और उनके सन्न से उद्धृत किया गया है, काव्य के २५ सर्ग तक जाने का कोई संकेत नहीं है।"

बीसवें सर्ग के अन्तिम तीन श्लोकों में राम के राज्याभिषेक का वर्णन है जिससे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि कथा समाप्त हो गई।

अब केवल दो बातें बच रहीं। पं० हरिदास शास्त्री के कलकत्ता वाले सन् १८९३ के संस्करण में एक से लेकर चौदह सर्ग और १५वें सर्ग के आरम्भ के २२ श्लोक हैं। इसके आगे के श्लोक कहां हैं ? दूसरी बात यह कि महाकाव्य २० सर्गों में समाप्त होता है तो इसके अन्तिम पांच सर्ग कहां हैं और कैसे उपलब्ध हो सकते हैं ?

मुल्ला की दौड़ मसजिद तक। स्वजन श्रीकृष्णदास के सुझाव पर मैंने तुरन्त अपने आदरणीय मित्र डा० महादेव साहा को कलकत्ते पत्र लिखा। उन्होंने बताया कि "जानकीहरण की एक पोथी Govt. Oriental Mss. Library (Madras) और दूसरी School of Oriental & African Study, Finsbury Circus, London E. C. 2. में है। दूसरी के बारे में Bulletin of School of Oriental Studies, Vol. IV pp. 285-293 पर L. D. Barnett का एक लेख है। इसमें सोलहवें सर्ग से रोमन लिपि मे ८३ श्लोक दिये गये है।" जिस सक्रियता के साथ डा० महादेव साहा ने मेरी सहायता की उसका आभार प्रकट करना उनकी सहायता की अवहेलना होगी। ऐसा लगता था जैसे उन्हें 'जानकी-हरण' की चिंता मुझ से और रावण दोनों से अधिक हो।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

बार्नेट के दिये हुए सोलहवें सर्ग के ८३ श्लोकों की प्रतिलिपि करा ली। जानकीहरण के इस सोलहवें सर्ग पर मैं मुग्ध हो गया। इसमें लंका मे सन्ध्या और रावण के रात्रि-केलि का वर्णन है। पुष्पिताग्रा छन्द में होने के कारण श्लोकों का गति-सौंदर्य इतना आकर्षक है कि उसके अधिकांश श्लोक मुझे कण्ठस्थ हो गये।

अब प्रश्न केवल तीन सर्गों (१७–२०) और १५वें के २२वें श्लोक के बाद के श्लोकों का रह गया।

डाक्टर राघवन् ने लिखा :

"The Madras mss. containing 20 cantos do have the verses of canto 15 beyond verse 22 where Calcutta edition stops......Sri C. R. Swaminathan has edited as a research scholar working under me, the unpublished cantos of Kumardasa's Janakiharana for his M. Litt. degree. The edition which has a critical introduction and a translation has been accepted for publicaton by the University."

मद्रास की हस्तलिखित प्रति, जिसमें २० सर्ग हैं उसमें १५वें सर्ग के २२वें श्लोक के, जहाँ कलकत्ते से सम्पादित प्रति रुक जाती है, आगे के श्लोक हैं।...श्री सी० आर० स्वामीनाथन ने, मेरी देख-रेख में शोधकार्य करते हुए, एम. लिट. डिग्री के लिये, कुमारदास के जानकीहरण के उन सर्गों का सम्पादन किया है, जिनका अभी तक सम्पादन नही हुआ था। उसमें विवेचनात्मक भूमिका और अनुवाद भी है जो प्रकाशनार्थ विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो चुका है।

डाक्टर राघवन् ने १५वें सर्ग के २२वें श्लोक के आगे के श्लोकों की एक प्रतिलिपि भी मेरे पास भेज दी। उसका आभार 'न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा। स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते'।

एक शब्द श्री स्वामीनाथन जी के लिये। मैंने उनका शोधकार्य बड़े ध्यान से पढ़ा है। उनकी लगन एवं विद्वता सराहनीय है। उन्हें केवल इतना ही आशीर्वाद दूँगा कि :

'वितरतु त्वयि भद्रं भूयसे मंगलाय !'

अब संक्षेप में जानकीहरण के परिचय और उसके रचयिता कवि कुमारदास के जीवन-वृत्त सम्बन्ध में निवेदन करना चाहता हूँ—

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चे-
न्निर्यान्ती मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान्कौतुकं दृश्यमस्याः॥

—नैषधीय चरिते, १४-९०।

"जो साधक मुझ सुन्दर हंसवाहिनी, मन्त्रमूर्ति को सुकोमल एवं मनोहर पुष्प, गन्ध, धूपादि षोडशोपचार से, मेरे में चित्त लगाकर, मुझे ही भक्ति के साथ जपता है, वह वर्ष के बीतने पर यदि किसी भी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख दे तो वह सहसा ललित श्लोकों की रचना करने लगेगा। इसका चमत्कार देखने योग्य है।"

जानकीहरण महाकाव्य का 'उद्धार' एक अनूठी ऐतिहासिक घटना है। यदि साहित्यिक ढंग से कहा जाय तो वह 'उद्धार' कुछ इस प्रकार होगा :

समुद्र की जलराशि में निमग्न सूर्य के उदय का वर्णन है—

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेश उत्तार्यतेऽर्कः ॥

समुद्र के भीतर से सूर्य निकलना ही चाहता है। उसकी रश्मियाँ बाहर निकली हैं। चारो ओर पक्षिगण चहचहा रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे दिगाङ्गनायें, कोलाहल करती हुई, मोटी मोटी रस्सियों से, सूर्य को, डूबे हुए कलश की भाँति बाहर निकाल रही हैं।

कुछ इसी प्रकार बड़ी खोज और लगन से विद्वानों ने जानकीहरण को अन्धकार के गर्त से बाहर निकाला। पर यह कलश छिन्न-भिन्न हो चुका था और उसके टुकड़े इतस्ततः समय समय पर मिले। विद्वानों ने बड़ी सावधानी से उन टुकड़ों को जोड़ कर एक कलश तैयार किया। फिर भी वह अपूर्ण ही रहा। अब पहिली बार सम्पूर्ण कलश (महाकाव्य) रंग-चुंग कर आपके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

श्री एफ़० डब्ल्यू० टामस, जिन्होंने जानकीहरण के सम्बन्ध में बड़ी छान-बीन की है, लिखते हैं :

"इस काव्य को, बहुत थोड़े लोग जानते हैं। इसका इतिहास विलक्षण है। इसकी कोई भी हस्तलिखित प्रति अभी तक नहीं मिली है। भारत में इसके अस्तित्व के चिह्न केवल इतने हैं कि उसके कुछ श्लोक संस्कृत के दो कविता संग्रहों में पाये जाते हैं। एक तो **'शार्ङ्गधर पद्धति'** और **'सुभाषितावली'** में और दूसरे क्षेमेन्द्र के **'औचित्य विचार चर्चा'** में। और इस काव्य के प्रणेता का नाम राजशेखर के एक प्रख्यात श्लोक में कालिदास के साथ लिया गया है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः।

सिंहलीय वाङ्मय ने इस काव्य के पहिले चौदह सर्ग और पन्द्रहवें सर्ग के अंश का सन्न (सिंहली में शब्दशः अनुवाद) सुरक्षित रखा है जिसमें श्लोकों के प्रत्येक शब्द की टीका दी गई है, जिससे शब्दों को यथास्थान बैठा कर एक ग्रंथ तैयार किया गया है जो मूल ग्रन्थ से अधिक भिन्न नहीं हो सकता। इसके पुनर्निर्माण का प्रथम प्रयास एक सिंहलीय पण्डित ने जेम्स डी अलविस के लिये किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक **"सीलोन के संस्कृत पालि एवं सिंहलीय साहित्यिक ग्रंथों की वर्णनात्मक सूची"** में पृष्ठ १९१-१९२ पर उदाहरणार्थ, ऐसे दस श्लोकों को दिया है जो प्रकाश में आए हैं। परन्तु जितने भी सर्ग बचे हुए हैं उनके उद्धार के लिये, हम के० धर्माराम स्थविर के आभारी हैं। सन् १८९१ में इस विद्वान् ने सीलोन के पेलियगोड में सन्न संयुक्त मूल ग्रंथ का अपनी उत्कृष्ट भूमिका सहित प्रकाशन किया है। यह कृति आद्योपान्त सिंहलीय लिपि में है।

सन् १८९३ में एक संस्करण कलकत्ते से नागरी लिपि में छपा जिसका संकलन, थोड़ी-थोड़ी टिप्पणियों के साथ जयपुर राज्य के शिक्षा विभाग के भूतपूर्व संचालक, स्वर्गीय पण्डित हरिदास शास्त्री, एम० ए०, ने किया। इसे उनके निधन के बाद, जयपुर के संस्कृत कालेज के अध्यक्ष, श्री कालीपद बन्दोपाध्याय ने प्रकाशित किया। इसकी (जो स्वतंत्र पुनर्निर्माण का मूल्य नहीं रखता) समालोचना प्रोफ़ेसर राइस डेविड्स ने १८८४ के इस जनरल में, पृष्ठ ६२३-२४ पर की है। धर्माराम के संस्करण का उल्लेख **'ओरियंटलिस्ट'** के जिल्द ४, पृष्ठ ७८ पर है और प्रोफ़ेसर ल्यू मैन ने **'वियना**

ओरियंटल जर्नल', जिल्द ७, १८९३, पृष्ठ २२६–२३२, पर इस काव्य की मीमांसा करने में उसका उपयोग किया है।"

मैंने प्रस्तुत अनुवाद के लिये निम्न स्थानों से मूल पाठ लिये हैं :

(१) सर्ग १ से १० सर्ग तक—श्री गोपाल रघुनाथ नन्दरगिकर के संस्करण से जिसे उन्होंने **जानकीहरण** की चार हस्तलिखित प्रतियों तथा एक खंडित प्रति से संशुद्ध कर १९०७ में प्रकाशित किया था।

(२) सर्ग ११ से १५वें सर्ग के २२वें श्लोक तक पं० हरिदास शास्त्री द्वारा सम्पादित **'जानकीहरण'** से।

(३) १५वें सर्ग के २३वें श्लोक से उस सर्ग के अन्त तक, जिसे डाक्टर वी० राघवन ने मद्रास की हस्तलिखित पोथी से प्रतिलिप करा कर भेजी।

(४) सर्ग १६ से २० सर्ग तक श्री सी० आर० स्वामीनाथन की 'थीसिस' से।

उपर्युक्त चारों ही विद्वानों ने बड़ी लगन और परिश्रम से **जानकीहरण** के बिखरे हुए अंशों को जोड़ बटोर कर खड़ा कर दिया है। यह मुझ जैसे अल्पज्ञ एवं बहुधंधी व्यक्ति के बूते की बात न थी।

कुमारदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विद्वानों ने बड़ी छान-बीन की है। परन्तु वे किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सके। कुमारदास के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनके आधार पर लोग उन्हें कालिदास का समकालीन कह देते हैं। जनश्रुति का महत्व सीमित होता है। उनकी नींव पर ऐतिहासिक प्रासाद का निर्माण करना भूल होगी। उसके लिये अधिक ठोस नींव की आवश्यकता होती है। इन जनश्रुतियों के अनुसार कुमारदास सिंहल के नरेश और कालिदास के मित्र थे। सिंहल नरेश कवि भी थे। वे एक गणिका के यहाँ आया जाता करते थे। एक दिन उन्होंने उसके सोने के कमरे की दीवार पर यह लिख दिया :

कमलात् कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते।

'कमल में कमल की उत्पत्ति होती है, ऐसा सुना तो गया है, परन्तु किसी ने देखा नहीं।'

कुमारदास ने गणिका से यह भी कहा कि जो कोई भी इसकी पूर्ति कर देगा उसको बहुत साधन इनाम में दूँगा। संयोगवश कालिदास भी उसी गणिका के यहाँ गये थे। उन्होंने उसकी पूर्ति इस प्रकार कर दी—

बाले तव मुखाम्भोजे दृष्टमिन्दीवरद्वयम्॥

'हे बाले! तुम्हारे मुख कमल पर मैंने दो इन्दीवर (आँखें) देखे हैं।'

गणिका ने कालिदास का वध कर दिया और राजा से यह कह कर कि वह उसकी पूर्ति की हुई है, इनाम माँगा। राजा को जब सही बात मालूम हो गई तब उन्होंने उस गणिका को तो प्राण-दण्ड दिया ही, स्वयं अपनी रानियों के साथ कालिदास की चिता पर जल गये। यह कथा अनेक परिवर्तित रूपों में प्रचलित है। यह सुनने ही में इतनी असामान्य है कि इसको कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।

इस गुत्थी को सुलझाने के लिये अन्य साधनों का आश्रय लेना होगा। सर्वप्रथम इस महाकाव्य के अन्त में चार पुष्पिकायें हैं जिनमें कवि के सम्बन्ध में बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। एक इस प्रकार है :

नित्यं सदगुणभवितरिन्द्रियदमश्रीसंयतः संयतः
शस्त्रद्योतित मूर्ध्निमुक्तहृदयोऽभीसंगतः संगतः ।
विद्वानस्य कवेः पितार्यहृदयं धीमानितो मानितः
लंकेश्वर्यभुजा कुमारमणिरित्यासन्नयः सन्नयः ॥

दूसरी पुष्पिका इस प्रकार है :

ये नारिप्रकृति निराकृतवता सम्मानितो मानितः
यस्य स्वांगमभिघ्नतो रिपुभृशं नाशेऽमितः शेमितः ।
श्रीमेघोऽस्य कवेरसौ किल बृहद्वामातुलो मातुलः
वृष्टस्त्रासजडं द्विषामधिगतत्रासेनया सेनया ॥

तीसरी पुष्पिका इस प्रकार है :

श्रीमानेकः शरण्यः परिभवविवशाया जनानां जनानां
रूपेणानुप्रयातो विषमति सुभगं रञ्जयन्तं जयन्तम् ।
भ्राता तन्मातुरन्यः शशिधवलयशः कारणानां रणानां
कर्तापुत्रोऽग्रबोधिर्जनशिरसि लसद् भासुराज्ञः सुराज्ञः ॥

चौथी पुष्पिका इस प्रकार है :

आदायैनं दशायां स्थितमपि तदहस्स्तनाय्यां स्तनाय्यां
तुष्टे तस्मिन् मतानामरिहतपितृके पारयन्तौ रयन्तौ ।
आत्मापत्याविशेषं पुपुषतुरहतप्रेम वान्तौ भवान्तौ
यस्तानाप्यमास्स काव्यं व्यरचयदसुरद्विण्महार्यं महार्यम् ।

इन चारों पुष्पिकाओं में से किसी में भी कवि का नाम नहीं है। इनके केवल इतना ही पता चलता है कि—

पहिली पुष्पिका :—कवि के पिता का नाम मानित था, वे बड़े विद्वान् और वीर योद्धा थे और लंकाधिपति कुमारमणि के सेनानी थे ।

दूसरी पुष्पिका :—कवि के एक मामा का नाम मेघ था और वे बड़े शूरवीर थे ।

तीसरी पुष्पिका :—कवि के एक दूसरे मामा का नाम अग्रबोधि था। वे भी बड़े शूरवीर थे ।

चौथी पुष्पिका :—इन दोनों ही मामाओं ने दुधमुँहे कवि को पैदा होने के समय से ही लाड़-प्यार से अपने पुत्र की भाँति पाला क्योंकि कवि के पिता लड़ाई में मारे गये थे और कवि जन्म से ही व्याधि-ग्रस्त थे। जब कवि बड़े हुए तो उन्होंने अपने मामाओं की सहायता से इस काव्य की रचना की जिसमें राक्षसों के शत्रु (राम) का यशगान है ।

इन पुष्पिकाओं से स्पष्ट है कि कवि कुमारदास लंकाधिपति नहीं थे, बल्कि लंका के राजा कुमारमणि के आश्रित एक वीर एवं विद्यानुरागी वंश में पैदा हुए थे । व्याधि-ग्रस्त होने के कारण रणक्षेत्र में न जाकर वे साहित्य-क्षेत्र में रम गये।

राजशेखर का कहना है कि कुमारदास जन्मान्ध थे :

"अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव ।
यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धा कवयः श्रूयन्ते ।"
—राजशेखर, काव्य मीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः, पदवाक्य विवेकः ।

अर्थात् जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके लिये प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से मालूम होते हैं। (इसके विपरीत) प्रतिभावान् व्यक्ति के लिये अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं। जैसे मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि कवि जन्म से अन्धे थे, ऐसा सुना जाता है।

'श्रूयन्ते' से यह ध्वनि निकलती है कि कुमारदास, राजशेखर से बहुत पहिले के हैं; राजशेखर का समय है ९०० ई०।

जानकीहरण के श्लोक अनेक ग्रन्थों मे, जिनका निर्माण काल प्रायः निश्चित है, उद्धृत किये गये हैं। इससे भी कुमारदास के समय-निर्धारण मे सहायता मिलेगी। इस अनुक्रम को हम ऊपर से लिखते हैं:

ग्रन्थ नाम	प्रणेता	समय
पदचन्द्रिका	राय मुकुटमणि	१४३० ई०
शार्ङ्गधर पद्धति		१३६३ ई०
सूक्ति मुक्तावली	जल्हण	१२५८ ई०
सदुक्ति कर्णामृत	श्रीधरदास	१२०५ ई०
टीका सर्वस्व	सर्वानन्द	११५९ ई०
सुभाषितावली	वल्लभदेव	टीका सर्वस्व से पहिले की
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र	१०८९–११७३
कामधेनु	सुभूतिचन्द्र	१०१०–१०६२
शृंगारप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज	१०१०–१०५५
काव्य मीमांसा	राजशेखर	९०० ई०
छन्दोचित्ति ज्ञानाश्रयी	माधव वर्मन (द्वितीय)	७०० ई० लगभग

इनके अतिरिक्त कुछ व्याकरण-ग्रंथ भी हैं जिनके सूत्रों मे जानकीहरण मे प्रयुक्त शब्दों का उल्लेख है जैसे **वर्द्धमान के गणरत्न महोदधि** एवं **उज्ज्वल दत्त की उणादि सूत्र वृत्ति**।

इसके अनुसार एक प्रकार से यह तो निश्चित है कि कुमारदास का समय ७०० ई० से पहले का है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्वान् प्राध्यापक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि कुमारदास के समय का सब से जोरदार प्रमाण **जानकीहरण** के पहिले सर्ग के १७वें से लेकर २०वें श्लोक मे ही मिल जाता है। १७वें श्लोक 'कटाह' पर आधिपत्य, १८वें में 'काञ्ची' का सार्थवाहों के जमघट का केन्द्र होना, १८वें में यवनों के राजा 'यावनेन्द्र' की पराजय और २०वें मे तुर्कों के राजा (तुरुष्क) के पतन का वर्णन है। अब इस पर ध्यान से विचार कीजिये। 'कटाह' तो मलय द्वीप का केडा है। भारतीय इतिहासवेत्ता इसको, आठवी शताब्दी के हरिभद्र सूरि से लेकर सोमदेव के **कथा सरित सागर** तक के ग्रंथों से जानते हैं। **जानकीहरण** के १७वें श्लोक मे 'कटाह' के राजा की पराजय का उल्लेख एक तत्कालीन घटना पर आधारित है, जिसमे एक भारतीय राजा ने कटाह के नृपति को बुरी तरह परास्त किया था। उसके आगे वाले २०वें श्लोक से यह ध्वनि निकलतीहै वह भारतीय राजा जिसने कटाह के नृपति को हराया था, काञ्ची नरेश था।

यहां पर हमें पल्लवों के इतिहास से सहायता मिलती है। पल्लव महेन्द्र वर्मा (६१०–६४०

ई०) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी पल्लव नरसिंह वर्मन प्रथम (६४०–६६८) ई०) जो महामल्ल भी कहलाता था, पल्लव वंश का सबसे अधिक तेजस्वी शासक था। ईसा की सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के मद्रास से २० मील पर समुद्र के किनारे मामल्लपुर नाम का एक क़सबा था। इस क़स्बे पर मामल्ल वंश के राजा राज्य करते थे। नरसिंह वर्मन प्रथम ने, जिसका विरुद महामल्ल था, इस क़सबे की नींव रखी थी। इसी से इसका नाम मामल्लपुरम् पड़ा। विदेशी विद्वानों ने इसके भिन्न-भिन्न नामकरण किये हैं। डा० बेबिंगटन का कहना है शिलालेखों के आधार पर यह महामल्लइपुर कहलाता था। इसके अन्य नाम भी प्रचलित थे जैसे मवलीपुरम्, महावल्लिपुर इत्यादि। पर रेवेरेण्ड डब्ल्यू टेलर ने इसका नाम 'मामल्लपुरम्' निश्चित कर दिया और इसी नाम को प्रायः सब विद्वानोंने मान लिया। पल्लव नरसिंह वर्मन प्रथम के राज्य काल में काञ्ची जगद्विख्यात राजधानी हो गई थी जहाँ अनेक देशों के व्यापारी क्रय-विक्रय के हेतु एकत्र होते थे। (**काञ्चीगुणाकर्षितसर्वलोका** –जानकीहरण, १–१८)। पल्लवों की महत्ता एवं उनका दबदबा अपनी चरम सीमा पर था। उसी समय महामल्ल नरसिंह वर्मन प्रथम, ने महावंश के अनुसार लगातार दो आक्रमण लंका को जीतने के लिये किए और सम्भवतः इण्डोनीसिया के द्वीपों पर भी आक्रमण किया (देखिये—'**एक्सपेन्शन आव पल्लव रूल इन फ़ारदर इण्डिया,**' पृष्ठ ५)। यदि इसे आधार मान लिया जाय–और मेरी समझ में इसे न मानने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता, तो कुमारदास के समय को निश्चित करने के लिये एक दृढ़ आधार मिल जाता है।

काव्य के पहिले सर्ग के १९वें श्लोक में जो यावनेन्द्र आया है वह इतना स्पष्ट नहीं है। मेरी समझ में इस घटना का रहस्य दण्डिन के **दशकुमार चरित** के आख्यान में प्रतिबिम्बित है जिसमें वे बंगाल की खाड़ी में जल सेनाध्यक्ष रमेश की पराजय का वर्णन करते हैं। 'रमेशु' एक सीरियन नाम है।

बहुत सम्भव है कि कुमारदास जिन्हें काञ्ची के हाल-चाल की जानकारी थी, इस घटना को जानते थे। और वहाँ रहने के कारण दण्डिन भी उससे परिचित थे। ऐसा लगता है कि 'तुरुष्क' का तात्पर्य उत्तर-पश्चिम भारत के वीमर तुर्कों से है जिनका वर्णन बाण ने भी **हर्षचरित** में किया है— (उच्छ्वास, ७, पृ० २१४, उत्सा।)

इस आधार पर कुमारदास का समय सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होना चाहिये। इस प्रमाण पर आधारित कुमारदास के समय का विरोध न तो **जानकीहरण** की शैली के विकास से होता है—जो भारवि और माघ के बीच की सीढ़ी है और न अग्रबोधि के वंशानुक्रम से जिन्हें कवि का मातुल कहा गया है, और जिस नाम के कई राजकुमार कहे गये हैं।

परन्तु इसके पहिले कि कुमारदास को भारवि और माघ के बीच में निश्चित रूप से रखा जाय, भारवि का समय ठीक तरह से निश्चित होना चाहिये। वह अभी तक सन्दिग्ध है। उनका समय जो अब तक बताया गया है उसकी पुष्टि किसी प्रकार के अभिलेख अथवा अन्य ऐसे आधार पर नहीं हुई जो सर्वमान्य हो।

कुमारदास के समय की ओर इंगित करने वाला एक श्लोक और है और वह जानकीहरण के २०वें सर्ग का ३६वाँ श्लोक है। इसमें *प्रतिनः* का प्रयोग किया गया है। *प्रतिनः* से कवि का तात्पर्य है धीवों की धारा, महाप्रतिन से। जानकीहरण में धीवों की इस मध्यकालीन धारा का प्रयोग संस्कृत साहित्य में सबसे पुराना प्रयोग है। इससे महाप्रत धीवों, तथा कुमारदास के समय-निर्धारण पर **महाप्रत** बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। यह भी छान-बीन का विषय है कि धीवों की इस महाप्रतिन धारा की जानकारी बाणभट्ट को थी या नहीं।

एक बात और विचारणीय है। वह है सूर्यास्त और सूर्योदय का वर्णन। कुमारदास ने सूर्यास्त का वर्णन तो जगह जगह पर विस्तार से किया है, पर सूर्योदय का अत्यन्त अल्प। जैसे तीसरे सर्ग में श्लोक ६३–६८ में सूर्यास्त और ६९–७५ में रात्रि का, ८वें सर्ग मे ५५–९६ तक; १६वें सर्ग मे १–२७ तक बड़ा सुन्दर सूर्यास्त का वर्णन है। सूर्योदय का वर्णन केवल तीसरे सर्ग के २५वें श्लोक में है, यद्यपि यह श्लोक संस्कृत साहित्य का अनमोल रत्न है। बाणभट्ट ने भी **हर्षचरित** मे सूर्यास्त का वर्णन विस्तार से चार स्थानों में किया है। इन दोनों कवियों मे सूर्यास्त का पक्षपात समय-साम्य की ओर निर्देश करता हो तो कोई आश्चर्य नही।

इन सब बातों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से ये निष्कर्ष निकलते हैं :

१. कुमारदास की जन्मभूमि सिंहल द्वीप थी।

२. यह सिंहल के राजा नही थे।

३. सिंहल के इतिहास में यदि किसी राजा का नाम कवि के नाम से मिलता-जुलता था तो वह कुमार धातुसेन का था। परन्तु वे कुमारदास से पृथक व्यक्ति थे।

४. कवि के पिता का नाम मानित और दो मामाओं का नाम मेघ और अग्रबोधि था और दोनों ही शूरवीर और संस्कृत-प्रणयी थे। इन्ही की सहायता से कुमारदास ने **जानकीहरण** की रचना की।

५. कुमारदास का समय सातवीं शताब्दी का पूवार्ध लगभग ६२० ई० के है।

तो, यह है कि कवि कुमारदास का संक्षिप्त जीवन-वृत्त।

इस प्रकार कुमारदास कृत सम्पूर्ण जानकीहरण मुझे उपलब्ध हो गया। मैंने इसकी चर्चा अपने परम आदरणीय मित्र श्री श्रीकृष्णदास जी से की। दास जी की प्रतिभा चौमुखी है। उनका हृदय साहित्य से ओतप्रोत है। वे **जानकीहरण** के स्फुट श्लोक मुख से सुनकर पहिले ही प्रभावित हो चुके थे। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद करूँ। मैंने बिना सोचे समझे स्वीकार कर लिया। यदि मैंने **जानकीहरण** के निम्नलिखित श्लोक को पढ़ लिया होता तो संस्कृत की इतनी कम पूँजी होते हुए, पचहत्तर वर्ष की उम्र में, इस काम में हाथ न लगाता—

> वार्धक्ये धर्मतो मूढः स्वदेहवहनेऽपि सः ।
> विधित्सन्नप्यशक्तिष्ठस्तपः कीदृग् विधास्यति ॥
>
> —जानकीहरणम्, १०–१९।

लेकिन मुँह बैरी हो चुका था। अनुवाद तो करना ही था। यदि मुझे प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, मेरे आदरणीय मित्र पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, पण्डित रामकुबेर मालवीय एवं पण्डित कमलेशदत्त त्रिपाठी एम० ए०, व्याकरणाचार्य, धर्मशास्त्राचार्य की सहायता न मिली होती, तो क्लिष्ट श्लोकों का अनुवाद मेरे अकेले के बूते की बात न थी। इन तीनों विद्वानों का आभार मैं किन शब्दो में व्यक्त करूँ? इस ग्रंथ का अनुवाद करा लेने का सम्पूर्ण श्रेय श्री श्रीकृष्णदास जी को है। यदि वे मुझे निरन्तर बढ़ावा न देते रहते तो सम्भव था मैं बीच ही में हाथ डाल कर बैठ जाता।

श्री श्रीकृष्णदास जी कविवर स्वर्गीय ठाकुर गोपाल शरण सिंह जी के शब्दों में कहते रहते थे :

> करते जाओ जो करना है–
> आँधी आती है आने दो,

लहरों को भय दिखलाने दो,
हिमखण्डों को टकराने दो,
नाविक ! न रोकना नाव कभी–
सागर के पार उतरना है ।
करते जाओ जो करना है ।

इस तरह अनुवाद पूरा हुआ और प्रेस के लिए पाण्डुलिपि तैयार हुई ।

मैं 'माया' प्रेस एवं मित्र प्रकाशन के स्वामी श्री आलोक मित्र के साहस एवं दूरदर्शिता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता । संस्कृत साहित्य में कितने अनमोल रत्न भरे पड़े हैं, इसकी जानकारी जनसाधारण की कौन कहे, शिक्षित समाज तक को भी थोड़ी ही है । मुझे पता चला है कि श्री आलोक मित्र अन्य महत्वपूर्ण एवं अलभ्य ग्रंथों का भी अनुवाद करा रहे हैं। उनको अनेकानेक साधुवाद।

—अनुवादक

जानकीहरणम् का काव्य-सौष्ठव

श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी

कालिदास के बाद संस्कृत कविता का एक दूसरा युग ही आरम्भ हुआ। उसका कलेवर ही नहीं, उसकी अन्तःप्रकृति में भी परिवर्तन आया। भारवि ने उस युग का आरम्भ किया। कालिदास की रससिद्ध लेखनी का स्थान आलंकारिक चमत्कार और अर्जित वैदुष्य के प्रदर्शन ने ले लिया। संस्कृत महाकाव्यों की रचना मे यह परिवर्तन भारवि से आरम्भ होकर अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होता रहा। माघ, भट्टि, हर्ष आदि समस्त उल्लेखनीय कवियों की रचनापद्धति की एकात्मकता, उनकी रचनाओं में आलंकारिक चमत्कार-सृष्टि, पाण्डित्य-प्रदर्शन और वर्णनों की विवरणात्मकता मे देखी जा सकती है। स्वयं कुमारदास भी इसी युग की उपलब्धि हैं।

राजशेखर ने बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में कुमारदास की काव्य-प्रतिभा का संस्तव किया। वाल्मीकि एवं कालिदास जैसे महान् कवियों ने रामकथा को अपनी कविता का आश्रय बनाया था, फिर उसी कथा का आश्रय लेकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा कर पाने मे सामान्य प्रतिभा का कवि कभी समर्थ नहीं हो सकता था। कुमारदास को काव्य की कथावस्तु ही नही मिली थी, संस्कृत महाकाव्य की सुप्रतिष्ठित परम्परा भी विरासत मे मिली थी। इसके कुछ लाभ थे, तो कुछ कठिनाई भी थी। *एक ओर वाल्मीकि की व्यापक कवि दृष्टि और अद्भुत् सर्जनात्मक प्रतिभा थी,* जिसने समूचे युग का अवतार अपनी रचना में कर दिया, दूसरी ओर कालिदास की कलादृष्टि थी, जिसने स्वयं कविता को सविलास कर दिया; श्रृगार को सज्जित कर दिया। कालिदास कविता के चरमपरिपाकबिन्दु के पर्याय बन गये। फिर भारवि ने महाकाव्य की एक नयी पद्धति का ही सूत्रपात किया। इस सारी परम्परा के भार को सँभालते हुए अपने विशिष्ट और स्वतंत्र व्यक्तित्व की सृष्टि कर पाना ही कठिन बात थी। कुमारदास ने इस स्वरूप को प्राप्त किया।

जानकीहरण की कविता निःसन्देह रघुवंश की अपेक्षा प्रयत्नसृष्ट और कृत्रिम है। किन्तु किरातार्जुनीय के समान ही आलंकारिकता तथा पाण्डित्यभार के प्रति साग्रह हो कर भी बहुधा नवीन, सरस और आकर्षक है। संस्कृत की उत्तरकालीन कविता का उबाऊपन और मौलिकता की कमी यद्यपि भारवि से आरम्भ हुई और सारी परम्परा मे कही-न-कही बनी रही, फिर भी कुमारदास में ऐसे स्थल भरे पड़े हैं, जहां कवि की मौलिक प्रतिभा है और सहृदय के हृदयावर्जन की अद्भुत् क्षमता भी है।

भारवि के काव्यपथ का सजग रूप से अनुगमन करते हुए कुमारदास ने नगर, नायक-नायिका, उद्यानक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, रतोत्सव, पानगोष्ठी, सचिवमंत्रणा, दूतप्रेषण, युद्ध आदि का परम्परानिष्ट वर्णन किया, किन्तु वे हमेशा सावधान रहे कि ये वर्णन अनुचित रूप से लम्बे न हो जांय। इस अंश में कुमारदास कालिदास का अनुगमन अधिक करते हैं। कालिदास ने वर्णन-प्रपंच के लोभ में कथा के सूत्र को कभी विच्छिन्न नहीं किया, उन्होंने वर्णनीय का सूची—सरीखा विवरण कभी नही प्रस्तुत किया, अपितु उनकी सन्तुलित काव्यदृष्टि ने कथा और वर्णन, चरित्रांकन और कलात्मक परिष्कार के सुकुमार सन्तुलन को सर्वथा बनाये रखा। कुमारदास ने प्रायः यह बात ध्यान में रखी है कि वर्णन की विवरणात्मकता और अनपेक्षित विस्तार काव्य के कथावस्तु को तोड़ न दे।

कुमारदास का *कवि व्यक्तित्व कथा के उपस्थापन, काव्यपरम्परा के अनुगमन और* काव्यपद्धति एवं शब्दसंहति के प्रयोग में उतना ही उभरा, जितना वर्णनों मे प्रयुक्त नवीन कल्पनाओं

में। उत्तरवर्ती संस्कृत कवियों ने जीवन के अंकन, जीवनदर्शन के संप्रेषण और कलात्मक सन्तुलन के प्रति अपने को अत्यन्त सावधान नही रखा। उदाहरणार्थ व्यास और वाल्मीकि ने जिस व्यापक पृष्ठ-भूमि में और जैसी अकृत्रिम भंगिमा से अपनी रचनाओं में जीवन की सृष्टि कर दी और एक जीवन-दृष्टि भी प्रदान की; या कालिदास ने जिस तरह जीवन का परिपक्व सौन्दर्य-बोध परिष्कृततम कलापद्धति के माध्यम से व्यक्त किया, संस्कृत के उत्तरकालीन महाकवि से वैसी आशा नहीं की जा सकती । किन्तु उत्तरकालीन कवियों ने वर्णन विधि मे कुछ-न-कुछ नवीन कल्पना जोड़ने की सतत चेष्टा की। इस दृष्टि से कुमारदास के काव्य मे निःसन्देह ऐसे वर्णन स्थल हैं, जो उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हैं। वर्णनों में उन्हें कदाचित् सर्वाधिक सफलता प्रकृति-चित्रण में मिली। संस्कृत के कवि ने अपने को अपने चारो ओर के प्राकृतिक परिवेश से गहराई से जोड़े रखा है। इसलिए उसके लिए प्रकृति जड़ दृश्यावली मात्र नहीं है, वह तो सर्वथा चेतन और उसकी भावनाओं की सहभोक्त्री एवं सहानु-भवित्री है । कुमारदास की दृष्टि भी ऐसी है, किन्तु प्रकृति के प्रति उनकी दृष्टि में एक अनूठी कल्पना-प्रवणता भी है । इसका सुन्दरतम उदाहरण जानकीहरण के षोडश सर्ग में चन्द्रोदय का वर्णन है—

> अरुणकरदृढावकृष्टरश्मि-
>   प्रशमितकन्धरभुग्नचारुघोणाः ।
> दिवसकरहया गिरीन्द्रभित्ते-
>   र्जघनपतद्रथनेमयोऽवतेरुः ॥

अरुण ने (अस्ताचल की ढलान पर) बड़ी दृढ़ता से रास खीची, इससे सूर्य के रथ के घोड़ों के कन्धे झुक गये और सुन्दर नथुने तिरछे हो गये, रथनेमि उनकी जाँघों से सट गयी। इस तरह वे अस्ताचल से उतर गये।

वर्णन की चित्रात्मकता नवीन उत्प्रेक्षाओं और समासोक्तियों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई है। अनूठी कल्पनाओं ने प्रकृति के उपादानों में मानवीय कार्य व्यापारों के मार्मिक दर्शन कराये हैं।

> द्रुतमपसरतेति भानुरस्तं
>   सरसिरुहेषु दलार्गलाः पतन्ति ।
> भ्रमरकुलमिति ब्रुवन्निवालिः
>   क्वणितकलं विचचार दीर्घिकायाम् ॥
> सति दिवसपरिक्षयस्य योगे
>   निपतितसद्वयसस्तमोभिभूताः ।
> विनमितचलमस्तका बभूवुः
>   समुपहता जरसेव वृक्षगुल्माः ॥

'जल्दी निकल भागो, सूर्यास्त हो गया, कमलों पर उनकी पंखुड़ी रूपी अर्गला बन्द हो रही है'—यह चेतावनी भ्रमर-समूह को सुनाता-सा भृंग सरसी पर इधर-उधर चक्कर लगाने लगा।

दिन के अवसान पर वृक्षों के कुंजों ने, जैसे बुढ़ापे के कारण अपने हिलते हुए मस्तकों को झुका दिया और अन्धकार से आक्रान्त उन पर पक्षिगण आ बैठे।

आकाश में चन्द्रमा उठता गया। उसकी अरुणाई धीरे-धीरे कम होती गयी, लगा कि प्राची दिशा ने स्फटिक-चषक की मदिरा धीरे-धीरे पीली हो—

उदयमरुणिमा परित्यजन्त
प्रविसृजतिस्म शशांकमच्छबिम्बम्।
चषकममलमिन्दुविद्मुखेन
स्फटिकमयं मधुनीव पीयमाने॥

कुमारदास को वैसी ही सफलता ऋतुओं के वर्णन में भी मिली है। वसन्त, शरद् और वर्षा के मनोहारी चित्र उन्होंने खींचे है। ऋतुएँ अपनी सारी समृद्धियों में उपस्थित हुई हैं। कदाचित् इसीलिए सुभाषितसंग्रहकारों ने उनके ऐसे श्लोकों को प्रायः संग्रहीत किया है। एकादश सर्ग में वर्षा-वर्णन उनके ऋतु-वर्णनों का सुन्दर प्रतिनिधि है—

भुवनतापनघर्म्मजयोत्सवः
समुचितः परिनृत्यत बर्हिणः।
इति जघान यथा समयस्तडि—
त्कनकदण्डशतैर्घनदुन्दुभिम्॥

'समस्त लोक को सतप्त करने वाले ग्रीष्म पर विजय का उत्सव छाया है, नाचो, मयूरो नाचो।'—मानो यह कहते हुए समय ने बिजलियों रूपी सैकड़ों कनकदण्डों से बादल रूपी नगाड़े बजा दिये।

मुरजनादगभीरमनोहरैः
प्रमुदितेन पयोधरनिःस्वनैः।
उपरिवृष्टिभयादिव तानितः।
प्रचलपिच्छचयो विशदभ्रुवा॥

बादलों के, मृदंग के समान, हृदयहारी गंभीरनाद से आह्लादित, चमकीली भौं वाले मयूरों ने वृष्टि के भय से अपने ऊपर हिलती हुई पूँछ के समूह को तान दिया।

मुहुरुदग्रपयोदमतंगज—
श्रवण चामरभावमुपेतया।
गगनसागरशंखवपुःश्रिया
प्रचरितं प्रमदेन बलाकया॥

मतवाले बगुलों की पाँत, जो सागररूपी आकाश के शंख की भाँति धवल थी और जो बार-बार उमड़ते हाथी के समान, बादलों के कानों के चँवर सी दीखती थी, घूमने लगी।

प्रकृति के मृदु ही नहीं, तीखे रूपों को भी कुमारदास ने देखा है—

जलधिवारि निपीतवतो भृशं
वनमुचो रुधिरस्रवलोहिताः।
अतिभरस्फुटितोदरनिर्गता
बभुरिवान्त्रलता दिवि विद्युतः॥

समुद्र का जल अत्यधिक पी जाने के कारण बोझ से फट गए पेट से बाहर निकल पड़ी, खून बहने से लाल, अंतड़ियों सरीखी बिजलियाँ आकाश में फैल गयीं।

अपनी उत्कृष्ट वर्णन-शक्ति और सन्तुलित दृष्टि के कारण कुमारदास निःसन्देह अत्यन्त महान् कवि होते, यदि उन्होंने चित्रकाव्य का मोह न किया होता। अलंकारों के इस मोह के कारण वास्तविक कविता की सृष्टि में बाधा पड़ी। भारवि ने जिस परम्परा का आरम्भ किया, उसे ही आगे बढ़ाते हुए कुमारदास ने भी एकाक्षर, द्व्यक्षर श्लोकों की रचना की। यमकों के मोह ने कल्पनाप्रवणता पर अंकुश लगाये। पादयमक, आदियमक, आद्यन्तयमक, निरन्तरानुप्रास, द्व्यक्षरानुप्रास, अर्धप्रतिलोम, प्रतिलोम, गोमूत्रिका, मुरजबन्ध, सर्वतोभद्र आदि को प्रस्तुत करने वाले श्लोकों की रचना से अपने पाण्डित्य और अधिकार की धाक जमाने वाले उत्तरकालीन अन्य सभी कवियों की भाँति कुमारदास ने भी ऐसी रचनाएँ की। इस बौद्धिक कलाबाजी और बाजीगरी से एक बार यह विस्मयविस्फारित प्रशंसा-दृष्टि के अधिकारी तो हो सकते हैं, किन्तु यहाँ वे हमें आन्दोलित कर सहज श्रद्धावनति को कहाँ प्राप्त कर पाते हैं? उनकी रससिद्धि और कल्पनाप्रवणता स्वयं विजडित हो जाती है। अपने वर्णनप्रसर, कल्पनाप्रवण और रससिद्ध तथा रूढ़िग्रस्त, अलंकार-विजडित पाण्डित्यजन्य दोनों ही रूपों में उपस्थित हो कर कुमारदास एक ओर कालिदास के अनुवर्तन में श्रद्धा के अधिकारी बनते हैं, तो दूसरी ओर भारवि से भी एक क़दम आगे रख कर हमें विस्मित करते हैं, किन्तु सुकुमार कवि मार्ग से हटने के दोषभागी भी बनते हैं।

कुमारदास ने एक ओर कलात्मक काव्य की ऊँचाइयों को भी छुआ है, पर दूसरी ओर उनकी कविता ने परम्पराओं को भग्न कर या उनसे आगे बढकर अपनी बिलकुल नयी राहें नहीं बनायी। वे निश्चय ही कालिदास की कोटि में नहीं आ सकते, किन्तु उत्तरवर्ती भारवि, माघ और श्रीहर्ष जैसे महान् कवियों के साथ उनकी गणना अपरिहार्य रहेगी।

विषय सूची

सर्ग		पृष्ठ संख्या
प्रथमः सर्गः	राजा दशरथ की कथा	१
द्वितीयः सर्गः	राजा दशरथ की प्रणय-केलि	१८
तृतीयः सर्गः	पुत्रेष्टि यज्ञ	३१
चतुर्थः सर्गः	राम-जन्म और बाल-लीला	४७
पञ्चमः सर्गः	राम द्वारा विश्वामित्र के आश्रम की रक्षा	६०
षष्ठः सर्गः	मिथिला में राम और लक्ष्मण	७१
सप्तमः सर्गः	राम द्वारा धनुष भंग और राम-सीता विवाह	८१
अष्टमः सर्गः	राम-सीता का शृंगार-वर्णन	९२
नवमः सर्गः	राम का अयोध्या आगमन	११०
दशमः सर्गः	राम का वनगमन, सीताहरण	१२२
एकादशः सर्गः	रावण-जटायु युद्ध, ऋष्यमूक पर्वत पर राम का प्रवास	१३८
द्वादशः सर्गः	सीता की खोज के लिए वानरों का अभियान	१५६
त्रयोदशः सर्गः	हनुमान् द्वारा सीता की खोज, लंकादहन	१६७
चतुर्दशः सर्गः	सेतुबन्ध और राम की सेना का लंका-प्रवेश	१७७
पञ्चदशः सर्गः	अंगद-रावण संवाद	१९२
षोडशः सर्गः	रावण की विलास-लीला	२०५
सप्तदशः सर्गः	राम-रावण युद्ध	२१९
अष्टादशः सर्गः	इन्द्रजित-लक्ष्मण युद्ध	२२७
एकोनविंशस्सर्गः	रावण-वध, मन्दोदरी-विलाप, सीता-राम मिलन, सीता की अग्नि-परीक्षा	२४१
विंशतितमस्सर्गः	राम-जानकी-लक्ष्मण का अयोध्या आगमन, राम का राज्याभिषेक	२५३

परिशिष्ट

१. चरित्र कोश	२६९
२. स्थान कोश	२९७
३. धर्माराम स्थविर की भूमिका	३०२
४. टामस की टिप्पणी	३१०
५. बार्नेट की टिप्पणी	३२३
६. बार्नेट द्वारा उद्धृत सोलहवाँ सर्ग	३२६
७. जानकीहरण के कुछ पाठ	३२७
८. राइज डेविड्स की टिप्पणी	३३०
९. जानकीहरण में प्रयुक्त छंद	३३१

१०. सर्गों में प्रयुक्त छंद ३३९
११. छंदों की श्लोक संख्या ३४१
१२. महाकाव्य का विवरण ३४२
१३. यमकों के लक्षण ३४५
१४. यमक एवं शब्द-चित्र ३४७
१५. यमक एवं शब्द चित्र (सारिणी) ३४९
१६. राक्षसों का वंश-वृक्ष ३५७

प्रथमः सर्गः

आसीदवन्यामतिभोगभाराद्दिवोऽवतीर्णा नगरीव दिव्या।
क्षत्रानलस्थानशमी समृद्ध्या पुरामयोध्येति पुरी परार्ध्या ॥१॥

यत्सौधशृङ्गाग्रसरोजरागरत्नप्रभाविच्छुरितः शशाङ्कः।
पौराङ्गना वक्त्रकृतावमानो जगाम रोषादिव लोहितत्वम् ॥२॥

कृत्वापि सर्वस्य मुदं समृद्ध्या हर्षाय नाभूदभिसारिकाणाम्।
निशासु या काञ्चनतोरणस्थरत्नांशुभिर्भिन्नतमिस्रराशि ॥३॥

चीनांशुकैरभ्रलिहामुदग्रशृङ्गाग्रभागोपहितैर्गृहाणाम्।
विटङ्ककोटिस्खलितेन्दुसृष्टनिर्मोकपट्टैरिव या बभासे ॥४॥

दिदृक्षुरन्तःसरसीमलङ्घ्यं यत्खातहंसः समुदीक्ष्य वप्रम्।
सस्मार नूनं दृढक्रौञ्चकुञ्ज-भागच्छिदो भार्गवमार्गणस्य ॥५॥

१. अयोध्या नाम की एक नगरी थी जो अतिशय समृद्धि के कारण नगरों में श्रेष्ठ थी। ऐसा लगता था जैसे यह नगरी स्वर्ग में रही हो और अपनी समृद्धि के बोझ के कारण पृथिवी पर चली आई और जो उस शमी वृक्ष की भांति लगती थी जिसके भीतर क्षत्रिय कुल की अग्नि सन्निहित हो।

२. जहाँ प्रासादों के शिखर पर रखे हुए सुवर्ण कलशों पर खचित मणियों की प्रभा ने चन्द्रमा को यों ही छाप लिया था, वह पौर जनों की सुन्दरी स्त्रियों के मुख-लावण्य से अपमानित हो कर क्रोध के मारे लाल हो गयी।

३. यद्यपि अपनी समृद्धि से उस नगरी ने सब लोगों को प्रसन्न कर दिया था, परन्तु अभि-सारिकाओं को कोई हर्ष नहीं हुआ। क्योंकि रात्रि के समय सुवर्ण के तोरणों पर जड़ी हुई मणियों की प्रभा अन्धकार के समूह को छिन्न-भिन्न कर देती थी।

४. बादलों को छूते हुए नगरी के प्रासाद अतीव शोभायमान हो रहे थे। इन प्रासादों के शृंगों पर चीन के बने हुए शुभ्र वस्त्र से मढ़ी हुई कबूतरों की 'काबुक' (कबूतरों के रहने का बक्स) रखा हुआ था। ऐसा लगता था जैसे इन काबुकों से टकराने के कारण चंद्रमा की ऊपरी खाल उधर कर इन काबुकों में चपक गई हो।

५. नगरी के बाहर (जल से भरी) खाई में तैरते हुए हंस ने भीतर के तालाब को देखने की इच्छा की, परन्तु उसकी चहारदीवारी इतनी सुदृढ़ थी कि वह हंस भीतर न घुस सका। तब उसने परशुराम के बाण का स्मरण किया जिसने 'क्रौञ्च' पर्वत की दृढ़ गुफाओं को काट डाला था।

स्वबिम्बमालोक्य ततं गृहाणामादर्शभित्तौ कृतवन्ध्यघाताः ।
रथ्यासु यस्यां रदिनः प्रमाणश्चक्रुर्मदामोदमरिद्विपानाम् ॥६॥

लग्नैकभागं सितहर्म्यशृङ्गे विकृष्य मन्देन समीरणेन ।
दीर्घीकृतं बालमृणालशुभ्रं करोति यत्र ध्वजकृत्यमभ्रम् ॥७॥

प्रवालशीर्षा वदनं सुवर्णं मुक्तामयाङ्गावयवा वहन्त्यः ।
यस्यां युवत्यो विहिता विधात्रा रत्नैरिवापुर्वपुषः प्रकर्षम् ॥८॥

आलिङ्ग्य तुङ्गं वड़भीविटङ्कं विश्राणितात्मध्वनि पुष्करेषु ।
यत्सौधकान्तेरिव संविभागं वव्रे सितं शारदमभ्रवृन्दम् ॥९॥

आसन्नजीमूतघटासु यस्यां विद्युन्निभाँ काञ्चनपिञ्जरासु ।
मुहुः पताकासु तता विवृत्तिस्ततान तोषं शिखिनामुदग्रम् ॥१०॥

६. घरों के दर्पण की तरह चिकनी दीवारों पर अपना प्रतिबिम्ब देख कर हाथियों ने उन्हें असली हाथी समझ कर उन पर प्रहार किया, पर वह निष्फल रहा। उन प्रतिद्वंदी हाथियों में मद का अभाव देख कर उन्हें निश्चित हो गया कि वे असली नहीं हैं।

७. एक शुभ्र प्रासाद के शृंग के एक भाग पर लगा हुआ ताजे श्वेत कमल के समान सफ़ेद बादल का टुकड़ा मन्द समीर के कारण लम्बायमान हो कर ध्वजा का काम करता था।

८. प्रजापति की बनाई हुई वहाँ की सुन्दरवदना युवतियाँ जिनके सिर सुन्दर केशपाश से सुसज्जित थे और जो पूर्णतया स्वस्थ और नीरोग थीं, उनका शरीर लावण्य-रत्नों के सदृश था।

टिप्पणी—रत्नों से तुलना करने के कारण इस श्लोक में कुछ शब्द ऐसे हैं जो रत्नों पर लागू होते हैं, जैसे 'प्रवालशीर्षा'=प्रवाल मणि से विभूषित। 'वदनं सुवर्णं'=सुवर्ण की तरह चमकता चेहरा। 'मुक्तामयाङ्गावयवा'=जो सम्पूर्ण अंगों पर मोती के आभरण पहिने थी।

९. शरद् ऋतु के बादलों का समूह वहाँ के प्रासादों के सब से ऊँचे कमरों को आलिंगन कर वहाँ पर रखे हुए नगाड़ों को ध्वनित करते हुए उन प्रासादों के सौंदर्य के एक सुसज्जित अंग लगते थे।

१०. जहाँ पास में फैले हुए बादलों के आडम्बर के सन्निकट, बिजली के समान प्रभावान्, निरन्तर फहराते हुए झंडे मयूरों को अतीव आह्लादित करते हैं।

यत्र क्षतोद्बृंहिततामसानि रक्ताश्मनीलोपलतोरणानि ।
क्रोधप्रमोदौ विदधुर्विभाभिर्नारीजनस्य भ्रमतो निशासु ॥११॥

तत्राभवत्पङ्क्तिरथाभिधानो भर्ता भुवो भानुनिभः प्रभावैः ।
क्षत्रान्वयैर्बिभ्रदलङ्घ्यमन्यक्ष्मानाथमानं जयमानमोजः ॥१२॥

अखण्डमानो मनुजेश्वराणां मान्यो गुणज्ञो गुणजैर्मनोज्ञैः ।
दिशो यशोभिः शरदभ्रशुभ्रैश्चकार राजा रजतावदाताः ॥१३॥

जिगीषुरभ्यस्तसमस्तशास्त्रज्ञानोपरुद्धेन्द्रियवाजिवेगः ।
आजावजय्यानजनन्दनोऽन्तः स षड्द्विषः पूर्वमसौ विजिग्ये ॥१४॥

बलिप्रतापापहविक्रमेण त्रैलोक्यदुर्लङ्घ्यसुदर्शनेन ।
नानन्तभोगाश्रयिणाऽपि तेने तेनालसत्वं पुरुषोत्तमेन ॥१५॥

११. जहाँ लाल और श्वेत पत्थरों के बने हुए तोरण कभी अँधेरा और कभी उजाला बिखेरते रहते हैं, तदनुसार रात मे घूमने वाली अभिसारिकाओं के हृदय में वे प्रसन्नता और क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं।

१२. वहाँ पृथ्वी के स्वामी, सूर्य के समान तेजस्वी, जिनका नाम दशरथ था, रहते थे। उनका अपराजित शौर्य ऐसा था कि दूसरे के राज्यों को अपना समझना उनके लिये स्वाभाविक था, क्योंकि उनकी सदा विजय ही होती थी।

१३. निष्कलङ्क चरित्र वाले, राजाओं से सम्मानित, गुणग्राही महाराज दशरथ ने अपने गुणों से उत्पन्न, शरद ऋतु के समान स्वच्छ और सुन्दर यश-बाहुल्य से चारों दिशाओं को चाँदी के समान जगमगा दिया।

१४. दिग्विजय के इच्छुक, अज के पुत्र (महाराज दशरथ) ने समस्त शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न ज्ञान से इन्द्रिय रूपी घोड़ों के वेग का निग्रह कर सब के पहिले अपने भीतर स्थित उन छहों शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) को विजय किया जिनका लड़ाई के मैदान में जीतना असम्भव था।

टिप्पणी—(१) 'अजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ'—भट्टिकाव्य १–२। (२) कृतारि-षड्वर्ग जयेन'—भारवि १–९ (३) "कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृपः।" कामन्दक नीतिशास्त्र—१–५५।

१५. अनन्त सुख भोगते हुए पुरुषों में श्रेष्ठ दशरथ में तनिक भी आलस्य छू नहीं गया था। उनमें कर एवं उपहारों से जनित कष्ट के निवारण करने की शक्ति थी और उनके अस्तित्व की अवहेलना त्रैलोक्य में कोई भी नहीं कर सकता था।

टिप्पणी—इस श्लोक में कुछ शब्दों में श्लेष है जो विष्णु और दशरथ दोनों हो पर लागू होता है, बलि=राजा बलि=कर एवं उपहार। सुदर्शन=चक्र=देखने में सुन्दर। अनन्त भोगाश्रयिणा=अनन्त-सर्पशायी=अनन्त सुख का भोगने वाला।

दण्डस्ततस्तस्य भुवं जिगीषोः कम्पं वितन्वन् विहिताङ्गमर्दः ।
तापैकहेतुस्त्रिदशाधिपस्य दिशं ज्वरस्तीव्र इवाविवेश ॥१६॥

समुद्रमुल्लङ्घ्य गतस्तदीयस्तेजोभिधानो गुरुरग्निराशिः ।
नितान्तसन्तापितपूर्वकाष्ठः प्रोत्स्वेदयामास नृपं कटाहे ॥१७॥

भुजङ्गसंप्रार्थितसेव्यवेला काञ्चीगुणाकर्षित सार्थलोका ।
दिग्दक्षिणा कर्कशयत्नभोग्या वेश्येव भुक्ता नृवरेण तेन ॥१८॥

विनिर्जितोऽप्यस्य शरेण यातं लब्ध्वासुरासुप्रघसायुधस्य ।
आत्मानमन्यैरसमानमानं मेने मनस्वी युधि यावनेन्द्रः ॥१९॥

तेजश्छलेनाथ हुताशनेन श्रीवासरम्यं प्रदहन् तुरुष्कम् ।
धूपैरिवासक्तगतैर्यशोभिराशीयमन्तं सुरभीचकार ॥२०॥

१६. तब दिग्विजय की इच्छा से उनकी सेना विपक्षियों को उत्तप्त करती, उनके शरीरों में कँपकँपी पैदा करती, और उनके अंगों को तोड़ती हुई, ज्वर की भाँति पूर्व दिशा की ओर बढ़ी।

१७. पूर्व दिशा को झुलसाती हुई उनके तेज की अग्निराशि के समुद्र पार करने पर 'कटाह' प्रदेश के राजा को पसीना छूटने लगा।

१८. मनुष्यों में श्रेष्ठ (दशरथ) ने दक्षिण दिशा का वेश्या के समान भोग किया। (वह दक्षिण दिशा) जिससे उन्होंने तलवार के जोर से खिराज वसूल किया, जहाँ काञ्ची नगरी में उसकी विभूति से आकृष्ट होकर सौदागरों का जमाव रहता था और जिसका शासन बड़ा कठिन था।

टिप्पणी—वेश्या के संदर्भ में :—(१) 'भुजंगसम्प्रार्थितसेव्यवेला'=भुजंगैः=विटैः, सम्प्रार्थिता=याचिता, सेव्यवेला=रति समयः यस्या सा=जहाँ कामुक लोग रति-समय के निश्चित करने की प्रार्थना करते थे। (२) "काञ्ची गुणं मेखला दामभिः आकर्षिताः सार्थलोका धनवन्तो यया सा= जिसकी मेखला के सौंदर्य से धनी लोग मंडराते रहते थे" (३) 'कर्कशयत्नभोग्या'=जो बरजोरी भोग करने के योग्य थी।

१९. राक्षसों के प्राणों को बड़ी निर्दयता से नाश करने वाले उनके शस्त्रों से घायल होकर हार जाने पर भी उस मानी यावनेन्द्र ने अपने स्वाभिमान को औरों से बढ़कर समझा।

२०. अपनी तेजरूपी अग्नि से लक्ष्मी सम्पन्न तुर्कों के राजा को जलाते हुए वे आगे बढ़े और उनका यशरूपी सुगंधित धूम पीछे छूटे हुए देशों को सुरभित करता जाता था।

परेषुवात्यापरिवृंहितोऽस्य क्रोधाभिधानो युधि चित्रभानुः ।
आताम्रनेत्रच्युतवारिवर्षैरानायि शान्तिं रिपुकामिनीनाम् ॥२१॥

तस्यैकबाणाशनभग्नशत्रोरालोकभूमौ चरणारविन्दे ।
आसेदतुः सर्वनरेन्द्रमौलिरत्नप्रभालक्तकमण्डनानि ॥२२॥

लोकस्तदीये भुवि हारगौरे कीर्तिप्रताने प्रवृजृम्भमाणे ।
अभिन्नकोशं कुमुदं निरीक्ष्य मुमोचचन्द्रोदय शङ्कितानि ॥२३॥

समस्तसामन्तनृपोत्तमाङ्गान्यध्यास्य तस्योन्नतवृत्तितेजः ।
जज्वाल चूडागतपद्मरागरागच्छटाविस्फुरणच्छलेन ॥२४॥

नरेन्द्र चन्द्रस्य यशोवितानज्योत्स्ना महीमण्डल मण्डनस्य ।
तस्यारिनारी नयनेन्दुकान्तविष्यन्दहेतुर्भुवनं ततान ॥२५॥

माता भवित्री भवतुल्यधाम्न इन्द्रद्विपद्भ्रातृनिषूदनस्य ।
तेनोपयेमे समयं विदित्वा वह्नेः समक्षं विधिवद्विधेया ॥२६॥

२१. दशरथ की क्रोधाग्नि शत्रुओं के बाणों की वर्षा से भभक उठी, परन्तु उन्हीं शत्रुओं की स्त्रियों ने जिनकी आँखें (पतिशोक से) रोते-रोते लाल हो गई थीं, अपने आंसुओं की झड़ी से उस अग्नि को शान्त कर दिया।

२२. केवल एक ही बाण से शत्रुओं को पराजित करने वाले दशरथ के चरणों पर सभा मण्डप में राजसमूह ने सर नवाया। उस समय ऐसा लगता था जैसे उन राजाओं के मुकुट मे जड़े हुए रत्नो की प्रभा ने दशरथ के कमल के समान सुन्दर चरणो को महावर से अलङ्कृत कर दिया हो।

२३. पृथ्वी पर उनके यश की शुभ्र प्रभा फैली हुई देखकर लोगों को यह शंका हुई कि कहीं चन्द्रोदय तो नहीं हो गया। परन्तु यह देखकर कि कुमुद तो अभी नहीं फूला उनकी शङ्का दूर हो गई।

२४. उनका उन्नतिशील तेज समस्त नृप मण्डल के सिर पर व्याप्त होकर उन नृपों के मुकुट के रत्नों की प्रभा से दहकता हुआ लगता था।

२५. सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल के अलङ्कार स्वरूप, राजाओं मे चन्द्रमा के समान, उनके विस्तृत यश की चांदनी के कारण शत्रुओ की स्त्रियों की इन्दुकान्त मणि के सदृश आँखों से पानी बहने लगा।

२६. उचित समय देखकर दशरथ ने विधिवत् अग्नि के सामने एक ऐसी राजकन्या से विवाह किया जो विनयशीला थी और जो इन्द्र के शत्रु (मेघनाद) के भाई (रावण) को मारने वाले एवं ईश्वर के तुल्य तेजस्वी (राम) की माता होगी।

महेन्द्रकल्पस्य महाय देव्याः स्फुरन्मयूखा सरणिर्नखानाम् ।
पादद्वयान्ते जितपद्मकोशे मुक्तेव मुक्ताविततिर्विरेजे ॥२७॥

लीला गतेरत्र निसर्गसिद्धा मत्तो न दन्ती मुषितो न हंसः ।
इतीव जङ्घायुगलं तदीयं चक्रे तुलाकोट्यधिरोहणानि ॥२८॥

दृष्टौ हृतं मन्मथबाणपातैः शक्यं विधातुं न निमील्य चक्षुः ।
ऊरू विधात्रा नु कृतौ कथं तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः ॥२९॥

तथा हृतं तस्य तया पृथुत्वं यथाऽभवन्मध्यमतिक्षयिष्णु ।
इतीव बद्धा रशनागुणेन श्रोणी पुनर्वृद्धिनिषेधहेतोः ॥३०॥

अस्योदरस्य प्रतितुल्यशोभं नास्तीति धात्रा भुवनत्रयेऽपि ।
संख्यानरेखा इव संप्रयुक्तास्तिस्रो विरेजुर्वलयः सुदत्याः ॥३१॥

वयःप्रकर्षादुपचीयमानस्तनद्वयस्योद्वहनश्रमेण ।
अत्यन्तकार्श्यं वनजायताक्ष्या मध्यं जगामेति ममैष तर्कः ॥३२॥

२७. इन्द्र के समान दशरथ की रानी (कौशल्या) के कमल को लजाने वाले दोनों पैरों के अन्त में नखों की पंक्ति से जो प्रभा निकल रही थी वह ऐसी लगती थी जैसे उनके पूजन के हेतु किसी ने बहुत से मोती बिखेर दिये हों।

२८. उसकी (कौशल्या की) दोनों जाँघें जैसे तराजू के किनारों पर लटकती हुई यह सिद्ध कर रही थीं कि वह न तो हाथी और न हंस से चुराई गई हैं, उनकी बल्कि वह चाल स्वाभाविक है।

२९. बुद्धिमान लोग इस चक्कर में थे कि आखिर ब्रह्मा ने इनकी (कौशल्या की) जाँघों को बनाया तो कैसे बनाया। क्योंकि यदि वे आँख खोलकर बनाते तो उनकी आँखें कामदेव के बाण से विद्ध हो जातीं। और, फिर आँख मूँद कर वे बना ही कैसे सकते थे ?

३०. ऐसा लगता था जैसे उनकी (कौशल्या की) अतीव पतली कमर मोटी न होने पावे, इसलिये उसे करधनी से बाँध दिया गया हो।

टिप्पणी—गुण, वृद्धि, निषेध के प्रयोग को देखिये।

३१. उस सुन्दर दाँतों वाली (कौशल्या) के पेट के सौन्दर्य के अनुरूप तीनों भुवनों में कोई भी नहीं है। उनकी त्रिवली ऐसी शोभायमान थी जैसे (प्रत्येक भुवन में ढूंढ़ने पर निराश होकर) ब्रह्मा ने गणना की तीन रेखाएँ बना दी हों।

३२. मेरा तो ऐसा तर्क है कि कमल की पंखुरी के समान दीर्घ नेत्र वाली कौशल्या की कमर यौवन के उत्कर्ष से भरे दोनों स्तनों के भार ढोने के परिश्रम से अत्यन्त पतली हो गई।

टिप्पणी—"आपीन भारोद्वहनप्रयत्नात्"—रघुवंश–२–१८। (कालिदास)

अरालकेश्या अलके विधात्रा विधीयमाने चलतूलिकाग्रात् ।
च्युतस्य बिन्दोरसितस्य मार्गरेखेव रेजे नवरोमराजी ॥३३॥

नायं शशी तत्प्रतितुल्यमन्यद्यस्मान्न विश्लेषयति द्वयं नौ ।
इति स्म तर्कादिव पश्यतस्तौ तस्या मुखेन्दुं कुचचक्रवाकौ ॥३४॥

निर्जिग्यतुर्बालमृणालनालं सच्छिद्रवृत्तं यदि दीर्घसूत्रम् ।
सुश्लिष्टसन्धी शुभविग्रहौ तौ तन्व्या भुजौ किं किल तत्र चित्रम् ॥३५॥

कान्तिप्रकर्षं दशनच्छदेन सन्ध्याघने बद्धपदं हरन्त्याः ।
तस्या गृहोद्यानसरोगतस्य हस्तस्य एवाम्बुरुहस्य रागः ॥३६॥

आसीदयं चन्द्रमसो विशेषस्तद्वक्त्रचन्द्रस्य च भासुरस्य ।
बिभर्ति पूर्वः सकलं कुरङ्गं तस्यैव नेत्रद्वितयं द्वितीयः ॥३७॥

कान्तिश्रिया निर्जितपद्मरागं मनोज्ञगन्धं द्वयमेव शस्तम् ।
नवप्रबुद्धं जलजं जलेषु स्थलेषु तस्या वदनारविन्दम् ॥३८॥

३३. उसकी (कौशल्या की) नाभि के ऊपर नये रोंये की लकीर ऐसी सुन्दर लगती थी जैसे उसके घुंघर वाले बालों के बनाते समय, हाथ कँप जाने के कारण, विधाता की तूलिका के अग्रभाग से एक बूंद कृष्णराग ने पेट पर गिर कर लकीर खींच दी हो ।

टिप्पणी—'भित्वा निराकामदरालकेश्या'—रघुवंश—६–८१ । (कालिदास)

३४. चक्रवाक मिथुन के समान कौशल्या के दोनों उन्नत स्तनो ने उसके मुखचंद्र की ओर देखकर सोचा कि वह चन्द्रमा नही है बल्कि उसी की तरह कोई दूसरी चीज़ है, क्योंकि वह हम दोनों का विछोह नहीं कराती ।

३५. उसके दोनों बाहुओं के प्रत्येक जोड़ सुन्दर और अवयव पुष्ट और कमनीय थे । उन्होंने नये कमल नाल को जो पोपले और तन्तु जाल से भरे थे जीत लिया तो इसमें कौन आश्चर्य है ?

३६. उसके होठो ने संध्याकालीन बादलों की लालिमा छीन ली थी और अन्तःपुर के सरोवर में फूले हुए लाल कमल की अरुणाई उसके हथेलियों में आ गई थी ।

३७. कौशल्या के मुखचन्द्र में और चन्द्रमा में केवल एक ही अन्तर था । चन्द्रमा मे कुरंग के सब अवयव अङ्कित थे ! परन्तु कौशल्या के मुखचन्द्र में उस कुरङ्ग की केवल दो आंखें थीं ।

३८. पृथ्वी पर दो ही वस्तुओं की प्रशंसा की गई है जिन्होंने अपनी कान्ति से माणिक्य को जीत लिया है और जिसमे बड़ी लुभावनी सुगंध है । एक तो जल में सद्यः प्रफुल्लित कमल, दूसरे स्थल पर कौशल्या का मुखारविन्द ।

इन्दीवरस्यान्तरमेतदस्या नेत्रोत्पलस्यापि यतो हिमांशोः।
त्विषोऽपि नैकं सहते मुखाख्यमाक्रम्य तस्थावपरं शशाङ्कम् ॥३६॥

युग्मं भ्रुवोश्चञ्चलजिह्मपक्ष्मसम्पर्कभीत्यासितलोचनायाः।
प्रोन्नम्य दूरोत्सरणं विधित्सुर्मध्ये न तस्थाविति मे वितर्कः ॥३०॥

तत्केशपाशावजितात्मबर्हभारस्य वासः शिखिनो वनेषु।
चक्रे जनस्य स्पृशतीतिशङ्कां चेतस्तिरश्चामपि जातु लज्जाम् ॥४१॥

अन्यापि कन्या जितसिद्धकन्या तादृग्गुणा तस्य बभूव देवी।
दोषोऽपि यस्या भुवनत्रयस्य बभूव रक्षोभयनाशहेतुः ॥४२॥

सुमन्त्रसूतस्य सुमित्रयाग्नौ पाणिग्रहं लम्भितया द्विजेन।
पुण्यं भवान्या भवहस्तसक्तहस्ताम्बुजाया वपुराललम्बे ॥४३॥

तासु प्रजानामधिपः प्रजार्थी देवीसु चारित्रकुलोन्नतासु।
अदृष्टपुत्राननवन्ध्यदृष्टिश्चिन्ताऽऽहृतात्मैव निनाय कालम् ॥३४॥

३६. नील कमल में और कौशल्या की उत्पल के सदृश कजरारी आँखों में इतना ही तो अन्तर था कि नील कमल चन्द्रमा की रश्मियों को नहीं सह सकता, परन्तु कौशल्या के नेत्रोत्पल उसके मुखचन्द्र को छापे हुए थे।

४०. मैं समझता हूँ कि कौशल्या की दोनों भौंहें उसकी कजरारी आँखों की चंचल और कुटिल बरौनियों के सम्पर्क में आने से भयभीत होकर दूर ही दूर रहने की इच्छा से कमान की तरह होकर केवल बीच के सहारे टिकी थीं।

४१. 'ऐसा लगता है कि पशु पक्षियों को भी लज्जा का अनुभव होता है।' यह सन्देह उन्हें तब हुआ जब उन्होंने देखा कि मयूर नगर छोड़ कर वन में रहने लगे क्योंकि कौशल्या के केशकलाप ने उनके पूंछों को सौंदर्य में हरा दिया था।

४२. एक दूसरी राजकन्या (कैकेयी) भी थी जो सिद्धों की कन्याओं से भी अधिक सुन्दरी थी, जो कौशल्या के समान गुणवती थी और जिसके अवगुण ने तीनों लोकों को राक्षसों के भय से मुक्त कर दिया, (ऐसी राजकन्या) दशरथ की रानी हुई।

४३. अग्नि के सामने ब्राह्मण के द्वारा, सुमन्त्र जिसके सारथी हैं ऐसे दशरथ के पाणिग्रहण से सुमित्रा के पवित्र शरीर की ऐसी शोभा हुई जैसे कमल के समान हाथ वाली पार्वती की शोभा शिव के पाणिग्रहण करने पर हुई थी।

४४. अपनी प्रजा के स्वामी, सन्तति की कामना करने वाले, दशरथ की आँखों की ज्योति निष्फल हो गई, क्योंकि चरित्रवान् कुल में उत्पन्न उनकी रानियों के कोई पुत्र न था; और इसी चिन्ता में वे अपना समय काटने लगे।

स्वरक्षितव्यं गहनं हिमस्य नगस्य गोप्ता श्वगणिप्रचारैः।
विशोधितं कुञ्जभुवः कदाचित् तस्मै जगत्याः प्रभवे जगाद ॥४५॥

विधेयचित्तश्चलितव्यधेषु हलायुधाभः स कुतूहलेन।
अन्येद्युरन्यायनिवृत्तवृत्तिर्मृगेन्द्रगामी मृगयां जगाम ॥४६॥

पुत्रीकृतानीश्वरया शिशुत्वे स्नेहेन नप्तॄनिव बालवृक्षान्।
यश्चित्रपुष्पाभरणाभिरम्यानुत्संगदेशेन चिरं बभार ॥४७॥

वातेन कृष्टे पटले घनानां धातुप्रतानाः प्रतरन्ति दृष्टाः।
यस्य त्वचामुद्धरणाभिशङ्कां मुग्धाय गन्धर्ववधूजनाय ॥४८॥

यः कृष्यमाणेषु मृगेषु नागैर्दरीमुखादर्धविनिर्गताङ्गैः।
प्रसारितास्यः स्वयमेव सत्वान् ग्रासीकरोतीव वितत्य जिह्वाम् ॥४९॥

नागाङ्गनारत्नमरीचिजालध्वस्तान्धकारप्रकरस्य यस्य।
निकुञ्जपद्माकरपद्मखण्डैर्विदन्ति रात्रिन्दिवसंविभागम् ॥५०॥

४५. एक दिन जंगल के रक्षक ने आकर जगत् के स्वामी दशरथ से कहा कि हिमाच्छादित पहाड़ की कुञ्जों (शिकारगाहों) को जो उसकी देख-रेख में हैं, कुत्तों को साथ लिये परिचारकों ने घूम घूम कर साफ़ कर दिया है।

४६. दूसरे ही दिन दशरथ, जिनकी कान्ति बलराम के सदृश है, जो अन्याय से सदा विमुख रहते हैं और जिनकी चाल सिंह की तरह है, भागते हुए जानवरों को मारने की ठान कर बड़े कुतूहल से आखेट के लिए चले।

४७. उन छोटे छोटे वृक्षों को हिमालय बहुत दिनों से अपनी गोद में बड़े स्नेह से पौत्र की तरह पाल रहा था। इन वृक्षों को पार्वती ने अपने पुत्र की तरह माना था और वे इस समय रंगबिरंगे पुष्पों से लदे हुए लहलहा रहे थे।

टिप्पणी—'पुत्री कृतोऽसौ वृषभध्वजेन'—रघुवंश २–३६। (कालिदास)

४८. तेज़ हवा के कारण पहाड़ से हिम हट गया और उसकी धातुमयी भूमि दिखलाई पड़ने लगी। इससे भोली भाली गन्धर्व-वधुओं को यह शंका हुई कि कहीं हिमालय की खाल तो नहीं उघड़ गई।

४९. गुफ़ाओं से अपना आधा शरीर निकालकर जब अजगर मृगों को पकड़ कर खींच रहे थे ✓तो ऐसा लगता था जैसे पहाड़ स्वयं अपना मुँह खोल, जीभ लपलपाते हुए जानवरों को ग्रास बनाकर निगल रहा हो।

५०. हिमालय के निकुञ्जों में, नागपत्नियों की मणियों की प्रभा से अन्धकार नष्ट हो जाने के कारण, रात और दिन का विभाजन, इन निकुञ्जों में स्थित तड़ागों में कमलों के फूलने से ही जाना जाता था।

धातुप्रभालोहितपक्षयुग्मः श्रीमद्गुहालंकृतचारुपृष्ठः ।
दिव्यस्य यश्चन्द्रकिणो बिभर्ति रूपश्रियं भासुरचन्द्रकान्तः ॥५१॥

तस्य क्वणन्निर्झररेणुविद्धैर्वातैर्विधूतागरुपादपान्ते ।
अधिज्यधन्वा धनद प्रभावश्चचार मैनाकगुरोर्निकुञ्जे ॥५२॥

तूणीरतस्तूर्णमिषुं विकृष्य संधाय चापे चपलेतरात्मा ।
रङ्गत्तुरङ्गः क्वचिदाशु धन्वी मार्गं मृगाणां पुरतः स्म रुन्धे ॥५३॥

उत्कर्णमुत्पुच्छयमानमासे विदर्शिताभ्याहतकन्दुकोत्थम् ।
पारिप्लवाक्षं मृगशाववृन्दमीषन्निपातेन शरेण राजा ॥५४॥

मध्यं त्वमुतुङ्गबलः करेण मा पीडयस्व प्रसभं ममेति ।
विवक्षुणेवाभिमुखं विकृष्टचापेन नेमे मनुवंशकेतोः ॥५५॥

खमुत्पपातैणवरो नृपेण विद्धोऽपि पूर्वाहितवेगवृत्त्या ।
स्वर्लोकमन्तःकरणस्य यातुः प्रीत्यानुयात्रामिव कर्तुकामः ॥५६॥

५१. वह पर्वत जिसके दोनों ओर के ढलवान धातुओं की प्रभा से लाल मालूम पड़ते थे, जिसके ऊपर का पृष्ठ भाग सुन्दर गुफाओं से अलंकृत और चन्द्रमा की तरह स्वच्छ था, स्कन्द के मयूर के समान शोभायमान हुआ।

५२. तब कुबेर के समान पराक्रमी दशरथ अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढा कर उसको टङ्कारते हुए मैनाक के गुरु (हिमालय) के उन निकुंजों मे घूमते लगे जिनमें झरनों की फुहार से आर्द्र अगरु वृक्ष की फुनगियां हवा मे झूम रही थी।

५३. दौड़ते हुए घोड़े पर धनुष लिये हुए स्थिर बुद्धि दशरथ ने फुरती से तरकश से बाण निकाल, अपने धनुष पर साध कर मृगो के मार्ग को तुरन्त रोक दिया।

५४. जब शिकारियों ने उन्हें एक मृगशावकों के झुंड को जो गेंद फेंकने से कान और पूंछ उठाकर उठ खड़ा हुआ था और जिसकी आँखें पानी में तैरती मालूम पड़ती थी, दिखलाया, तब राजा (दशरथ) ने एक हलका सा तीर फेंक कर उन्हें चौकन्ना कर दिया और वे भाग खड़े हुए।

५५. मनुवंश के यशस्वी राजा दशरथ ने जब अपने चाप को जोर के खींचा तो उसके दोनों सिरे उनके मुख के सामने जैसे यह कहने की इच्छा से झुक गये कि, "तुम अपनी बाहु के प्रचण्ड बल से बरबस मेरी कमर को पीड़ित न करो।"

५६. अपने झुंड का सरदार मृग, ऊँची-ऊँची छलांग मारते हुए जब मनुष्यों में श्रेष्ठ, दशरथ के बाण से बिद्ध हुआ तब उसका प्राण शरीर से निकल कर स्वर्ग की ओर चला। उस समय ऐसा लगता था जैसे मृग का शरीर, जिसमे छलांग लेते ही गति आ चुकी थी, अपने प्राण के मोहवश उसका पीछा कर रहा हो।

अन्योन्यवक्त्रार्पितपल्लवाग्रग्रासं नृवीरस्य कुरङ्गयुग्मम् ।
प्रियानुनीतौ भृशमिष्टचाटुचेष्टस्य घातामिरतिं निरासे ॥५७॥

ऋज्वागता तस्य मुहुर्मृगाणां पङ्क्तिः शरेण ग्रथितेव रेजे ।
मुक्तेन पूर्वस्य मुखे परेषां दृष्टेन सद्यः सममन्तरेषु ॥५८॥

आधावतस्तेन धनुर्धरेण मध्येललाटं महिषस्य मुक्तः ।
अस्कन्नवेगो दृढदेहभेदे लाङ्गूलसारत्वमियाय वाणः ॥५९॥

स द्वीपिनोऽथ द्विपराजगामी हन्तुं तुरङ्गं रचितक्रमस्य ।
जघान देहं प्रतिबिन्दु वाणैरेकेन दुर्लक्ष्यभुजः क्षणेन ॥६०॥

तस्मिन्नृपे पाटयति प्रसह्य शस्त्रेण गण्डं भिषजीव भीमम् ।
तदीयनादप्रतिनिस्वनेन त्रासादिवाद्रिर्भृशमुन्ननाद ॥६१॥

५७. हरिण के जोड़े को एक दूसरे के मुख में घास के कोमल अग्रभाग को प्रेम से देते हुए देखकर, नरों में वीर, दशरथ को, जो स्वभावतः प्रेमियों के अनन्य प्रणय में दत्तचित्त रहते थे, जानवरों को मारने से विरक्ति हो गई।

५८. हरिणों का एक झुंड रह-रहकर एक सीधी पंक्ति में आ जाता था। सबके आगे नेता के मुख में जब दशरथ ने वाण मारा तो वह एक के बाद दूसरे को छेदता हुआ क्षणभर में निकल गया। वह बाण मृगों के बीच-बीच में समान अन्तर पर चमक जाता था। तब ऐसा लगता था जैसे वे सब हरिण एक सूत्र में पिरो दिये गये हों।

५९. धनुर्धारी दशरथ ने, जिनके बाण का वेग अनिवार्य था, दौड़ते जंगली भैंसे के मस्तक के बीचों-बीच एक ऐसा बाण मारा जो कि उस भैंसे के दृढ चमड़े के कटे हुए स्थान पर पूँछ की तरह लगता था।

६०. हाथी के समान मस्त चाल वाले, जिनकी भुजाय बाण चलाने के समय दिखलाई नहीं देती थीं, ऐसे दशरथ ने, उनसे घोड़े पर आक्रमण करने के हेतु छपकन्त तेंदुये के प्रत्येक कृष्णबिन्दु को क्षण भर में बाणों से बेध दिया।

६१. जब राजा दशरथ शल्य-चिकित्सक की भाँति एक भीमकाय गैंडे को शस्त्र से बलपूर्वक दो टुकड़े कर रहे थे उस समय के आर्तनाद की प्रतिध्वनि से ऐसा लगता था जैसे पहाड़ डर के मारे भयानक आर्तनाद कर रहा है।

टिप्पणी—'तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधो गुहानिबद्ध प्रतिशब्द दीर्घम्'
—रघुवंश २—२८। (कालिदास)

युद्धाय यूथादभितो निवृत्तं क्रोडं मुहुः क्रोधविमुक्तनादम् ।
शरस्य लक्ष्यं शरजन्मतुल्यश्चकार चक्रीकृतचापदण्डः ॥६२॥

एवं मृगव्यश्रमसेवितः सन् विश्रामहेतोः स विहाय वाहम् ।
समीरणार्नातितवेतसाग्रं वीरस्सरस्तीरमलञ्चकार ॥६३॥

सुगन्धिसौगन्धिकगन्धहृद्यः सरोऽनिलः सारसनादकर्षी ।
आधूतराजीवरजीवितानैरङ्गं पिशङ्गं नृपतेश्चकार ॥६४॥

अथास्तकूटाहतमुग्ररागं समुल्लसद्दीधितिविस्फुलिङ्गम् ।
स्पृष्टं घनेन क्वचिदास लोहखण्डंवृहत्तप्तमिवार्कविम्वम् ॥६५॥

विम्वं पतङ्गस्य ववन्ध दृष्टिं दृष्टं प्रतीच्यामवनीश्वरेण ।
भित्तौ विनीलत्विपि लम्वमानमेकं यथा काञ्चनतालवृन्तम् ॥६६॥

राजा रजन्यामधिशय्य तस्मिन् शिलातलं शीतलमिन्दुपादैः ।
खेदं विनिन्ये मृदुभिः समीरैरासारसारैर्गिरिनिर्झराणाम् ॥६७॥

६२. एक जंगली सुग्रर मोर्चा लेने के लिये, क्रोध से बार-बार दहाड़ता हुआ अपने झुंड से बाहर निकल आया। तब कार्तिकेय के समान दशरथ ने जिनका धनुष जोर से खींचने के कारण गोलाकार हो गया था, उस सुग्रर को अपने बाण का निशाना बना लिया।

६३. इस प्रकार उस वीर ने आखेट के परिश्रम से थककर, अपने घोड़े को छोड़, आराम करने के लिये एक सरोवर के तट को जिसमें बेंत के पेड़ के अग्रभाग हवा से हिल रहे थे, अलंकृत किया।

६४. सरोवर की हवा जो सुगंधिक (इत्रफ़रोश) की दूकान की सुगन्धि की भाँति हृदय-ग्राहिणी थी और जो सारस की बोली को आकृष्ट कर रही थी, उस वायु ने नील कमल से पराग उड़ाकर राजा के शरीर को पिङ्गल वर्ण कर दिया।

६५. उस समय चमचमाता हुआ सूर्य का विम्ब, अस्ताचल के शृंग से टकराने के कारण रश्मि रूपी चिनगारियाँ छिटकाता हुआ, जो कहीं-कहीं बादलों से छिन्न हो गई थीं, एक दहकते हुए लोहे के बड़े गोले के समान लगता था।

६६. पृथ्वी के स्वामी दशरथ पश्चिम दिशा में सूर्य के विम्ब को देखकर निहारते ही रह गये। यह विम्ब काली दीवार पर लटकते हुए एक सुनहले ताल के पंखे की तरह लगता था।

६७. राजा ने उस झील के किनारे चन्द्र किरणों से शीतल एक पत्थर की चट्टान पर सोकर पहाड़ के झरनों की फुहार से ठंडी, मन्द-मन्द हवा से अपने श्रम को दूर किया।

पत्यौ पृथिव्या मृगयाभिलाषाज्जागर्यया नीतवति त्रियामाम् ।
कापि प्रपेदे मृगलाञ्छनेन त्रासादिवादाय निजं कुरङ्गम् ॥६८॥

आरुह्य शृङ्गं मृगयाविहारे रागी विवस्वानुदयाचलस्य ।
पत्ये पृथिव्या रचयाम्बभूव मृगानिव प्रस्फुरता करेण ॥६९॥

प्रभुः प्रजानामथ स प्रभाते हरिप्रभावो हरिमारुरोह ।
सज्जीकृतं सज्जनगीतकीर्तिर्बद्धायुधो वन्धुरवर्मजालम् ॥७०॥

कश्चिन्मृगं मार्गणगोचरेऽसौ दृष्ट्वा विकृष्टायतचापदण्डः ।
शरं मुमुक्षुः शरभोरुवेगं तमन्वयादन्वयकेतुभूतः ॥७१॥

विलङ्घ्य मार्गं नृपमार्गणानां रेखायमाणो गगने रयेण ।
मृगोत्तमोऽसौ तमसातटस्थं वनं तपस्यद्भुवनं प्रपेदे ॥७२॥

धनुःसहायोऽश्मवति प्रदेशे विहाय वाहं सहसा नृवीरः ।
चचार पद्भ्यां गहने तरूणामसौ घने तत्पददत्तदृष्टिः ॥७३॥

६८. जब पृथ्वीपति (दशरथ) मृगों का आखेट करने के लिये रात को जागते रहे तो चन्द्रमा, जैसे डर के मारे, अपने हिरण को लेकर कहीं चल दिया। (अर्थात् चन्द्रास्त हुआ)।

६९. (जब सूर्योदय हुआ) तब प्रभावान् सूर्य उदयाचल के शृंग पर चढ़कर अपनी प्रस्फुरित किरणों से जैसे शिकार खेलाने के लिये हरिणों को खदेड़ने लगे। (जैसा हाँका वाले करते हैं।)

७०. तब प्रातःकाल इन्द्र के समान प्रभावशाली, प्रजा के स्वामी, जिनका सज्जन लोग यशो-गान करते हैं, जिरहवख्तर पहिन अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर सजे हुए घोड़े पर चढ़े।

टिप्पणी—'अथ प्रजानामधिपप्रभाते'—रघुवंश—२-१०। (कालिदास)

७१. अपने वंश के सिरमौर दशरथ ने अपने निशाने के भीतर आये हुए मृग को देखकर शरभ (एक कल्पित अष्टपाद मृग) के समान तेज बाण को छोड़ने की इच्छा से धनुष को खींचते हुए उसका पीछा किया।

७२. वह मृग श्रेष्ठ इतना द्रुतगामी था कि अपनी चौकड़ी से आकाश में एक लकीर सी खींचता हुआ राजा (दशरथ) के बाण के निशाने से बाहर निकलकर तमसा नदी के तट पर स्थित एक आश्रम में जो तपस्वियों का स्थान था, घुस गया।

७३. तब पुरुषवीर दशरथ (उबड़ खाबड़) पथरीली जमीन देखकर फुर्ती से घोड़े से उतर, केवल धनुष लिये उसके पैर के चिह्नों को देखते हुए, वृक्षों से भरे हुए उस घने वन में पैदल ही चलने लगे।

तटेऽपि तस्या घटपूरणस्य श्रुत्वा रवं बृंहितनादशङ्की।
शरं शरण्योऽपि मुमोच बाले मुनेस्तनूजे मनुवंशकेतुः ॥७४॥

पुत्रो मुनेः पत्रिविभिन्नमर्मा शरानुसारेण नृपं प्रयातम्।
नेत्राम्बुदिग्धेन विलापनाम्ना बाणेन भूयो हृदि तं जघान ॥७५॥

त्वया त्वनाथस्य विचक्षुषः किं भग्नोऽयमालम्बनदण्ड एकः।
वने जरावेशजड़ीकृतस्य गुरुद्वयस्य व्रतजीर्णमूर्तेः ॥७६॥

एकं त्वया साधयताऽपि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च ॥७७॥

वनेषु वासो मृगयूथमध्ये क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः।
वृत्तिश्च वन्यं फलमेषु दोषः संभावितः को मयि घातहेतुः ॥७८॥

७४. मनुवंश के केतु (दशरथ) ने नदी के तट पर घड़ा भरने की गड़गड़ाहट को हाथी की आवाज़ समझ कर, साधुओं को शरण देने वाले होते हुए भी, मुनि के बालक पुत्र पर बाण छोड़ दिया।

टिप्पणी—'वधायवध्यस्य शरं शरण्यः'—रघुवंश—२–३०। (कालिदास)

७५. मुनिपुत्र के मर्म भाग दशरथ के पैनदार बाण से विदीर्ण हो गये। और जब वे प्रयुक्त तीर के मार्ग से उस ओर जाने लगे तब आहत बालक के आंसुओं से सिक्त, विलापरूपी बाण ने उनके हृदय पर आघात किया।

७६. जो अंधे हैं, जिनका चित्त बुढाई के कारण डांवाडोल रहता है और तपस्या करते करते जिनका शरीर जीर्ण हो गया है, ऐसे निस्सहाय, वन में माता पिता के केवल एक अवलम्ब मुझे आपने क्यों भग्न कर दिया ?

७७. आपने एक ही निशाने से तीन निरपराध व्यक्तियों की जान ली। मेरे वृद्ध माता पिता की और मेरी, जिसकी आंखों ही के द्वारा वे इस वन में देखते थे।

टिप्पणी—'एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहिते मयि।
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे।
—अयोध्याकाण्ड—६३–४०। (वाल्मीकि)

७८. मैं मृगों के झुंड के बीच इस वन में रहता हूं। मेरा काम केवल अपने वृद्ध और अन्धे माता पिता का भरण-पोषण है। हमारे भोजन का सहारा केवल ये वन के फल हैं। इनमें क्या दोष था जिससे आपने मेरे विनाश का कारण देखा ?

टिप्पणी—जटाभार धरस्यैव वल्कलाजिनवाससः।
को वधेन ममार्थी स्यात् किं वास्यापकृतं मया ॥
—अयोध्याकाण्ड–६३–२९। (वाल्मीकि)

व्रती विनाथो विगतापराधः स्मर्तव्यदृष्टेः पितुरन्धयष्टिः ।
इत्येषु किं निष्करुणेन कश्चिदवध्यभावे गणितो न हेतुः ॥७९॥

तरुत्वचोऽयं कठिना वसानो वनेषु शीतोष्णनिपीतसारः ।
अस्वादुवन्याशनजीर्णशक्तिः पात्रं कृपायास्तव वध्यभूतः ॥८०॥

जीर्णो जतुन्यासनिरुद्धरन्ध्रः कुम्भश्च मौञ्जी तरुवल्कलश्च ।
एतेषु यन्मां विनिहित्य गम्यं तद्गृह्यतामस्तु भवान्कृतार्थः ॥८१॥

साधुः कृपामन्थर मक्षि शत्रौ प्रीत्यर्थसम्मीलित मादधाति ।
नीचस्तु निष्कारणवैरशीलस्तत्पूर्वं संपादित दर्शनेऽपि ॥८२॥

स्वं हेतवे हेतिवलोपनीतस्मयः किमप्युन्नतवृत्ति कस्मै ।
नीचस्य निष्ठामधिकर्म गच्छन् कुलं कलङ्कैः कलुषीकरोषि ॥८३॥

मैवं भवानेनमदुष्टभावं जुगुप्सतां स्माक्षतसाधुवृत्तम् ।
इतीव वाचो निगृहीतकण्ठैः प्राणैररुध्यन्त महर्षिसूनोः ॥८४॥

७९. मैं एक तपस्वी हूँ, नितान्त निस्सहाय और निर्दोष । मैं ही, स्मृतिमात्रावशेष दृष्टि वाले अन्धे माता पिता की लकड़ी (सहारा) हूँ। आप कितने निर्दयी हैं ! क्या आपने इन सब मे न मारने का कोई कारण नही देखा ?

८०. पेड़ की कड़ी छाल मेरा वसन है । वन में कभी ठंडा कभी गरम पानी पीने को मिलता है । वन में पैदा हुए निस्वाद पत्तो को खाते खाते मैं शक्तिहीन हो गया हूँ । ऐसी परिस्थिति में मैं आपकी दया का पात्र था । पर मैं आप ही के हाथों मारा गया !

८१. एक पुराना घड़ा जिसके छिद्र लाह से बंद किये गये है, पेड़ की छाल का बना वसन और मूंज की मेखला यही मेरी सम्पत्ति है । मुझे मार कर केवल इतना ही आप पा सकते हैं । इन्हे लेकर आप कृतार्थ हों ।

८२. साधु पुरुष, शत्रु को देख कर आनन्द अनुभव करने के हेतु आँख बंद कर लेता है और फिर प्रेम से धीरे-धीरे आँखों को खोलता बन्द करता है । परन्तु नीच, चाहे उसके सर्वप्रथम ही दर्शन क्यो न किये जाँय, अकारण बैर ठानता है ।

८३. अपने शस्त्रों के बल पर फूले हुए, अपने कर्मानुसार नीच कर्म में निष्ठा कर तुम क्यों अपने अनिर्वचनीय ऊँचे कुल को कलङ्क से कलुषित कर रहे हो ?

८४. 'आप ऐसे अविच्छिन्न साधुवृत्ति वाले और जिसमें दुष्टता का नितान्त अभाव है, ऐसे व्यक्ति की निन्दा न करें ! ' ऐसा लगता था कि ऋषिपुत्र के कण्ठ में अटके हुए प्राण ने उपर्युक्त शब्दों से उसकी वाणी को रोक दिया ।

भोज्याः सुतश्चारुभुजद्वयेन घटं गृहीत्वा घटितारिनाशः।
वाष्पायमाणो बहुमानपात्रं यमप्रभावो यमिनां ददर्श ॥८५॥

पापं विधायापि विधातृतुल्ये सत्यापयामास सतां पुरोगः।
ततो यतिं घातयतो न सद्यः क्रोधानलेनास्य ददाह देहम् ॥८६॥

दयानुयातस्तनयस्य नाशं श्रुत्वा महर्षिर्मुहुरात्त शोकः।
दिदेश देशस्तुत सद्गुणाय विशन् वशी विश्वभुजं स शापम् ॥८७॥

वनजकुसुमधारिणीमलङ्घ्यां हरिनखपातविदारितोरुगण्डाम्।
श्रियमिव नृपतिर्मृगव्यभूमिं चिरमनुभूय गृहोन्मुखो बभूव ॥८८॥

अथ स विषमपादगोपितार्थं जगदुपयोगवियुक्त भूरिधातुम्।
बहुतुहिननिपातदोषदुष्टं गिरिमसृजत्कुकवेरिव प्रबन्धम् ॥८९॥

८५. भोजकन्या (इन्दुमती) के पुत्र, यमराज के सदृश बलवान्, शत्रुओं के नाश करने वाले, दशरथ ने, अपनी आँखों में आँसू भरे हुए, अपने दोनों सुन्दर हाथों में घड़ा लेकर उस असीम मान के पात्र और जितेन्द्रिय ऋषि को देखा।

८६. विधाता के समान, साधुओं में अग्रगण्य दशरथ ने पाप कर्म करने पर भी सत्य बात कह दी। अतः तपस्वी के मारने वाले के शरीर को उस ऋषि ने क्रोध से तत्काल भस्म नहीं कर दिया।

८७. दयावान् और जितेन्द्रिय उस महर्षि ने अपने पुत्र का विनाश सुनकर हृदय में बार-बार उभड़ते हुए शोक को वश में कर लिया और दशरथ को, जिनका गुण संसार में गाया जाता था, एक विश्व को निगल जाने वाला भयङ्कर शाप दिया।

८८. उस मृगया भूमि में जो वन्य पुष्पों से लहलहा रही थी और जिसमें हाथियों के विशाल मस्तक को सिंह ने विदार दिया था, राजा (दशरथ) ने लक्ष्मी देवी की भाँति बहुत दिनों आनन्द उठाकर अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

टिप्पणी—लक्ष्मी के सम्बन्ध में—'वनजकुसुमानि'=कमलानि। 'हरि'=विष्णु, 'गण्ड' =ललाट।

८९. तब कुकवि के प्रबन्ध के समान उस पर्वत को, जिसमें मणियाँ पास-पास की दुर्गम पहाड़ियों के कारण पहुँच के बाहर थीं, जिसके धातुओं की उपयोगिता से संसार वञ्चित था और जो बहुत बर्फ पड़ने के कारण त्याज्य थी, उन्होंने छोड़ दिया।

टिप्पणी—कुकवि के सन्दर्भमें—'विषम पाद गोपितार्थं'=न्यूनाधिक अक्षरों के कारण जिसका तात्पर्य समझ में नहीं आता। 'जगदुपयोग वियुक्तभूरिधातुं'=जिनमें धातुओं का प्रयोग, महाकवियों के प्रयोग से भिन्न है। 'तुहिन'='तु' 'हि' 'न' के अधिक प्रयोग से दूषित।

सपदि दिशि निबद्धभूरिघोषं परमविनीतमनोज्ञनागवृन्दम्।
जलधिमिव नृपः पुरं स्वकीयं मणिगणमण्डितकान्तमाससाद ॥६०॥

इति प्रथमः सर्गः

६०. चतुर्दिक व्यापी जयघोष से निनादित, खूब सिखाये हुए हाथियों से परिपूर्ण, ढेर की ढेर मणियों से अलंकृत होने के कारण सुन्दर, समुद्र के समान, अपनी राजधानी में राजा दशरथ अविलम्ब पहुंच गये।

टिप्पणी—समुद्र के संदर्भ में—

'दिशिनिबद्ध भूरिघोष'=जिसकी लहरों का गर्जन चतुर्दिक सुनाई पड़ता था।
'परमविनीत मनोज्ञ नागवृन्द'=दिव्य पक्षियों से लाये हुए सुन्दर सर्प समूह से परिपूर्ण।
'मणिगणकान्त'=विभिन्न प्रकार के रत्नों से विभूषित।

प्रथम सर्ग समाप्त

द्वितीयः सर्गः

रावणेन रणे भग्ना देवा दावाग्नितेजसा ।
द्रष्टुं जगत्पतिं जग्मुः पुरस्कृतपुरन्दराः ॥१॥

निजदेहभराक्रान्तनागनिश्वासरंहसा ।
गतागतपयोराशिं पातालतलमास्थितम् ॥२॥

आसीनं भोगिनि स्रस्तमौलिमाल्यविभूषणम् ।
तत्क्षणत्यक्तनिद्रार्तिबद्धरागायतेक्षणम् ॥३॥

भुजङ्गपृथुकारूढमातङ्गमकराश्रयम् ।
युद्धमम्भोनिधिच्छेदे पश्यन्तं नृपलीलया ॥४॥

भोगिभोगासनक्षोभो माभूदिति सुदूरतः ।
भक्त्यानतशरीरेण सेव्यमानं गरुत्मता ॥५॥

१. युद्ध में दावानल के समान रावण से पराजित होकर देवता लोग इन्द्र को आगे कर जगत के पति (विष्णु) से मिलने गये।

टिप्पणी—तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः ॥

—कुमार सम्भव, २–१ (कालिदास)

२. जो उस समय समुद्र के नीचे स्थित थे, जिस समुद्र में उनके शरीर के बोझ से दबे हुए शेष नाग के उभर कर जोर से साँस लेने से ज्वार भाटा आता था।

३. जो शेषनाग पर बैठे हुए थे, जिनके सर से माला का अलङ्कार सरक गया था और जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें तत्क्षण उठने के आलस्य के कारण लाल थीं।

४. जो राजाओं के स्वाभाविक कौतूहल से समुद्र के एक भाग की ओर देख रहे थे जहाँ बड़े-बड़े सर्पों के बच्चों ने युद्ध में भारी-भारी घड़ियालों के निवास स्थान पर धावा कर घेर लिया था।

५. जिनकी सेवा के लिये भक्ति से सर नीचा किये, गरुड़ दूर पर इसलिये खड़े थे कि उनके आसन में, जो शेषनाग का था, कोई हलचल न हो।

टिप्पणी—१–८ श्लोक 'कुलक' है। पहिले श्लोक के 'जगत्पतिं द्रष्टुं जग्मुः' के साथ अन्वय होगा।
'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥'

अर्करश्मिभयेनेव पातालतलमास्थितम्।
लक्ष्मीमुखतुषारांशौ प्रीत्या व्यापारितेक्षणम् ॥६॥

स्वमुखे संचरद्दृष्टेरङ्कविन्यस्तपार्ष्णिना।
स्पृशन्तं पादपद्मेन पद्मायाः नाभिमण्डलम् ॥७॥

सव्यापसव्यभागस्थपाञ्चजन्यसुदर्शनम्।
तटद्वयस्थचन्द्रार्कविन्ध्यशैलमिवोच्छ्रितम् ॥८॥

पुरुषं पुरुहूताद्या नत्वा गीर्वाणसंहतिः।
सनातनं स्कन्नशक्तिरूचे नुतियुतां गिरम् ॥९॥

समुद्रमथने यस्य भ्रमन्मन्दरखण्डिताः।
तारा इव दिशो वव्रुः प्रदीप्ताङ्गदकोटयः ॥१०॥

येन दुर्वारवीर्येण सागराम्बरचन्द्रमाः।
शङ्कं पातालपालानां यशःपिण्डमिवोद्धृतम् ॥११॥

यमंशद्वयसंसक्तचन्द्रादित्याङ्गदश्रियम्।
नेमुस्त्रिविक्रमे देवास्ताराहाराङ्कवक्षसम् ॥१२॥

६. जैसे सूर्य की उष्ण रश्मियों से डर कर, जो पाताल के निचले भाग में विश्राम कर रहे थे और जो बड़े चाव से लक्ष्मी के चन्द्रमा के समान मुख की ओर निहार रहे थे।

७. उनके मुख की ओर निहारती हुई लक्ष्मी के नाभि मण्डल को उनकी गोद में पड़े हुए अपने कमल के सदृश पैर से जो सहला रहे थे।

८. जिनके उन्नत शरीर के दायें बायें पाञ्चजन्य शंख और सुदर्शन चक्र रखा हुआ ऐसा लगता था जैसे विन्ध्य पर्वत के दोनों तट पर सूर्य और चन्द्र हों।

९. तब क्षीण-शक्ति इन्द्रादिक देवताओं का वह समूह नतमस्तक होकर उस सनातन पुरुष (विष्णु) से प्रशंसायुक्त वाणी बोला।

१०. समुद्र मंथन के समय जिसके चमकते हुए बाजूबन्द के मारे मन्दर पर्वत के चक्कर खाने से टूट कर दिशाओं में तारागण की भाँति बिखर गये।

११. जिन्होंने अपनी दुर्निवार वीरता से समुद्र को मथकर चन्द्रमा को निकाला जो सागर के समान आकाश में, पाताल के रक्षकों के पुञ्जीभूत यश के समान था।

टिप्पणी—समुद्र-मंथन के समय ये चीजें निकली थीं :—लक्ष्मीः कौस्तुभ पारिजातक सुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमा, गावः कामदुघाः सुरेश्वर गजो रम्भादिदेवांगनाः। अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शंखोऽमृतं चाम्बुधे, रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्युः सदा मंगलम् ॥

१२. देवताओं ने त्रिविक्रम (विष्णु) को, जिनके बाहुबन्ध (बाजूबन्द) कन्धों में सन्निकट स्थित, सूर्य और चन्द्र के समान दमक रहे थे, और जिनका वक्ष तारों की बनी हुई माला से मण्डित था, झुक कर प्रणाम किया।

मन्थवातभ्रमन्मेघनक्षत्रादित्यमण्डलम् ।
पुरा निर्मथितं येन व्योमापि सह सिन्धुना ॥१३॥

नाभिपद्मस्पृशौ भीमौ येन मायाशयालुना ।
पाणिभिः पाटितौ कामं कीटवन्मधुकैटभौ ॥१४॥

सर्वं लोकत्रयं यश्च संहृत्य शयनं गतः ।
दृश्यते सलिलस्कन्धः सान्द्रीभूत इवोदधौ ॥१५॥

तस्मै स्मरणमात्रेण तुभ्यं सद्यस्तमोनुदे ।
नमः सत्त्वमधिश्रित्य त्रैलोक्यं परिरक्षते ॥१६॥

स्थितिनिर्माणसंहारभेदयोगेन भेदितः ।
त्रिधा ते समभूद्योगः स्पृष्टसत्त्वरजस्तमाः ॥१७॥

कुक्षौ तव परिभ्रम्य पश्यन्विश्वं विशां पतिः ।
विवेद त्वां विदामग्र्यस्त्रैलोक्यभरसासहिम् ॥१८॥

एवं भक्त्या जगन्नेता नुतो नाकस्य भोक्तृभिः ।
हरिर्हारि हितं वाक्यं जगाद गदनाशनः ॥१९॥

१३. जिन्होंने प्राचीन समय में आकाश को भी जिसमें सूर्य, नक्षत्र मण्डल और मेघ तेजी से घूम रहे थे, मथ डाला था ।
१४. माया में निद्रालु, जिन्होंने पराक्रमी मधु और कैटभ दैत्यों को, इच्छानुसार अपने हाथों से छिन्न-भिन्न कर डाला जब उन राक्षसों ने उनके नाभिकमल को पकड़ने की चेष्टा की ।
१५. तीनों लोको का विनाश कर सो गये थे और उस समय समुद्र में जमे हुए एक बृहदाकार जल खण्ड के सदृश दिखाई पड़ते थे ।
१६. आपको जो केवल स्मरण मात्र से तुरन्त अन्धकार को दूर करते हैं और जो अपने सतोगुण से तीनों लोकों की रक्षा करते हैं, नमस्कार है ।
१७. जीवन, निर्माण और संहार के विभाजन के अनुसार, आपका योग भी, उनके अनुकूल, सत्य, रजस और तमस में विभाजित है ।
१८. आपके उदर में बड़े परिश्रम से रहकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, संसार के स्वामी ने इस विश्व को देखकर समझ लिया कि आप त्रैलोक्य का भार वाहन करने में समर्थ हैं ।
१९. स्वर्ग में रमण करने वाले देवताओं से भक्तिपूर्वक प्रशंसित होकर, कष्ट को निवारण करने वाले, संसार के स्वामी हरि ने उन देवताओं से हित और मनोहर वचन बोले ।

प्रबलारिबलप्राणविक्रियाहेतुहेतयः ।
किन्नु स्कन्नौजसो जाता देवा दैवक्षता इव ॥२०॥

हरेर्घ्यानारुणा शोकक्षामा नेत्रपरम्परा ।
विभर्ति किं परिम्लानरक्तोत्पलवनश्रियम् ॥२१॥

पाशपाणिरसाविष्टविग्रहो वनगोचरः ।
वीरोऽपि वरुणः केन क्षुद्रः पाशीव पीडितः ॥२२॥

किमयं शोकसन्तापैर्मातरिश्वा कृशोऽपि सन् ।
भूरिभिर्निजनिःश्वासैः पुनरेवोपचीयते ॥२३॥

संपदध्रुव परावृत्तिरेवं विधिनिवन्धना ।
शोकविश्वभुजा सोऽयं दह्यते दहनोऽपि सन् ॥२४॥

सम्प्राप्तजडिमा भानुस्तीव्रतापश्च चन्द्रमाः ।
किमेतौ वहतौ देवौ धामव्यत्ययविप्लवम् ॥२५॥

२०. ये देवता लोग, जिनके शस्त्रों का काम बलवान् शत्रुओं की सेना का विनाश करना है क्यों निस्तेज हो गये हैं ? जैसे भाग्य के मारे हों।

२१. इन्द्र की आँखों की लड़ी जो शोक से सूख गई है और चिन्ता के कारण लाल हो गई है क्यो उस वनलक्ष्मी के सदृश हो गई है जिसके लाल कमल मुरझा गये हैं।

२२. किसने इन वरुण देव को, जो बड़े शूरवीर हैं, जो अपने हाथों में ऐसा पाश लिये रहते हैं जो उनकी इच्छानुसार अनेक रूप धारण करता है और जिनका निवास जल में है, किसने एक बहेलिये की तरह पीड़ित कर दिया है।

टिप्पणी—बहेलिये के संदर्भ में—"पाश भणिः—जिनके हाथ में चिड़ियों के फँसाने का जाल है। 'इष्टविग्रह'—जिसको चिड़िया का फँसाना अभीष्ट है। 'वनगोचरः—वन में फिरने वाला।

२३. पवनदेव जिनका बदन छरहरा है, शोक और सन्ताप से बराबर उभर-उभर कर श्वास लेने के कारण कैसे फूल गये हैं।

२४. विधि का कुछ ऐसा विधान है कि सम्पत्ति का उलट फेर लगा रहता है। ये अग्निदेव जिनमें जला डालने की शक्ति है, विश्व को खा जाने वाले सन्ताप से स्वयं जल रहे हैं।

२५. सूर्य बरफ के समान ठंढे हो गये हैं और चन्द्रदेव भयङ्कर गरम हो गये हैं। कैसे इन दोनों देवताओं का सहज स्वभाव उलट गया है !

शुचैव सगदः सोऽहं भूयः किं धृतयाऽनया।
इति त्यक्ता गदा नूनं मित्रेण गिरिधन्वनः ॥२६॥

लाघवं केन कीनाशे कृतं सायुधवाहने।
रक्षके महिषस्यैवं दण्डहस्ते शिशाविव ॥२७॥

कल्पानिल इवावार्यः स्कन्दो दैन्यं किमास्थितः।
प्रेरकः शिखिनो भीमः शक्त्या पातिततारकः ॥२८॥

आहृत्य हृतसर्वास्त्रा भ्रूधनुर्मात्रधारिणी।
कटाक्षशरशेषेयं चण्डी केन कृता रणे ॥२९॥

प्रमथानामधीशस्य माथकस्यासुरद्विषाम्।
कूटस्थोऽपि मदः शोषवैकृतं किं नु सेवते ॥३०॥

२६. 'मैं तो सगद (शोकयुक्त) हो गया हूँ तो मैं अब क्यों गदा धारण करूँ" मालूम होता है अवश्य ही यह सोचकर गिरिधन्वा (इन्द्र) के मित्र कुबेर ने अपनी गदा का परित्याग कर दिया है।

२७. यमराज को जो अस्त्र और वाहन से युक्त हैं, जो हाथ में दंड लिये हुए हैं, और जो अपने भैंसे के रक्षक हैं, उनको किसने शिशु से समान तुच्छ समझ लिया है।

२८. अपने मयूर को प्रेरणा देने वाले, भयङ्कर वीर, अपने पराक्रम से तारकासुर को पराजित करने वाले प्रलय के समय बहने वाले वायु के समान दुर्निवार, ये स्कन्द क्यों दीन हो गये हैं।

२९. किसने चण्डिका देवी को युद्ध में परास्त कर इनके सब अस्त्र छीन लिये हैं और अब इनके पास केवल इनके भौंहों का धनुष और कटाक्षों के बाण बच रहे हैं।

३०. शिव गणों के स्वामी असुरों के शत्रुओं के नेता इन गणेश के मस्तक पर से बहने वाला मद क्यों सूख कर विकृत हो गया है।

टिप्पणी—प्रमथाः शिवगणाः।

नानारूपधरा ये वै जटा चन्द्रार्धमण्डिताः।
ते सर्वे सकलैश्वर्ययुक्ता ध्यानपरायणाः॥
संसारविमुखाः सर्वे यतयो योगतत्पराः।
सिद्ध्याद्यादिसारूप्या अणिमादिसमायुताः॥
अपरे कामिनः शम्भोः मुनर्मसचिवाः स्मृताः।
विचित्ररूपाभरणा जटाचन्द्रार्धमण्डिताः॥
आकाशमार्गे गच्छन्तमनुगच्छन्ति नित्यशः।
ध्यानस्थं परिचर्यन्ति सलिलादिभिरीश्वरम्॥
नानाशस्त्रधराः शम्भोर्गणास्तु प्रमथाः स्मृताः।
अपरे गायनास्तालमृदंगपणवादिभिः॥
नृत्यन्ति वाद्यं कुर्वन्तो गायन्ति मधुरस्वरम्।
षट्त्रिंशत्कोटयश्चैते हरस्य सकलागणाः॥ —कालिका पुराण

वक्त्रश्वासाग्निपिङ्गाङ्गकर्कोटाबद्धकन्धरः ।
नागशोणितदिग्धास्यस्तार्क्ष्यो राजशुकायते ॥३१॥

साग्निजिह्वातडिज्जालनद्धा चास्य फणावली ।
किं नु म्लायति वर्षान्ते घनश्रेणीव वासुकेः ॥३२॥

पृष्टवन्तमिति प्रष्ठः प्राज्ञः प्राञ्जलिरव्ययम् ।
धिषणो धिषणागम्यं जगाद जगदीश्वरम् ॥३३॥

त्वया विज्ञातमेवेदं सर्वज्ञ पुनरुच्यते ।
असौहित्यं हि भृत्यानां स्वामिनि स्वातिजल्पने ॥३४॥

मानिनामग्रणीरस्ति पुलस्तिसुतसम्भवः ।
दर्पोद्धतजगद्रक्षो रक्षोनाथो दशाननः ॥३५॥

स महौजा जगन्नाशफलाय फलसाधनः ।
निर्विकारश्चिरं चीरी चचार च महत्तपः ॥३६॥

३१. ये गरुड़ जिनका मुख सर्पों के रुधिर से सिक्त रहता है, पालतू राजशुक के समान पालतू लग रहे हैं। इनकी गर्दन को कर्कोटक नाग ने, जिसका शरीर अग्नि के समान फुफकार से पीला पड़ गया है, बाँध लिया है।

३२. वासुकी, फणों की पंक्ति, जिनमें अग्नि के समान लपलपाती जिह्वा, जो बिजली के जाल से परिवेष्टित सी लगती है, क्यों वर्षा के अन्त की मेघमाला के समान मुरझाई हुई मालूम पड़ती है।

३३. जब अनश्वर और ज्ञान द्वारा समझे जाने वाले जगदीश्वर ने सब देवताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार पूछताछ की तब देवताओं के अगुआ, बुद्धिमान बृहस्पति जी हाथ जोड़कर बोले।

३४. हे सर्वज्ञ ! आपने हमारे हृदय की बात तो जान ही ली है तथापि मैं फिर से उसे कहता हूँ। क्योंकि स्वामी से अपने दुःख की गाथा कहने में भृत्य को कभी तृप्ति नहीं होती।

३५. पुलस्त्य के पुत्र (विश्रवा) से उत्पन्न, घमण्डियों में सब से आगे बढ़ा हुआ, राक्षसों के स्वामी, रावण ने अपने दर्प से विश्व की शान्ति भंग कर दी है।

३६. उस महाबली (रावण) ने चीर धारण कर जगत के नाश करने का मनोरथ सिद्ध करने के लिये एकाग्रचित होकर बहुत काल तक घोर तप किया।

मातङ्गमकरक्रूरदन्तोल्लिखितवक्षसा ।
तेनव्रतयताहारं तपस्तप्तमुदन्वति ॥३७॥

ततस्तपस्तोषितस्तस्मै चतुराय चतुर्मुखः ।
वरं वीराय विश्वेशः प्रादाज्जेतुं जगद्द्वयम् ॥३८॥

स कदाचिद्रटन्नागं नगं नाकौकसामरिः ।
हारगौरं हरस्थानं पटुनादं व्यपाटयत् ॥३९॥

स्फुरन्नगशिरस्त्यक्तैरुन्नदन्नदनिर्झरैः ।
स्पृष्टे पूषणि झङ्कारं घोरमातन्वति क्षणात् ॥४०॥

वाजिनः प्रग्रहाकृष्टखलीनावक्रकन्धरान् ।
एकतो जवयत्यद्रिपातभीत्यार्कसारथौ ॥४१॥

घूर्णमानमहाशैलतटभ्रष्टे मुहुर्मुहुः ।
मत्तस्येवोत्तरीये स्वस्थानं त्यजति निर्झरे ॥४२॥

३७. समुद्र के भीतर भीमकाय जलजन्तुओं ने पैने दाँतों से उसका वक्ष क्षत-विक्षत कर दिया। फिर भी उसने व्रत से अपने भोजन का संयमन कर वह तपस्या की।

३८. तब संसार के स्वामी, चतुर्मुख ब्रह्मा जी ने उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर उस चतुर वीर को दोनों लोकों के विजय करने का वर दिया।

३९. एक समय स्वर्ग के रहने वाले देवताओं के शत्रु (रावण) ने शिव के निवास स्थान (कैलाश) को जो हार के समान शुभ्र है और जहाँ हाथी चिग्घाड़ते रहते हैं, भयङ्कर गर्जन करते हुए चीर डाला।

४०. जिस समय हिलते हुए पर्वत से हहराती हुई बड़े वेग से गिरती नदियों के प्रपात से छू जाने के कारण सूर्य भयङ्कर झंकृत हो उठा था।

टिप्पणी—शिशुपाल वध—४–६६ की टीका करते हुए मल्लिनाथ 'नद' और 'नदी' का भेद इस प्रकार बताते हैं :—'प्राक् स्रोतसो नद्यः प्रत्यक् स्रोतसोनदाः। नर्मदां विनेत्याहुः ॥'

४१. जब सूर्य के सारथी ने इस डर से कि कहीं पर्वत गिर न पड़े, एक ओर भाग रहा था, रास को ऐसी जोर से खींचा कि घोड़ों की गर्दन टेढ़ी हो गई।

४२. जब शराबी के कपड़े की तरह, झरने बारम्बार लड़खड़ाते हुए, भारी भरकम पर्वत से अपना स्थान छोड़ रहे थे।

गौरीभयपरिष्वङ्गस्पर्शलब्धमहोत्सवे ।
संक्रुद्धधूर्जटिक्रोधप्रतिलोमप्रवर्तिनि ॥४३॥

कपालनयच्छिद्रं जटाबद्धफणावति ।
संकोचितफणाचक्रं विशत्युत्त्रासविह्वले ॥४४॥

परित्रस्ते गोपयति क्रुकवाकुध्वजे सति ।
कार्तस्वरमयं मेषं मातुरुत्सङ्गसङ्गिनि ॥४५॥

उत्पश्यति चिरं धीरं क्रोधरोधार्तचेतसि ।
भर्तुर्भ्रूभागभङ्गस्य प्रादुर्भावं ककुद्मनि ॥४६॥

रूढमूलमिव श्वेतैरधोलग्नैर्भुजङ्गमैः ।
प्रौढपुष्पमिवाग्रस्थस्फुरन्नक्षत्रमण्डलैः ॥४७॥

चरणेन रणत्सिंहकुलाकुलगुहामुखम् ।
गिरिं गौरीपतिः कुञ्ज-गुञ्जत्सिन्धुं न्यपीडयत् ॥४८॥

धराधरभराक्रान्ते बाहौ बहुभिराननैः ।
दिक्षु दीर्घप्रतिक्रोशो रावणेन कृतो रवः ॥४९॥

४३. (कैलाश के हिलने से) पार्वती डर के मारे शङ्कर से लपट गईं इससे उन्हें बड़ा आनन्द आया और क्रोधयुक्त शिव के रोष की विपरीत अवस्था हो गई।

टिप्पणी—योगाग्नि दग्धदेहा सा पुनर्जाता हिमालये ।
शंखेन्दु कुन्द धवला ततो गौरी तु सा स्मृता ॥
तुलना कीजिये "समुत्क्षिपन्यः पृथिवी भृतावरे" माघ—१-५० ।

४४. उनके जटाजूट में लपटा हुआ सर्प भयभीत होकर अपने फणों को समेटता हुआ उनके मस्तक की आँख के छिद्र में घुसने लगा।

४५. भयभीत मयूरध्वज कार्तिकेय जो अपनी माता के गोद में बैठे हुए थे अपने सुवर्ण के बने, हुए भेड़े को छिपाने लगे।

४६. जब (शिव का) वृषभ, जिसका चित्त क्रोध के रोक लेने से क्षुब्ध हो गया था, अपने स्वामी की भृकुटी तन जाने के परिणाम को बहुत देर से ध्यानपूर्वक देख रहा था।

४७-४८. तब गौरीपति ने उस पर्वत को पैर से दबाया, जिसके तल में श्वेत सर्प, उसके जड़ के समान घुसे हुए लगते थे, जिसके सर में ऊपर चमचमाता हुआ नक्षत्र-मण्डल खिले हुए फूलों के समान लगता था और जिसके निकुञ्जों से कलकल निनाद करती हुई नदियाँ बह रही थीं।

४९. जब पर्वत के भार से रावण के बाहुओं में अत्यधिक पीड़ा होने लगी तो वह अपने अनेक मुखों से इतनी जोर से गरजा कि दिशायें दूर तक प्रतिध्वनित हो उठीं।

तं देवं स शिरच्छेदव्रणचक्रैरपूजयत् ।
नीलकुट्टिमविन्यस्तैर्मण्डलैरिव कौङ्कुमैः ॥५०॥

आज्ञापयितुमेतस्य राक्षसस्य दिशो दश ।
वक्त्राणि पङ्क्तिसंख्यानि पुनः सृष्टानि शूलिना ॥५१॥

तमःस्थानं तमासाद्य बालिशं कुलिशं रणे ।
अजहादज धाम स्वं वैकुण्ठस्य विकुण्ठितम् ॥५२॥

तमद्याप्यनवद्येन वसुना वासवः स्वयम् ।
अजय्यं पूजयत्येकवीरं वैरस्य शान्तये ॥५३॥

वलिं वज्राय पौलोमी सस्मितं विगतादरा ।
कुर्वती कुरुते शक्रं व्रीणासन्नमिताननम् ॥५४॥

यक्षनाथो दिशंस्तस्मै केवलं धनदो धनम् ।
सर्वस्वहरणप्रीतो रावणस्तु धनेश्वरः ॥५५॥

५०. तब उसने अपने कटे हुए सरों के गोलाकार घावों से शिव की पूजा की। (उस समय) ऐसा लगता था जैसे नील वर्ण चिकने फ़र्श पर कुंकुम से बहुत से मण्डल बना दिये गये हों।

५१. तब त्रिशूल धर शिव ने उस राक्षस (रावण) के दस सिर, दसों दिशाओं में हुकुम चलाने के लिये पुनः पैदा कर दिये।

५२. हे अज! (विष्णु) अन्धकार के केन्द्र उस मूर्ख रावण से युद्ध में भिड़ कर इन्द्र के वज्र ने अपने तेज को छोड़ दिया। (अर्थात् निस्तेज हो गया)।

५३. अजेय और अद्वितीय वीर उस रावण की शत्रुता को शान्त करने के लिये स्वयं इन्द्र उसे अब भी धन देकर पूजते हैं।

टिप्पणी—श्लेष—वसु=धन=पानी।

५४. शची जिनके हृदय से (अपने पति के प्रति) आदर निकला गया है वे उस वज्र (भीषण राक्षस) को मुसकरा कर नैवेद्य अर्पण करती है, जिससे इन्द्र का सर लज्जा से नत हो गया है।

५५. यक्षों के स्वामी (कुबेर) अपना धन (रावण को) दे डालने के कारण केवल धनद (धन के देने वाले) रह गये हैं। परन्तु रावण उनके धन के अपहरण करने की प्रसन्नता से धनेश्वर (धन का स्वामी) हो गया है।

टिप्पणी—श्लेष—धनद=कुबेर का नाम=धन का देने वाला।

धर्म्यं कर्म परित्यज्य प्रीणाति पिशित प्रियम् ।
प्रेतराजोऽप्यभिप्रेतभक्ष्यदानेन दानवम् ॥५६॥

दूरतः सेवते भानुरादित्यमणितोरणात् ।
च्युते तन्मन्दिरद्वारदाहभीतो हुताशने ॥५७॥

निवृत्ततत्सरःपद्मस्वापकारणतेजसा ।
बोधनीयं किलाशेषमिन्दुना कौमुदं वनम् ॥५८॥

यथा न कज्जलस्पर्शचित्रवैवर्ण्यसंभवः ।
तथा ज्वलितुमादिष्टो दीपकृत्यो वृषाकपिः ॥५९॥

लब्धसेवावकाशः सन् सेवते तं समीरणः ।
रतिक्लमयुमद्दे हं तरङ्गान्तरगोचरः ॥६०॥

पातालहृदयान्तःस्थ पद्मरागं पयोनिधिः ।
अग्रमांसमिवोद्धृत्य ददाति पिशिताशिने ॥६१॥

काले कालाभ्रगर्भेऽपि निर्मदा नर्मदादयः ।
नन्दयन्ति सदा नद्यो वज्रैर्वज्रायुधद्विपम् ॥६२॥

५६. प्रेतों के राजा यम भी अपना कामधाम छोड़कर, मांस के बने स्वादु व्यंजन, उस आमिषप्रिय दानव को देकर उसे प्रसन्न करने में लगे रहते हैं।

५७. इस डर से कि कहीं (उनकी आंच से) उसके (रावण के) महल के दर्वाजे जल न जांय सूर्य देव उसके आदित्य मणि से जड़े हुए तोरण से बहुत दूर होकर उसकी सेवा करते हैं।

५८. चन्द्रमा ने अपनी प्रभा से उसके सरोवर के कमलों को नहीं सुलाया (रावण के डर से उन्हें खिले रहने दिया)। (अब तो) उसका काम केवल वन के कुमुदों को फुलाना ही रह गया।

५९. अग्निदेव को जिनसे दीपक का काम लिया जाता था, यह आदेश मिला कि उनमें धुआं का जल (धुआं) न निकले जिससे वहाँ के चित्रों के बदरंग हो जाने की सम्भावना हो।

६०. तरङ्गों के भीतर रहने वाला वायु, उसकी (रावण की) सेवा करने का मौका पाकर रति से क्लान्त उसके शरीर की परिचर्या करता है।

६१. पाताल के अन्तस्तल में रखी हुई मणियों को निकालकर समुद्र, उस मांसभक्षी राक्षस को इस प्रकार देता है जैसे वह अपने हृदय का मांस दे रहा हो।

६२. काले-काले बादलों से व्याप्त वर्षा ऋतु में भी नर्मदा आदि शान्त नदियां उस वज्रपाणि (इन्द्र) के शत्रु (रावण) को मणि (वज्र) देकर सदा प्रसन्न करती रहती हैं।

टिप्पणी—श्लेष—वज्र = इन्द्र का शस्त्र = मणि।

प्रियाजनपरिष्वङ्गप्रीतिं कर्तुं निरन्तराम्।
निशि ज्ञातमनोवृत्तिस्तमुपैति हिमागमः ॥६३॥

तस्योद्यानवनं विश्वं दिवः प्रवसता सता।
सर्वर्तुषु निजैः पुष्पैर्भूष्यते मधुनाऽधुना ॥६४॥

दुराराध्यस्वभावस्य समालम्ब्य सिषेविषाम्।
जलक्रीडादिनं तस्य ग्रीष्मश्चिरमुदीक्षते ॥६५॥

आसकण्ठग्रहव्यग्रांस्तस्मिन्निच्छति मानिनः।
धीरं गर्जन्ति लङ्कायामकाले वारिदा अपि ॥६६॥

अश्रान्ता वीजयत्यष्टहस्तपर्याय संपदा।
इति चण्डीमभिप्रेप्सुः कर्तुं चामरधारिणीम् ॥६७॥

स्तब्धकर्णो नमत्येनं श्रवणाक्षेपमारुतैः।
भूभक्तिकुसुमक्षेपदोषभीतो गणाधिपः ॥६८॥

स्मरश्च संसदं तस्य विशति स्रस्तवाससा।
प्रतीहार्या स्मिताकूतविभ्रमैः कठिनागमः ॥६९॥

६३. जाड़े की ऋतु ने जैसे उसके (रावण के) मन की बात जान ली हो, वह रात्रि में उपस्थित हो जाती है ताकि वह (रावण) अपने प्रेमियों के आलिङ्गन का आनन्द निरन्तर उठाता रहे।

६४. यद्यपि वसन्त ऋतु स्वर्ग में रहता है फिर भी अब वह उसके वन के सब उद्यानों को हर ऋतु में पुष्पों से विभूषित रखता है।

६५. ग्रीष्म ऋतु उस रावण की, जिसका स्वभाव ऐसा है कि वह बड़ी कठिनता से प्रसन्न किया जा सके, सेवा करने की इच्छा से उसके जलक्रीड़ा की बाट बहुत पहिले से जोहता रहता है।

६६. जब वह (रावण) इच्छा करता है अभिमानी गर्दनी लगने के भय से धर्रा जाय तब बादल भी डर के मारे कुसमय ही धीरे-धीरे गड़गड़ाने लगता है।

६७. यह समझ कर कि चंडी अपने आठों हाथों के सञ्चालन की कुशलता से निरन्तर पंखा हांकती रहेगी, वह (रावण) उसे पंखा झलने वाली बनाने की इच्छा करता है।

६८. गणों के स्वामी (गणेश) इस डर से कि कहीं उनके कान हिलाने से निकली हुई हवा से पृथ्वी पर सजाये पुष्प तितर-बितर न हो जायें, (वे) अपने कानों को निश्चल कर उसे प्रणाम करते हैं।

६९. जब प्रतिहारी कामदेव के आगमन की सूचना, मुसकराते हुए इशारा कर देती है, तब वह (कामदेव) अपने वस्त्रों को उतार कर उसके (रावण के) महल में प्रवेश करता है।

शुद्धान्तमन्तःशुद्धः सन् स्त्रीजनस्य तदाज्ञया ।
लोलोपदेश दानैकव्यग्रो विशति मन्मथः ॥७०॥

त्वयि रक्षाकृति स्वर्गसद्मनामपि दैवते ।
कथं नक्तंचरेणैवं दिवस्त्रासो वितन्यते ॥७१॥

भ्रातरि द्विषतो बाहुभग्नौजसि विडौजसि ।
भोगिभोगे चिरं तावत्केयं देवस्य शायिका ॥७२॥

आत्मस्वनुगुणं दैवं दृष्ट्या मन्यामहे तव ।
न हि त्वं देवहीनस्य जनस्य तु सुदर्शनः ॥७३॥

इत्थं वाचस्पतौ वाचं व्याहृत्य विरते क्षणम् ।
स्वर्गे च स्वप्रतिजल्पस्पृहानिःस्पन्दवर्तिनि ॥७४॥

कुक्षिस्थनिःशेषलोकत्रयभारोद्वहोऽप्यहम् ।
विधाय मानुषीकुक्षिवासं शोकक्षयाय वः ॥७५॥

भूत्वा राम इति ख्यातःकुर्यां भर्तुः सुरद्विषाम् ।
एकवाणकृताशेषशिरच्छेदपराभवम् ॥७६॥

७०. तब अपने अंतःकरण को शुद्ध कर, स्त्रियों को काम लीला के उपदेश देने के लिये उत्सुक (वह) कामदेव उसकी आज्ञा से अंतःपुर में जाता है।

७१. हे भगवन् ! जब आप स्वर्ग में रहने वालों के रक्षक हैं तब कैसे इस निशाचर ने स्वर्ग में इतना आतङ्क फैला रखा है !

७२. आप तो इन्द्र के भाई हैं। जब इन्द्र ने अपने बाहुबल से शत्रुओं की शक्ति को नष्ट कर दिया तब आप क्यों ऐसी परिस्थिति में देर से शेषशैय्या पर अलसाये हुए लेटे हैं !

७३. आपका दर्शन हो जाने से हम समझते हैं कि दैव हम लोगों के अनुकूल है। क्योंकि भाग्यहीन पुरुष को आपका दर्शन सरलता से नहीं होता।

७४. इस प्रकार स्वर्ग में बृहस्पति अपना कथन समाप्त कर प्रत्युत्तर पाने की लालसा से क्षणभर बिना हिले-डुले चुप हो गये।

७५-७६. यद्यपि मैं अपने उदर में तीनों लोकों का सम्पूर्ण भार वहन कर रहा हूँ, (फिर भी) मैं मर्त्यलोक में एक स्त्री के गर्भ से जन्म लेकर और राम के नाम से विख्यात होकर उस, देवताओं के शत्रु राक्षसों के स्वामी (रावण) के सिरों को एक ही बाण से काट कर उसे पराजित कर दूँगा।

इत्युदारमुदाहृत्य वचो वाचामगोचरः ।
तत्याज वेदविद्वेद्यो वर्पातल्पं वृषानुजः ॥७७॥

चिरशयनगुरुं स्वभोगभारं भुजगपतिः शनकैर्वितत्य खेदात् ।
शिथिलितफणपङ्क्तिमुक्तदीर्घश्वसितविधूतमहार्णवोऽवतस्थे ॥७८॥

भूमिस्पर्शभयादुपेत्य तरसा लक्ष्म्या करेणोद्धृतं
व्यालम्वैकपटान्तमङ्गशिखरे क्षिप्त्वोत्तरीयं तत. ।

निद्रामन्थरताम्रलोचनयुगो लीलालसन्न्यासया
गत्या निर्जितवारणेन्द्रगमनः क्वापि प्रतस्थे हरिः ॥७९॥

इति द्वितीयः सर्गः ।

७७. ऐसे उदार वचन कहकर इन्द्र के छोटे भाई (विष्णु) ने जो वेद को जानने वाले हैं, जो वर्णनातीत हैं और जो जानने के योग्य हैं, अपनी जल शैय्या को छोड़ दिया ।

७८. तब सर्पराज ने अपने विस्तृत शरीर को, जो विष्णु के देर तक सोने के कारण गड़आय गया था, थकान के कारण धीरे-धीरे फैलाया और अपने शिथिलित फणों की पंक्ति के दीर्घनिश्वास से उस महासागर को क्षुब्ध करता हुआ वहीं पड़ा रहा ।

७९. अपने उत्तरीय को जिसका एक छोर लटक रहा था और जमीन पर लथर जाने के डर से लक्ष्मी ने दौड़कर अपने हाथों से उठा लिया था, अपने कंधों पर डाल कर, विष्णु, जिन्होंने अपनी चाल से गजराज को हरा दिया था और जिनकी दोनों आँखें सोने के कारण लाल और अलसाई हुई थीं, उठकर मस्त चाल से कहीं चले गये ।

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीयः सर्गः

अथ श्रियः प्राणसमस्य तस्य ज्ञात्वा विविक्षामिव मर्त्यधाम ।
पूर्वावतीर्णः सुमनःसमृद्धया सम्यग्वसन्तो भुवनं ततान ॥१॥

भ्रान्त्वा विवस्वानथ दक्षिणाशामालम्ब्य सर्वत्र करप्रसारी ।
ऋत्विक् ततो निःस्व इव प्रतस्थे वसूपलब्धो धनदस्य वासः ॥२॥

वृक्षा मनोज्ञद्युति चम्पकाख्या रूपं वितेनुर्नवकुड्मलाढ्याः ।
न्यस्ता वसन्तस्य वनस्थलीभिः सहस्रदीपा इव दीपवृक्षाः ॥३॥

सम्पिण्डितात्मावयवा उदीयुः पद्मा नवाः कण्टकितोर्ध्वदण्डाः ।
अन्तर्जलावासविरूढशीतत्रस्ता वसन्तातपकाम्ययेव ॥४॥

कर्णे कृतो दीर्घविलोचनानामालोलदृष्टिद्युतिभिन्नरागः ।
बालोऽप्यशोकप्रभवः प्रवालः कान्ति प्रपेदे परिणामगम्याम् ॥५॥

१. जैसे वसन्त यह जान गया हो कि लक्ष्मी को प्राण से अधिक प्रिय, भगवान् की इच्छा मनुष्य के चोले में प्रवेश करने की इच्छा है, तब उसने पहिले ही से आकर पृथ्वी को पुष्पों के सौंदर्य से भर दिया ।

२. अब सूर्य अपनी किरणों को सब ओर बिखेर कर दक्षिण दिशा में गया और वहाँ एक दरिद्र पुरोहित (ऋत्विक) की भाँति कुबेर के घर (उत्तर में) रश्मि लेने के हेतु पहुँचा ।

टिप्पणी—श्लेषः—(१) दक्षिणाशा=दक्षिण दिशा=दक्षिणा मिलने की आशा । (२) कर-प्रसारी=किरणों को बिखेरने वाला=हाथ फैलाने वाला । (३) वसूपलब्धं=रश्मि लेने के लिये—धन पाने के लिये ।

३. नई कलियों से लदे हुए मनोहर चम्पक वृक्ष ऐसे लगते थे जैसे वसंन्त की वनस्थली ने हजारो वत्तियो के दीपक वृक्ष लगा दिये हों ।

४. कंटक से भरी हुई, खड़ी नाल के ऊपर अपनी पंखड़ियों को समेटे हुए नव कमल ऐसा उठ खड़ा हुआ जैसे जल के भीतर रहने के कारण शीत से भयभीत होकर वसन्त की गरमाहट पाने की इच्छा से बाहर निकल आया हो ।

५. बड़ी-बड़ी आँखों वाली स्त्रियों के कान में खोंसी हुई अशोक की पत्तियाँ यद्यपि नई थी, उनमें उन स्त्रियो की चञ्चल आंखों की प्रभा से पोढ़ी पत्तियों का सा रंग आ गया ।

प्रादुर्बभूवुर्नवकुड्मलानि स्फुरन्ति कान्त्या करवीरजानि ।
प्रवासिनां शोणितपाटलानि तीरीफलानीव मनोभवस्य ॥६॥

वन्ध्योऽपि सालक्तकपादघातं लब्ध्वा रणन्नूपुरमङ्गनानाम् ।
उद्भूतरोमाञ्च इवातिहर्षात् पुष्पाङ्कुरैरास नवैरशोकः ॥७॥

महीध्रमूर्ध्नि भ्रमरेन्द्रनीलैर्विभक्तशोभः शिखिकण्ठनीलैः ।
गृहीतभास्वन्मुकुटानुकारस्ततान कान्तिं नवकर्णिकारः ॥८॥

वासन्तिकस्यांशुचयेन भानोर्हेमन्तमालोक्य हतप्रभातम् ।
सरोरुहामुद्धृतकण्टकेन प्रीत्येव रम्यं जहसे वनेन ॥९॥

समीरणानर्तितमञ्जरीके चूते निसर्गेण निपक्तभावाः ।
पुष्पावतंसेषु पदं न चक्रुर्दीप्तेष्विवाशोकवनेषु भृङ्गाः ॥१०॥

विनिद्रपुष्पाभरणः पलाशः समुल्लसत्कुन्दलतावनद्धः ।
उद्भूतभस्मा मधुनेव रेजे राशीकृतो मन्मथदाहवह्निः ॥११॥

६. करवीर की नई-नई रक्त वर्ण कलियाँ ऐसी फूट निकलीं जैसे वे पथिकों के मन में स्थित मनोभव (कामदेव) के तीखे बाण निकल रहे हों।

७. अशोक वृक्ष यद्यपि बाँझ था फिर भी मारे प्रसन्नता के उसके तने से नये-नये अंकुर फूट निकले जैसे उसे रोमाञ्च हो आया हो, जब उन्हें सुन्दरी युवतियों ने महावर से रञ्जित और नूपुरों से झङ्कृत पैरों से मारा।

८. पर्वत के शिखर पर एक नया कर्णिकार का वृक्ष अपना सौंदर्य बिखेर रहा था। उसकी प्रभा इन्द्रनीलमणि के समान भौंरों से विभक्त हो गई थी और उस पर नीले कण्ठ वाले मयूर, चमचमाते मुकुट का अनुकरण कर रहे थे।

९. कमलों के वन ने जब यह देखा कि उसके शत्रु, हेमन्त के प्रभाव को वसन्त के सूर्य की रश्मियों ने नष्ट कर दिया तो वह प्रेम से दिल खोल कर हंसने लगा जैसे उसका काँटा निकल गया हो।

१० भंवरे जो स्वभाव से आम्र के वृक्षों पर जिनकी मञ्जरी हवा से नाच रही थी, मंडरा रहे थे, उन्होंने अशोक के वन में पैर नहीं रखा जहाँ उनके (अशोक के) शर पर फूल ऐसे सजे थे जैसे उसमें आग लगी हो।

११ खिले हुए पुष्पों से विभूषित पलाश का वृक्ष जिसमें पुष्पों से लहलहाती कुन्द लता लपटी हुई थी, ऐसा चमचमा उठा जैसे वसन्त ने कामदेव को जलाने वाली अग्नि के ढेर से भस्म को उधेड़ते हुए कुरेद दिया हो।

वसन्तदीप्तातप खेदितानां महीरुहां वातचलाः प्रवालाः ।
जिह्वा यथा विद्रुमभङ्गताम्रा निष्कासिता रेजुरतिश्रमेण ॥१२॥

प्रालेयकालप्रियविप्रयोग–ग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद ।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण ॥१३॥

ततः स्मरस्याहवधामकल्पं क्षोणीपतिभ्रान्तशिलीमुखाङ्कम् ।
उद्यानमासेवत रक्तदीप्ति संतानभास्वत्करवीरकीर्णम् ॥१४॥

रम्याणि रामानुगतो विहङ्गपक्षानिलानर्तितपल्लवानि ।
उद्भ्रान्तभृङ्गाणि लतागृहाणि सम्भावयामास रहोविहारैः ॥१५॥

त्वमप्रमादं कुरु नूपुराङ्घ्रौ भर क्षणं काञ्चि नितम्बभारम् ।
इतीव तस्मिन्विहरन्नृपस्त्रीकक्ष्यातुलाकोटिपुटैर्निनेदे ॥१६॥

१२. वसन्त की झुलसाती हुई गरमी से खिन्न, और हवा से सञ्चालित वृक्षों के नव प्ररोह ऐसे शोभायमान हुए जैसे बड़े श्रम से उन्होंने अपनी, टूटे हुए मूंगे के समान ताम्रवर्ण जिह्वा बाहर निकाल दी हो।

१३. अपने प्रियतम हेमन्त से विछोह हो जाने से रात्रि जैसे म्लान हो जाने के कारण क्षय होने लगी और दिन भी वसन्त की कड़ी धूप से जैसे थक कर क्रमशः मन्द गति से चलने लगा ।

१४. तब पृथ्वी के स्वामी (दशरथ) उस उद्यान में चले गये जिसमें भ्रमण करते हुए भौंरे झुंड के झुंड विचर रहे थे, जहाँ फूले हुए रक्त वर्ण करवीर के वृक्ष कतार की कतार लगे थे और जो (उद्यान) कामदेव की समर भूमि की तरह लग रहा था।

टिप्पणी—श्लेष : आहव धाम के सम्बन्ध में (१) भ्रान्त=भ्रमण करते हुए=चलते हुए। (२) शिलीमुखाः —भ्रमर=बाण (३) भास्वत् करवीर = फूले हुए करवीर-वृक्ष=चमकते हुए हाथों के वीर। (४) रक्तदीप्ति=ताम्रवर्ण=रुधिर से चमकते हुए।

१५. स्त्रियों के साथ वे (दशरथ) उन लताकुञ्जों में एकान्त विहार करने लगे जहाँ भौंरे उड़ रहे थे और जहाँ पक्षियों के पंखो के फड़फड़ाने से निकली हुई हवा से पेड़ों की नन्ही डालियाँ नाच रही थीं।

१६. उन लतागृह में विहार करती हुई स्त्रियों के नूपुर और करधनी यह कह कर एक दूसरे का मज़ाक उड़ा रहे थे—'हे नूपुर, तुम पैरों में तनिक भी प्रमाद न करना (अर्थात् अच्छी तरह बजना)। आयें मेखले! तुम ज़रा नितम्बों के बोझ को क्षण भर के लिये उठाये रहना।

चिक्षेप बाला मुहुरर्धदृष्टिं पत्यावनङ्गक्षतधैर्यवृत्तिः ।
दूरस्थपुष्पस्तवकावभङ्गव्याजेन संदर्शितबाहुमूला ॥१७॥

पत्या परस्या नु विधीयमाने विलासवत्याश्चरणान्तरागे ।
अन्यत्र युक्तोऽपि बबन्ध रागं लाक्षारसस्तत्प्रतिपक्षनेत्रे ॥१८॥

पातुं सुदत्या वदनारविन्दमादाय दृष्टो ललनाभिरीशः ।
अपुष्परेणु व्यथितेऽपि तस्याश्चिक्षेप नेत्रे मुखगन्धवाहम् ॥१९॥

पुष्पावभङ्गे निजहस्तकान्त्या विन्यस्तरागं कठिनं पलाशम् ।
प्रवालकृत्ये विनियोजयन्ती भर्त्रा परा सस्मितमालिलिङ्गे ॥२०॥

१७. किसी बाला ने जिसका मन कामदेव ने चञ्चल कर दिया था, बहुत ऊंचे पर फूले हुए पुष्पों के गुच्छे को तोड़ने के बहाने अपने कंधे को उघार दिया और अपने पति की ओर बार-बार तिरछी चितवन से देखने लगी।

यथा—कयाचिदाविष्कृत बाहु मूलया
तरुप्रसूना न्यपदिश्य सादरम् ।
—किरातार्जुनीयम्—८–१८ (भारविः)

जय देव कहते है—
आ षोडशाद्भवेद् बाला तरुणी त्रिंशता मता ।
पञ्चपञ्चाशता प्रौढा भवेद् वृद्धा ततः परम् ॥

१८. जब एक हावभाव करने वाली स्त्री के पति (दशरथ) उसके पैरों में महावर लगा रहे थे तो उस महावर ने अपनी ललाई को उसकी सौत के आंखों में उतार दिया।

भावार्थ—दशरथ के इस कृत्य से उस स्त्री की सौत की आखें लाल हो गयीं।

१९. राजा ने एक सुन्दर दांतों वाली स्त्री का मुखपान करने के लिए उसके मुखारविन्द को उठाया थो, पर चूंकि अन्य ललनाएं देख रही थीं अतः वह अपने मुख की सुरभित सांस उसकी आंखों में जो अभी तक पुष्पों के पराग से आक्रान्त नहीं हुई थी, केवल फूंक कर रह गये।

विशेष—जानकीहरण की एक हस्तलिखित प्रति के हाशिये पर लिखा है—
'सादरं चुम्बनं पानमुच्यते'

देखिये—"पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्ति
रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ।"—रघुवंश, २–१९। (कालिदास)

२०. एक सुन्दर कामिनी जब कठिन पलाश के वृक्ष से मूंगे की माला बनाने के लिये फूल तोड़ रही थी तो उसकी रुचिर हथेलियों की ललाई पलाश में आ गई। उस समय उसके पति (दशरथ) ने उसे मुसकरा कर लिपटा लिया।

स्निग्धद्विजालीरुचिरं प्रियङ्गुश्यामद्युतिश्चारुतमालकान्ता ।
विभर्षि गन्धाहृतभृङ्गचक्रं सन्माधवीमण्डपमेतदास्यम् ॥२१॥

मध्येललाटं तिलकस्य वृत्तिरोष्ठद्युतिर्भाति च पाटलेयम् ।
पुन्नागसंयोगविभूषितायाश्चेतश्च ते यातमशोकभावम् ॥२२॥

किं कौतुकेन श्रमकारिणा ते सृज त्वमुद्यानविहाररागम् ।
बाले त्वमस्योपवनस्य लक्ष्मीरित्येवमूचे ललना सखीभिः ॥२३॥

प्रियेण कर्णे विनिवेशितस्य तन्व्या नवाशोकदलस्य रागः ।
आनीलया नेत्ररुचा निरस्तस्तस्या जगामेव विपक्षचक्षुः ॥२४॥

२१. तुम्हारे अतीव रुचिर केश के अन्तभाग, प्रियंगुलता के समान श्यामल तुम्हारा लावण्य, सुन्दर दन्तपंक्ति-युक्त तुम्हारा मुखड़ा जिसका सुरभि-निश्वसन कामीजनों को अपनी ओर आकृष्ट करता है—इन सब के कारण तुम माधवी लता के एक ललित निकुञ्ज के समान लगती हो ।

टिप्पणी—माधवी लता मण्डप के संदर्भ में—(१) चारुतमालकान्ता=तमाल में लपटने के कारण सुन्दर । (२) स्निग्धद्विजालीरुचिरं=पक्षियों के समूह के कारण मनोहर (३) प्रियंगुश्यामद्युति=प्रियंगु लता के संसर्ग से श्याम कान्ति (४) गन्धाहृतभृंगचक्रं जिसकी सुगंध भृंगों के समूह को आकृष्ट करती है ।

२२. तुम्हारे माथे के बीचोबीच तिलक का चिह्न है । तुम्हारे अधरो पर ललाई सोह रही है और तुम्हारा हृदय पुरुष श्रेष्ठ (दशरथ) के संयोग से विभूषित होने के कारण शोक-रहित हो गया है ।

२३. "हे बाले ! खेल कूद में परिश्रम करने से तुम्हें क्या लाभ ? उद्यान में विहार करने की अभिलाषा छोड़ दो । तुम तो स्वयं उपवन की लक्ष्मी हो ।" ऐसा उसकी सुन्दरी सखियों ने उससे कहा ।

टिप्पणी—इस बाला के सौंदर्य वर्णन में कवि ने श्लोक २१–२२ में 'प्रियंगुलता', 'माधवी', 'मण्डप', 'पाटल', 'पुन्नाग' एवं अशोक का प्रयोग किया है । यह कह कर २३वें श्लोक में उस बाला को 'उपवनस्य लक्ष्मी' कहते हैं।

२४. अशोक की एक कोमल पत्ती जिसे उसके प्रियतम ने उस कोमलाङ्गी के कान में खोस दिया था उसका रंग उसके आनील नेत्रों से तिरस्कृत होकर उसकी सौत की आंखों में चला गया ।

टिप्पणी—यही भाव इस सर्ग के १८ व श्लोक का भी है ।

हारिप्रलापोऽथ निधिर्गुणानां निधाय चक्षुर्मदमन्दपातम् ।
पर्यन्तभूमौ निकटोपयातामुवाच वाचं प्रतिहाररक्षीम् ॥२५॥

कुर्वन्ति लोभेन विलोकयन्त्यः कुरङ्गनेत्रा विलसत्प्रसूनम् ।
शुभाभिरेनं नयनप्रभाभिः शारत्विषं पुष्पतरुं तरुण्यः ॥२६॥

विभाति भृङ्गीसरणी सरन्ती गन्धाहृता चम्पककुड्मलाग्रे ।
अन्तं प्रदीपस्य निषेवमाणा धूमावली कज्जलरेखिणीव ॥२७॥

विलोकयाक्ष्णोः शितिकान्तिजालैरुदन्यया वारिविगाहितायाः ।
रक्तोत्पलं तन्निकटप्ररूढमिन्दीवरत्वं गमितं हरिण्याः ॥२८॥

सञ्छादिते पद्मरजोवितानैः परिभ्रमन् वारिणि राजहंसः ।
स्ववर्त्मरेखाभिरसौ विभज्य प्रयच्छतीवाब्जवनं खगेभ्यः ॥२९॥

इयत्प्रमाणोऽपि सरःप्रदेशस्तव प्रसादेन ममास्तु भोग्यः ।
इत्येष सन्दर्शयतीव मद्गुर्हंसाय शोपाय विसारितांसः ॥३०॥

२५. तब मनोहारी वचन बोलने वाले, गुणों के भाण्डार (दशरथ) प्रसन्नता से आस पास की भूमि पर मधुर दृष्टिपात करते हुये, उस स्थान की देख रेख करने वाली परिचारिका से, जो उनके निकट चली आ रही थी, बोले । (उससे भी सौजन्यवश दो-दो बातें कीं, यह भाव है ।)

२६. हरिणी की सी आँखों वाली युवतियों ने इस फूल से लदे हुए वृक्ष को अपनी सुन्दर आँखों की ज्योति से बड़े चाव से देखकर रंग-बिरंगा कर दिया ।

२७. चम्पा की कलियों की सुगंध से आकृष्ट हो कर उसके ऊपर एक अविच्छिन्न पंक्ति में मँडराती हुई भ्रमरों की परम्परा ऐसी शोभायमान हुई जैसे प्रदीप की लौ के ऊपर घूमती हुई कज्जल रेखा युक्त धुँए की पंक्ति ।

२८ देखो जब पानी पीने की इच्छा से वह हरिणी पानी (झील) में घुसी तो उसकी आँखों की नीली प्रभा-जाल पड़ने से पास में उगे हुए लाल कमल (रक्तोत्पल) नीले कमल (इन्दीवर) से लगने लगे ।

२९. कमल-पराग के जाल से ढँके हुए जल पर तैरता हुआ यह राजहंस अपनी मार्ग-रेखा से कमलों के समूह का विभाजन कर जैसे पक्षियों को दे रहा हो ।

३०. यह मद्गु (एक जल पक्षी विशेष) अपने पंखों को सुखाने के लिये फैला कर जैसे हंस को दिखला रहा हो कि 'सरोवर का इतना भाग हमारे उपभोग के लिये, कृपया छोड़ दीजिये ।'

पद्मः सितोऽयं पवनावधूतैर्निर्धौतरागो नु तरङ्गलेशैः।
सम्भावितो नु द्रुहिणेन तावत् कृतादिकर्मापि न यावकेन ॥३१॥

ततः सलीलं सलिलं विभिन्दन्नेवं वदन्नेव वराङ्गनाभिः।
वृतो वृषेन्द्रोपमखेलगामी स दीर्घिकां दीर्घभुजो जगाहे ॥३२॥

तस्योरसि क्षत्रकुलैककेतोस्तरङ्गदोष्णा कमलाकरेण।
न्यस्ता मुहुः पङ्कजरेणुपङ्क्तिः सौवर्णं सूत्रश्रियमाततान ॥३३॥

पद्माकरो वारि विगाहमानं कामीव रामाजनमूरुदघ्नम्।
वीचीकराग्रेण नितम्बभागे व्यास्फालयामास शनैः सशब्दम् ॥३४॥

तस्यावगाहे वनिताजनस्य दूरीकृतः पीननितम्बचक्रैः।
लब्धप्रवेशस्तनुपूदरेषु स्तनैरुदासेऽथ सरस्तरङ्गः ॥३५॥

क्रीडापरिक्षोभरयेण तासामुत्सारिते पङ्कजरेणुजाले।
कुसुम्भरक्तादिव कञ्चुकात्तत् कृष्टं बभासेऽम्बुरुहाकराम्भः ॥३६॥

३१. यह कमल क्या इस कारण सफ़ेद हो गया है कि इसके रंग को वायु-सञ्चालित लहरियों के जलकणों ने धो डाला है। अथवा क्या ब्रह्मा ने इसको अपनी सब से पहिली कृति होते हुए भी उसका लाक्षा-रस से आदर नहीं किया।

३२. इस प्रकार बातचीत करते हुए, एक श्रेष्ठ बैल के समान खेलते हुए चलने वाले, दीर्घ बाहु, दशरथ, वराङ्गनाओं से घिरे हुए, खेलते-कूदते, पानी को चीरते हुए उस सरोवर में पैठे।

३३. कमलों के भाण्डार उस सरोवर ने, अपने तरंग रूपी हाथों से, क्षत्रिय कुल के एक मात्र केतु, दशरथ के वक्षस्थल पर, कमलों के पराग की एक पंक्ति खींच दी जो सोने की डोरी के लावण्य का रह रह कर विस्तार कर रही थी।

३४. कमलों से भरा वह सरोवर, जांघ तक जल में घुसी हुई युवतियों के नितम्ब भाग को, लहरियों की अंगुलियों से, कामी पुरुष की तरह शब्द करता हुआ, धीरे-धीरे थपथपा रहा था।

३५. जब युवतियां जल में घुसीं तो उनके मांसल नितम्ब के चक्र से खदेड़ी हुई एक लहर उन युवतियों पतले उदर में पहुँच गई पर वहां से भी स्तनों ने उसे बाहर ढकेल दिया।

३६. कमलों का पराग-जाल उनकी (युवतियों की) क्रीड़ा से आलोड़ित होने के कारण बहुत क्षुब्ध हो गया। तब कमलों से भरा हुआ उस सरोवर का जल ऐसा चमकने लगा जैसे वह उनकी (युवतियों की) कुसुम्भी कञ्चुकी से निचोड़ कर निकाला गया हो।

रामाभिरुत्कण्टकदण्डमग्रे सम्भावितं न च्छिदया सरोजम् ।
इन्दीवराणामुदहारि पङ्क्तिर्दीसा मृदुष्वेव जनस्य शक्तिः ॥३७॥

बालापरिष्वङ्गसुखाय पत्युरन्तर्जलावारितमूर्ति यातुः ।
विघ्नाय वैमल्यमपां बभूव व्यर्थः प्रसादो हि जलाशयानाम् ॥३८॥

भृङ्गा निलीनेन सरोजखण्डे योषिद्द्वितीयेन नराधिपेन ।
उत्सारिता वक्तुमिवापरासां कर्णान्तमीयुर्निहितावतंसम् ॥३९॥

नृपेण केलीकलहेऽपरस्याश्छिन्नच्युतस्याम्बुजिनीपलाशे ।
हारस्य वीचीकणिकाः समीपे पूर्वस्थिताः संवरणान्यभूवन् ॥४०॥

क्रीडाविमर्दे वलयस्य भिन्नभ्रष्टस्य चिक्षेप विकृस्य खण्डम् ।
स्वच्छे जले बालमृणालभङ्गशङ्काहृतः शङ्खमयस्य हंसः ॥४१॥

३७. सामने फूले हुए कमल को, जिसके नाल में काँटे थे, उसे तोड़कर उसका आदर नहीं किया । (परन्तु) उन्होंने नील कमल की पंक्ति उखाड़ डाली (क्योंकि उनमें काँटा नहीं था) । मनुष्य की क्रूर शक्ति का उपयोग निर्बल ही पर होता है ।

३८. एक बाला के आलिङ्गन का सुख उठाने के लिये, जल के भीतर डुबकी लगा कर अपने शरीर को छिपाये हुए तैरने में निर्मल जल ने पति के सामने विघ्न उपस्थित कर दिया । जलाशय की स्वच्छता भी कभी-कभी व्यर्थ हो जाती है ।

विशेष—जल की निर्मलता के कारण जल के भीतर उनका शरीर दिखलाई पड़ता था, अतः छिप कर आलिंगन करने जाना व्यर्थ हो गया । यह भाव है ।

३९. एक युवती के साथ छिपे हुए राजा से भगाये हुए भृङ्ग एक दूसरी युवती के गहने से विभूषित कान के पास जैसे कुछ कहने चले गये ।

विशेष—यह कहने के लिये कि राजा एक दूसरी युवती के स्थान अमुक साथ में छिपे हैं । यह भाव है ।

४०. जल-विहार के समय, झपटा-झपटी में राजा से किसी युवती का (मोती का) हार टूट कर कमल दल पर बिखर गया । उस दल पर पहिले ही से, समीप में पड़े हुए, लहरियों के जलबिन्दुओं ने उसे (हार को) अपने में छिपा लिया ।

विशेष—जलबिन्दुओं के साथ जो स्वयं मोती के समान थे, मिलजुल जाने से यह पता नहीं चलता था कि कौन जलबिन्दु है और कौन मोती है । यह भाव है ।

४१. जल-क्रीड़ा में परस्पर संघर्ष के कारण एक युवती का शंखों से बना कंकण जल में गिर पड़ा । हंस ने उसे स्वच्छ जल में पड़ा हुआ छोटे कमल के टुकड़े की शंका से खींच कर निकाल लिया और फिर फेंक दिया ।

विशेष—जब यह देख लिया कि यह कमल का टुकड़ा नहीं है तो उसे तुरन्त फेंक दिया । यह भाव है ।

रोधोलतामण्डपयातकान्तासम्भोगतः सर्पति काञ्चिनादे।
ररक्ष राजानमथ व्यलीकादुत्रासमुक्तः कलहंसनादः ॥४२॥

निरुद्धहासस्फुरिताधरोष्ठः सद्यः समाविष्कृतरोमहर्षः।
जलावमग्नप्रमदोपगूढेरुद्धासकस्तस्य वभूव गण्डः ॥४३॥

फुल्लं यदीदं कमलं किमेवमत्रैव नीलोत्पलयोर्विकासः।
इत्यात्तशङ्को वदनं सुदत्या हंसः सिषेवे न सरस्तरन्त्याः ॥४४॥

सुगन्धिनिश्वासगुणावकृष्टं मुखे पतन्तं करपल्लवेन।
दुर्वारमन्तःसलिलप्रवेशात् तत्याज काचिद् भ्रमरीसमूहम् ॥४५॥

मत्स्येन चीनांशुकपृष्ठलक्ष्यकाञ्चीमणिग्रासकुतूहलेन।
आघ्राय मुक्तोपनितम्बमेका संत्रासभुग्नभ्रु चिरं चकम्पे ॥४६॥

तत्याज नो सव्यपदेशमन्या व्युदस्तवासाः सलिलं नृपेण।
स्थानप्रयुक्तः कपटप्रयोगः कचिद्विपत्तेर्हिजनं भुनक्ति ॥४७॥

४२. क्रीड़ा-सर के तट पर गई हुई रमणी के साथ सम्भोग के समय, मेखला की झन-झनाहट से डरे हुए हंस के कलरव ने दशरथ को अप्रिय बात के कष्ट से रक्षा की। अर्थात् सम्भोग का भेद न खुल पाया।

४३. हँसी रोकने के कारण फड़कते हुए ओठ और सहसा रोमाञ्च हो आने से उनके (दशरथ के) चेहरे ने स्पष्ट कर दिया कि उन्होंने जल के भीतर एक युवती का गाढ़ आलिङ्गन किया है।

४४. "यदि यह श्वेत कमल है तो इसमें दो नीलोत्पल क्यों खिले हैं"—इस प्रकार जब हंस की शंका का समाधान हो गया तो वह सुन्दर दाँतों वाली, तैरती हुई युवती के फेर में नहीं पड़ा।

४५. एक लड़की जब अपने सुकोमल हाथों से, उसके सुरभिनिश्वसन से आकृष्ट होकर भ्रमरियों के एक झुंड को जो उसके मुख पर टूटा पड़ता था, नहीं भगा सकी तो उसने गहरे पानी के भीतर पैठ कर उनसे अपना पिंड छोड़ाया।

४६. एक दूसरी स्त्री जिसकी भौंहें डर से संकुचित हो गई थीं, बहुत देर तक काँपती रही, जब एक मछली, उसकी चीन के रेशमी कपड़े की बनी हुई कुरती के भीतर से दिखलाई पड़ने वाले गहने को खाने के लिये आई और उसके नितम्बों के पास सूँघ-साँघ कर चली गई।

४७. जब राजा ने एक स्त्री को नग्न कर दिया तब वह बहाने से जल के बाहर नहीं निकली। ठीक समय पर किया गया बहाना, आई हुई विपत्ति से मनुष्य की रक्षा करता है।

हृतान्तरीया हृदयेश्वरेण व्रीडोपतप्ता पयसः प्रसादात् ।
व्यर्थप्रणामाश्रुनिपातवृत्तिः काचिज्जलं सम्भ्रमयाञ्चकार ॥४८॥

सामि प्रबुद्धस्य कुशेशयस्य कोशे मुखन्यासविरुद्धदृष्टिम् ।
स्प्रष्टुं प्रयेते कलहंसशावं निःशब्दमुत्खण्डित वीचिकाचित् ॥४९॥

सङ्क्षोभितोद्दामसरस्तरङ्गक्षिप्ता किलैका नृपतिं कुचाभ्याम् ।
आहृत्य धृष्टत्वकृतापवादव्यपायरम्यं मुहुराललम्बे ॥५०॥

अन्या पुराणं निजमेव वीचिविक्षालिताङ्गेऽधिपतेः पृथिव्याः ।
पदं नखस्य स्फुटकुङ्कुमाङ्कं दृष्ट्वा परं संशयमाललम्बे ॥५१॥

किं राजहंसस्य शशाङ्कविम्बच्छायामुपश्चञ्चुरियं प्रवालैः ।
वद्धा नु गन्धोज्ज्वलकेशराग्रच्छेदेषु दिग्धा नु सरोजकान्त्या ॥५२॥

भृङ्गोऽयमिन्दीवरमध्यपातसञ्चारितैस्तद्द्युतिरञ्जितो नु ।
निधाय वायं निजपक्षशोभामादत्त नु स्वादुमतः परागम् ॥५३॥

४८. एक दूसरी बाला जिसे उससे हृदयेश्वर ने नग्न कर दिया था, वह जल के पारदर्शक होने के कारण लज्जा से घबरा कर इधर-उधर जल में चक्कर काटने लगी, जब रोने पर भी उन्होंने उसके अनुनय विनय को नही माना ।

४९. एक हंस के बच्चे को जो एक अधखिले कमल में चोंच डुबो देने के कारण बाहर नही देख सकता था, एक रमणी ने चुपके-चुपके लहरियों को चीरते हुए पकड़ना चाहा ।

५०. क्षुब्ध होने कारण एक दीर्घ तरंग से आगे ढकेली जाकर, एक स्त्री ने अवश्य ही राजा को अपने स्तनों से धक्का दे दिया । उसका यह व्यापार इस कारण और सुखद हो गया क्योंकि ऐसी परिस्थिति में उस पर धृष्टता का दोष नहीं लगाया जा सकता था ।

५१. पृथ्वीपति (दशरथ) के शरीर पर, जो लहरों से धुलकर स्वच्छ हो गया था, अपने ही किये हुए पुराने नखक्षतों को जिनमें कुंकुम लक्षित था, देख कर एक स्त्री को बड़ी शंका हुई ।

५२. चन्द्रबिम्ब की चोरी करने वाले (अर्थात् चन्द्रबिम्ब के समान उज्ज्वल) इस राजहंस की चोंच क्या प्रवाल से बंधी हुई है ? अथवा सुगंधित केसर वृक्ष के अग्रभाग के ये टुकड़े कमल की कान्ति से लपेटे हुए हैं ?

५३. क्या यह भृङ्ग, नीलकमलों पर मंडराते हुए बैठकर उनकी कान्ति से रंग गया है ? अथवा इसने उन्हें अपने परों की शोभा दे कर उनके बदले में उनसे स्वादिष्ट पराग ले लिया है ?

पद्मा पदं पद्मवने विभिन्नवीचीकणार्द्रद्रुतयावकाङ्कम् ।
चक्रे चिरं चारुतया नु लोभादित्यास कासामपि तत्र तर्कः ॥५४॥

यातो नु भृङ्गः पतितः पुरास्मिन् वीजत्वमेवं नु विरिञ्चिसृष्टिः ।
विपाकनीलद्युति पद्मवीजं कोशादुदस्येति कयाचिदूचे ॥५५॥

प्रियोऽपरस्या गलितान्तरीये व्यापारयामास दृशौ नितम्बे ।
तद्धस्तवन्त्रच्युतवारिधारा नालं वभूवास्य मुखारविन्दे ॥५६॥

सायं समादाय निकामपीतसुप्तद्विरेफं मुकुलं सरोजम् ।
काचित्करास्फालित दीर्घदण्डा भर्तुर्भुवः कूजयति स्म कर्णे ॥५७॥

सा पद्मिनी पद्मविलोचनेभ्यो याते पतङ्गे विससर्ज भृङ्गान् ।
समुच्छ्वसत्कौमुदगन्धलुब्धान् स्थूलानिवोढाञ्जनवाष्पबिन्दून् ॥५८॥

नूनं पती स्थावरजङ्गमानां पर्यायविश्रामपरार्थतन्त्रौ ।
एकत्र मज्जत्यधिवारि सिन्धोरन्यो जहौ तत्कमलाकराम्भः ॥५९॥

५४. "क्या कमल वन के सौंदर्य से प्रलुब्ध होकर लक्ष्मी उसमें अपना चरण बहुत देर तक रखे थी ? जिस कारण उनके महावर का रंग लहरियों की फुहार से घुल कर उनमें (कमलों में) आ गया ?" इस सम्बन्ध में ऐसा तर्क कुछ स्त्रियों का था।

५५. किसी (भोली-भाली) स्त्री ने गहरे नीले रंग के कमलगट्टे (बीज) को भीतर से निकाल कर कहा "क्या यह कोई भृङ्ग है जो पहिले किसी समय इसमें गिर गया था और बीज हो गया ? अथवा ब्रह्मा की सृष्टि इसी रूप में हुई थी ।"

५६. प्रिय राजा ने अपनी आंखों को एक दूसरी रमणी के नितम्ब की ओर फेरा जिस पर से वस्त्र सरक गया था । उस स्त्री के यंत्रवत हाथ से फेंकी हुई धारा राजा के कमल सदृश मुख में कमल नाल के समान हो गई ।

५७. एक स्त्री , सन्ध्या के समय, एक लम्बे नाल-दण्ड में लगे हुए कमल को तोड़ कर जिसकी कली के भीतर, भृङ्ग उसके रस को मनमाना पीकर सो रहे थे, उसे हाथ में लेकर पृथ्वी के स्वामी (दशरथ) के कान में कुछ कहने लगी ।

५८ सूर्य के चले जाने पर (अर्थात् सूर्यास्त होने पर) सरसी के कमल रूपी नेत्रों से, खिलते हुए कुमुद के सुगन्ध से प्रलुब्ध होकर भौंरे ऐसे निकलने लगे जैसे नवोढ़ा के नेत्रों से कज्जल मिश्रित अश्रुबिन्दु निकल रहे हों ।

५९. स्थावर और जङ्गम सृष्टि मात्र के स्वामियों ने एक दूसरे को विश्राम देने के लिये अवश्य ही एक अविच्छिन्न कार्यक्रम बना रखा है । (देखो) जब सूर्य, समुद्र में डूबता है (अर्थात् जब सूर्यास्त होता है) तब उसके स्थान पर चन्द्रमा कमलों से भरे सरोवर को छोड़ता है । (अर्थात् चन्द्रोदय होता है ।)

सरोजिनी तत्परिभुक्तमुक्ता मूर्च्छातुरेव स्तिमिता विरेजे ।
निद्राहृताम्भोजनिमीलिताक्षी रुग्णं मृणालीवलयं दधाना ॥६०॥

कृतोपकारस्य निधाय जग्मुर्द्वयं द्वयोरम्बुरुहाकरस्य ।
भृङ्गावलीष्वञ्जनमायताक्ष्यः पद्मेषु दन्तच्छदयावकं च ॥६१॥

सरः सहंसं सह कामिनीभिर्विहाय तुल्यो वृषवाहनस्य ।
विभूषितो लम्भितभूपजानिरध्यास्त सौधं वसुधाधिनाथः ॥६२॥

आकृष्टदृष्टिर्गगनस्य लक्ष्म्या लक्ष्मीभुजा वासरसन्धिभाजः ।
काचित्कुचानम्रतनुर्बभासे बाला सवालव्यजनैकपाणिः ॥६३॥

सकुङ्कुमस्त्रीकुचमण्डलद्युतिः प्रवासिनां चेतसि चिन्तयातुरे ।
निधाय तापं तपनः पतत्यसौ विलोलवीचावपरान्तसागरे ॥६४॥

इयं तनुर्वासरसन्धिचारिणी जगत्सृजो विद्रुमभङ्गलोहिनी ।
समं विधत्ते मुकुलं सरोरुहैर्हिरण्य बाहोरपि हस्तपङ्कजम् ॥६५॥

६०. जब राजा ने केलि के अनन्तर सरसी का परित्याग किया तो वह सरसी जिसकी कलाइयों में मृणालतन्तुओं का घुमावदार कड़ा पड़ा था और जिसकी कमल रूपी आँखें नींद से भारी हो गई थीं, चुपचाप पड़ी हुई ऐसी शोभायमान हो रही थी जैसे वह मूर्छा में हो।

६१. तब वे बड़ी-बड़ी आँखों वाली रमणियाँ, वहाँ दो चीजें देकर चली गईं। उपकार करने वाले सरोवर के भृङ्ग समूह को अपनी आँखों का कज्जल, और कमलों को अपने होठों पर लगे, लाल रंग।

६२. पृथ्वी के स्वामी (दशरथ) जिनकी पत्नी आभरणों से अलङ्कृत थीं, और जो स्वयं शिव के समान थे, उस सरोवर को अपनी प्रमदाओं सहित अपने महल में रहने लगे।

६३. एक कामिनी से जिसके हाथ में बाल का बना पंखा था, जो सन्ध्याकालीन आकाश के सौंदर्य को निहार रही थी और जिसका शरीर कुचों के भार से नत था, उससे लक्ष्मीवान् (दशरथ) बोले।

६४. (देखो) यह सूर्य जो स्त्रियों के, केसर से रञ्जित गोल स्तन के सदृश शोभायमान है, परदेसियों के चित्त में तपन छोड़ कर, तरङ्गों से आन्दोलित पश्चिमी समुद्रान्त में डूब रहा है।

६५. यह देखो संसार का सृजन करने वाला (सूर्य), जिसकी सोने की तरह दमदमाती हुई रश्मियाँ, सन्ध्या में फैल रही हैं और जो फूटे हुए मूँगे के सदृश लाल है, ऐसा शरीरधारी यह सूर्य, कमल (की पंखुड़ियों) की तरह, अपने कमल के समान हाथ (हाथों की अंगुलियों को) सिकोड़ रहा है।

अयं प्रमाणं पयसः पयोनिधौ निमज्य संदर्शयतीव भानुमान् ।
करेण वीचीवलयस्य मस्तके विभाव्यमानस्फुरिताग्रकोटिना ॥६६॥

विकीर्णं सन्ध्यारुणितं शतक्रतोर्दिशः प्रदेशादभिनिष्पतत्तमः ।
पतङ्गतेजः परिताप लोहितं जगत्क्रमेण व्रजतीव निर्वृतिम् ॥६७॥

हिमांशु विम्बे पुरुहूतदिङ्मुखेस्मितश्रियं विभ्रति कोमलद्युतौ ।
विसृज्यमानं तमसा नभस्तलं जहाति निर्मोकमिवाञ्जनत्विषा ॥६८॥

अथैवमस्यावसरे वचःश्रियः समीक्ष्य निष्ठामुपनीतमास्थया ।
अपाययन्त प्रमदा मदालसाः स्खलद्गिरास्तं मधु लम्भितादराः ॥६९॥

प्रियोपनीतं पिबतोऽधिवासितं नृपस्य गण्डूषमधु प्रकामतः ।
बभूव दन्तच्छदपल्लवस्तदा निपीतपानावसरोपदंशकः ॥७०॥

प्रियेण वध्वा मधुलासितोत्पलं विपक्षगोत्रेण निगद्य लम्भितम्।
अपीतमप्यक्षि विधाय रागवत् ततान सद्यः श्रमवारि गण्डयोः ॥७१॥

६६. (देखो) यह सूर्य, तरङ्गों के कंकण पहिने हुए समुद्र में डूब कर, उसके मस्तक के ऊपर स्पष्टतया छिटकी हुई अपनी किरणों के अग्रभाग से यह दिखला रहा है कि जल की इतनी गहराई है।

६७. पश्चिम दिशा जिसका अन्धकार दूर हो गया था और जो सन्ध्या की आभा फैल जाने से लाल हो गई थी वह, सूर्य के तेज से सन्तापित जगत को जैसे क्रमशः मोक्ष की ओर ले जा रही हो।

६८. जब कोमल कान्ति वाले चन्द्रबिम्ब ने पश्चिम दिशा के मुख पर अपना मुसकराता हुआ सौंदर्य प्रदान किया तब आकाश ने अपने ऊपर से चमकते हुए कज्जल के आवरण को केंचुली की तरह छोड़ दिया।

६९. उनके (राजा के) उत्तम कथन के बाद जब युवतियों ने समझ लिया कि इस समय उनकी (राजा की) मनोवृत्ति बहुत अच्छी है (अर्थात् उनकी तबीयत मौजूं है) तब काम के मद से अलसायी और उसके कारण रुक-रुक कर बोलने वाली, राजा के प्रति आदर युक्त उन युवतियों ने एक परिचारिका की लाई हुई मदिरा को उन्हें पिलाया।

७०. जब राजा अपनी प्रिया के मुंह से मुंह में मुंह लगा कर उसकी दी हुई सुवासित मदिरा जी भर पी रहे थे, तब उसके किसलय के समान ओठों ने उस अवसर पर राजा के छक कर पिये होने पर भी, उत्तेजक द्रव्य का काम किया।

७१. जब प्रियतम (राजा) ने एक तरुणी को उसकी सौत का नाम लेकर कमलों से सुवासित मदिरा दी तो यद्यपि उसने नहीं पी फिर भी उसकी आँखें तुरन्त लाल हो गईं और उसकी कनपटी पसीने से भर गई। (ईर्ष्या और अपमान के कारण।)

त्विषा मुखेन्दोर्मुकुलत्वमम्बुजे करेण नीते सति शर्वरीकृतः ।
प्रियेक्षणस्य प्रतिविम्बमाचरत् सरोजकृत्यं मधुभाजि भाजने ॥७२॥

यियासुना पङ्कजगर्भसौरभं मुखं तदीयं प्रतिविम्बमूर्तिना ।
समन्मथेनेव तरङ्गितासवे मुहुश्चकम्पे चषके हिमांशुना ॥७३॥

विलासवत्यो मदघूर्णलोचना निरूपयन्त्यः शुचिरूप्यभाजने ।
स्थितस्य मुग्धा मधुनो न जज्ञिरे स्वरूपमिन्दुप्रतिरूपगापितम् ॥७४॥

विधूय मानादपि पूर्वमासवः प्रवृद्धवामत्वमनन्यसाधितम् ।
स्मरं नु तासां हृदये विलोचने बबन्ध रागं नु मुखे नु सौरभम् ॥७५॥

इति प्रबन्धाहितपानकातरं प्रियाङ्कतल्पे शयितं निशात्यये ।
व्यबोधयन्मङ्गलवन्ति बन्दिनो विधाय वाक्यानि विधातृतेजसम् ॥७६॥

जहिहि शयनमुद्गमस्य कालः समुपनमत्यनुरक्तमण्डलस्य ।
भुवनशिरसि कीर्णपादधाम्नो भवत इव क्षततामसस्य भानोः ॥७७॥

७२. जब मदिरा के प्याले में पड़े हुए कमल ने चन्द्र के समान मुख वाली स्त्रियों की मुख-श्री एवं चन्द्र की रश्मियों के कारण अपनी पंखुड़ियों को बन्द कर लिया तो चषक में उसकी प्रिया की आँखों के प्रतिबिम्ब ने कमल का काम कर दिया।

७३. चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब, हलकी उफनाती हुई मदिरा से भरे चषक में कुछ ऐसा काँप उठता था जैसे यह काम-विह्वल होकर उस सुन्दरी के कमलगर्भ के समान सुवासित मुख में घुसना चाहता हो।

७४. इठलाती हुई भोली-भाली युवतियाँ, जिनकी आँखें मद से घूम रही थीं और चाँदी के चषक के भीतर ध्यान से देख रही थीं, वे मदिरा के रंग को, चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से छिप जाने के कारण पहिचान नहीं सकीं।

७५. अभिमानिनी होते हुए भी, अन्य स्त्रियों से बढ़ी-चढ़ी, उस स्त्री की कुटिलता को दूर कर मदिरा ने अवश्य ही उसके हृदय में काम, आँखों में ललाई और मुख में सौरभ का सञ्चार किया।

७६. रात्रि बीतने पर चारणों ने मङ्गलाचरणों से, प्रजापति के समान तेजस्वी राजा को जो, मदिरा के निरन्तर पान से अशक्त होकर अपनी प्रिया की गोद रूपी शय्या पर सो रहे थे, जगाया।

७७. "कृपया शय्या को छोड़िये, देखिये सूर्य, जिनका मण्डल रक्त वर्ण है, जो अपने किरणों की प्रभा बाहर दिखा रहे हैं और जिन्होंने अन्धकार का नाश कर दिया है, उनकी आपकी तरह पृथ्वी पर उठने का समय निकट पहुँच रहा है।"

विरामः शर्वर्या हिमरुचिरवाप्तोऽस्तशिखरं
किमद्यापि स्वापस्तव मुकुलिताम्भोरुहदृशः ।
इतीवायं भानुः प्रमदवनपर्यन्तसरसीं
करेणाताम्रेण प्रहरति विबोधाय तरुणः ॥७८।

समुत्तिष्ठन्त्येते निगडकृतझङ्कारमपरं
शनैराकर्षन्तः करटतटलीनालिविततीः ।
निरस्यन्तो हेलाविधुतपृथुकर्णान्तिपवनै-
र्द्विपास्ते दन्ताग्रस्थितकरमुदस्याननतटम् ॥७९॥

पादेनैकेन तिष्ठन् पटुपटहरवैर्बोधितस्ते मयूरः
पश्चात्पक्षेण सार्धं चिरशयनगुरुं पादमन्यं वितत्य ।
उत्फुल्लोद्धूतपक्षच्युतहिमकणिकावृष्टिरावासयष्ट्यां ।
दृष्ट्वा मार्तण्डधामोदयमुदितमुदोज्जृम्भते ताण्डवार्थी ॥८०॥

७८. "रात्रि समाप्त हो चुकी, चन्द्रदेव अस्ताचल को चले गये। हे मुकुलित कमलाक्षी ! तू क्या अब तक सो रही है !" यह कह कर क्रीड़ोद्यान तक फैली हुई सरसी को जगाने के लिये यह तरुण सूर्य अपने आताम्रकरों से थपकियाँ दे रहा है।

विशेष—श्लेष—कर=हाथ=रश्मि ।

७९. देखिये; यह आपके हाथी, अपनी अद्वितीय झन्कार करती हुई जंजीरों को धीरे-धीरे खींच रहे हैं, अपनी कनपटी पर बैठी हुई मक्खियों के समूह को, इतमीनान से, अपने स्थूल कानों के अग्रभाग के फटफटाने से निकली हुई हवा से उड़ाते हुए, और अपने मुंह के किनारों से निकले हुए दाँतों के अग्रभाग पर जिनके सूंड़ पर पड़े थे, उनको ऊपर करते हुए, उठ रहे हैं।

८०. अपने अड्डे पर एक टाँग पर बैठा हुआ यह आपका मयूर, जो देर तक सोने के कारण गरुआय गया था, उसने नगाड़े की गम्भीर ध्वनि से जाग कर, दूसरे पैर को, अपनी पूंछ के साथ फैला कर, अपने फड़फड़ाते हुए पंखों से हिमकणों की फुहार गिराता हुआ, सूर्य की उदयश्री से हर्षोत्फुल्ल, ताण्डव नृत्य करने की इच्छा से उठ खड़ा हुआ है।

पूर्वाद्रौ सूर्यपादे चरति विसृजता चन्द्रपादावदातं
तल्पं तेनानुचक्रे मलयतरुरसामोदितांसद्वयेन ।
उन्निद्रश्वेतपद्मप्रकरपरिकरच्छन्नवीचीविताना-
दुद्यन्मन्दं सरस्तः सलिलगुरुवृहत्पक्षतिर्मल्लिकाक्षः ॥८१॥

इति तृतीयः सर्गः

८१. जब सूर्य अपनी प्रभा पूर्व के पर्वत पर बिखेर रहे थे, तब राजा दशरथ, जिनके कंधे मलय (नन्दन वन) क वृक्षों के रस से सुरभित थे, अपनी चाँदनी के समान उज्ज्वल शय्या से उठते हुए ऐसे लगते थे जैसे मल्लिकाक्ष हंस, जिसके बड़े-बड़े डैनों के नीचे के कुहर पानी के कारण भारी पड़ गये थे, वह धीरे-धीरे सरोवर के भीतर से, उठ रहा है, जिस सरोवर के चारों ओर फैले हुए लहरों के वितान को फूले हुए श्वेत कमल की परम्परा ने छिन्न-भिन्न कर दिया ।

तृतीय सर्ग समाप्त

चतुर्थः सर्गः

अथ स प्रविजृम्भिते शुचौ विधुरश्चेतसि पुत्रकाम्यया ।
सुबहुद्विजसात्कृताखिलद्रविणः स्तोममयष्ट भूपतिः ॥१॥

बहुशो विफले तदध्वरे सति पुत्रीयमनन्तरं क्रतुम् ।
निरवर्तयदृष्यशृङ्ग इत्यभिधानप्रथितस्तपोनिधिः ॥२॥

उदियाय ततोऽस्य कश्चन श्रितचामीकरभाजनं चरुम् ।
परिगृह्य रुचा परिज्वलन् ज्वलतो रोहितवाजिनः पुमान् ॥३॥

प्रविवेश विशाम्पतिश्चरुं चतुरंशीकृततेजसात्मना ।
प्रविधातुमरातितापितत्रिदशाश्रुस्रववृष्ट्यवग्रहम् ॥४॥

दयिताभिरनन्ततेजसा मुनिनासौ परिकल्पलम्भितः ।
अशितः प्रविभज्य भूपतेस्तिसृभिर्गर्भमवीभवच्चरुः ॥५॥

सुतयोर्भवतः स्म बालिजिद्भरतौ कोशलकेकयेन्द्रयोः ।
यमजौ यमतुल्यतेजसौ सुषुवाते समये सुमित्रया ॥६॥

१. तब चिन्ता-उद्विग्नचित्त पृथ्वीपति (दशरथ) ने पुत्र की कामना से, प्रज्ज्वलित अग्नि के सामने, अपने अखण्ड धन से बहुत से ब्राह्मणों का सत्कार कर अनेकों यज्ञ किये।

२. जब बहुत से यज्ञ करने पर भी राजा विफल हो गये तब, अपने नाम से सुप्रसिद्ध, तपस्या के भाण्डार ऋष्यशृङ्ग ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया।

३. (तब) प्रभा से देदीप्यमान एक पुरुष उस धधकती हुई अग्नि के भीतर से सुवर्ण पात्र में 'चरु' लिये हुए निकला।

विशेष—'चरु'=हव्यान्न ।

४. तब देवताओं के स्वामी (दशरथ) जिनके तेज को उनकी आत्मा ने चार भागों में विभक्त कर दिया था, शत्रुओं से संतप्त देवताओं के बहते हुए आँसुओं के सुखाने के हेतु उस चरु (हव्यान्न का बर्तन) में प्रविष्ट हुए।

५. उस असीम बलधारी तपस्वी द्वारा नियमित उस चरु को जब भूपति की तीनों रानियों ने विभक्त कर खाया तो उस चरु ने तीनों के भीतर गर्भ उत्पन्न कर दिया।

६. कोसलाधिपति और केकय राज की पुत्रियों (कौशल्या और कैकेयी) से क्रमानुसार बलि के जीतने वाले (राम) और भरत पैदा हुए और समय से सुमित्रा ने यमराज के समान तेजस्वी जुड़ौरा पुत्र (लक्ष्मण और शत्रुघ्न) पैदा किये।

अथ दिव्यमुनिप्रवर्तितप्रसवानन्तरजातकर्मणाम् ।
रुरुचे चरुजन्मनां दशा तनुसंदिशतदन्तकुड्मला ॥७॥

न स राम इह क यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ॥८॥

मुखमाहृतधूलि गण्डयोः करघृष्टाञ्जनदानमस्य तत् ।
विबभौ सुरदन्तिनो यथा वदनं दन्तचतुष्टयोज्ज्वलम् ॥९॥

कतरस्तव तात उच्यतामिति धात्रीवचनप्रचोदितः ।
रुचिरेण करेण निर्दिशन् जगदीशं प्रमदेन सन्दधौ ॥१०॥

अयि दर्शय तत्किमुन्दुराद् भवतो पात्तमिति प्रचोदितः ।
प्रविदर्शयति स्म शिक्षया नवकं दन्तचतुष्टयं शिशुः ॥११॥

इतरेऽपि सरोजशीतलैर्मृदुभिः साञ्जनराजिभिः करैः ।
शयने समवाहयन् पितुश्चरणौ मातृजनेन चोदिताः ॥१२॥

७. प्रसव के अनन्तर जब स्वर्ग के ऋषि ने उनका जातकर्म संस्कार कर दिया तब चारु से उत्पन्न उन चारों बालकों का शरीर छोटे-छोटे दाँतों के निकल आने पर बड़ा शोभायमान हुआ।

८. 'राम यहाँ नहीं हैं। कहाँ चले गये' ऐसा जब स्त्रियाँ (खेलवाड़ में) कहने लगी तो उनके सामने ही उस बालक (राम) ने बहाने से हाथों से अपना मुँह ढक लिया जैसे वहाँ हैही नहीं।

९. धूल से भरा हुआ उनका शरीर जिसमें चार दाँत झलक रहे थे, और हाथों की रगड़ से काजल से पुते हुए दोनों गाल से वे (राम) उज्ज्वल चार दाँत वाले ऐरावत की तरह शोभायमान लगते थे।

१०. 'बताओ हे पुत्र, इन दोनों में कौन तुम्हारा पिता है, इस तरह से धाय से पूछे जाने पर वह (राम) जगदीश की ओर सुन्दर हाथ से इशारा कर, बड़े हर्ष से उनसे जाकर लिपट गया।

११. "अरे, बताओ तो तुमने चूहे से क्या लिया है?" ऐसा पूछे जाने पर पहिले ही से सिखाया-पढ़ाया वह बच्चा (राम) अपना नये-नये चारु दाँत दिखा देता था।

१२. अपनी माताओं से सिखाये जाने पर और दूसरे बच्चे भी (लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) शय्या पर लेटे हुए पिता के पैर, कज्जल से शोभायमान, मुलायम हाथों से दबाने लगते थे।

शयनीयगतस्य भूपतेः शिशवः क्रोडनिवेशवाञ्छया ।
निशि वर्धितमातृसंपदं कलहं कोमलजल्पितं दधुः ॥१३॥

क्रमशश्चरुजन्मनो वपुःपरिवृद्धिर्महिता महीयसः ।
प्रतिवासरमायुषः क्षयस्त्रिदशारेरपि तुल्यमासतुः ॥१४॥

धनुषि प्रतिलब्धपाटवे नृपतेरन्यतरेद्युरात्मजे ।
भवनं भुवनस्य शासितुः प्रतिपेदे मुषितक्रतुर्मुनिः ॥१५॥

स्वकिरीटमणिप्रभाम्बुभिः प्रथमक्षालितपादपङ्कजम् ।
नृपतिः समवीभवन्मुनिं पुनरुक्तैरिव पाद्यवारिभिः ॥१६॥

कुशलं परिपृच्छ्य सर्वगं मुनिरध्यासितरत्नविष्टरः ।
उपविष्टमसौ भुवस्तले विरतं राजमुनिं जगौ गिरम् ॥१७॥

स्वजनादपि लब्धवैशसे नृपतित्वे शठभृत्यसंपदि ।
प्रियवादिरिपावपि स्थितो नृप दिष्ट्या कुशलेन वर्तसे ॥१८॥

१३. रात्रि के समय, सोने के हेतु शय्या पर पड़े हुए, भूपति के वक्ष पर लेटने के लिये, वे बच्चे, बड़ी प्यारी बोलियों से आपस मे लड़ते-झगड़ते थे, जिससे उनकी माताओं का वात्सल्य स्नेह उमड़ पड़ता था ।

१४. चरु से उत्पन्न उस ऐश्वर्यशाली (राम) की अभिलषित शरीरोत्कर्ष दिन पर दिन बढता जाता था और उसी प्रकार देवताओं के शत्रु (रावण) की आयु प्रति दिन घटती जाती थी ।

१५. जब महाराज के पुत्र धनुर्विद्या मे पारङ्गत हो गये तो एक दिन उस भुवन के शासन-कर्ता (दशरथ) के घर पर एक तपस्वी आये जिनका यज्ञ विध्वंस कर दिया गया था । (अर्थात् जिनका यज्ञ राक्षसों ने विध्वंस कर दिया था ।)

१६. राजा ने ऋषि के चरणकमलों पर नत होने के समय, पहिले अपने मुकुट से निकलती हुई किरण रूपी जल से उन चरणों का प्रक्षालन किया, फिर उन्हें धोने के लिये अर्घ्य का जल समर्पित किया । जैसे पुनरुक्ति की भाँति एक ही काम दोहारा दिया गया हो ।

१७. जब मणियों के आसन पर बैठे हुए मुनि से भूमि पर बैठे हुए राजर्षि (दशरथ) चारो ओर का कुशल वृत्तान्त पूछ कर चुप हो गये, तब (आगन्तुक) मुनि राजा से बोले ।

१८. हे राजन्, आप कैसे भाग्यवान् हैं कि यद्यपि आप के राज्य में अपने ही सम्बन्धियों से घात या भय बना रहता है, जो बदमाश नौकरों से भरा है और जहाँ शत्रु भी मिठबोलने हैं, वहाँ आप बड़ी कुशलता से शासन कर रहे हैं ।

द्विपतो भववन्ध भेदिना दहतश्चेतसि योगवह्निना ।
न जहाति विपत्तिरद्य नः परसंपत्तिपु निःस्पृहानपि ॥१९॥

अनुयान्ति समन्ततो मखे निपतच्छोणितवृष्टयो दिशः ।
पवनाहतवृंतविच्युतप्रसवाः किंशुककाननश्रियः ॥२०॥

मृपतामपि नस्तपस्यतां धृतवैकङ्कतसाधनस्रुचाम् ।
स्फुरदर्चिपि देवतामुखे हुतमद्यश्व उदस्यतेऽरिभिः ॥२१॥

सदसः समयेषु वृत्तये विधिनाऽऽहूत हुतांशभाजिनः ।
युधि तं जहि पश्यतोहरं गुरुणा रामशरेण राक्षसम् ॥२२॥

क्षमते न जनं त्वदर्पितं यमिनामिन्द्ररिपुस्तु हिंसितुम् ।
शशिनं मृगशत्रुराश्रितं न मृगं प्रार्थयते हि जातुचित् ॥२३॥

उरगा इव धर्मपीडिताः क्रतुशत्रुव्यथितास्तपस्विनः ।
उपयान्त्युपतापनाशनं विपुलं त्वद्भुजचन्दनद्रुमम् ॥२४॥

१९. यद्यपि हम लोगों ने योग की अग्नि से, जो संसार के बन्धनों को तोड़ने वाली है, मन में रहने वाले शत्रुओं को (काम-क्रोध इत्यादि को) जला डाला है और यद्यपि दूसरों की सम्पत्ति के प्रति हम उदासीन हैं, फिर भी सांसारिक दुख आजकल हमें नहीं छोड़ता।

२०. यज्ञ के चारों ओर रुधिर-वृष्टि होने से दिशायें, किंशुक वन के समान लगती हैं जहां हवा के झपेटे से डालियों से गिरे हुए पुष्प बिखरे पड़े हों।

२१. (अब ऐसी परिस्थिति आ गई है कि) चाहे आज चाहे कल, यह होने ही वाला है कि हम तपस्वी लोग, जो हाथ में विकंकत (पलाश) की लकड़ी के बने हुए स्रुवा से, प्रज्वलित अग्नि में हव्य डालते हैं, उसे शत्रु लोग निकाल कर फेंक देंगे।

२२. कृपया राम के तीखे बाणों से युद्ध में उस राक्षस को मार कर उन मुनियों का कल्याण कीजिये जो यज्ञ में नियमानुसार बुलाये जाते हैं और जिनके देखते यह राक्षस उनके यज्ञ का भाग चुरा ले जाता है।

२३ उस इन्द्र के शत्रु (रावण) में यह क्षमता नहीं है कि वह आपकी शरण में आये हुए संयमी ऋषियों का नाश कर सके। मृगों का शत्रु (सिंह), उस मृग के मारने की कभी भी इच्छा नहीं करता जिसने अपने को चन्द्रमा को अर्पित कर दिया है।

२४. यज्ञ के शत्रुओं (राक्षसों) से पीड़ित तपस्वी लोग आपकी दीर्घभुजाओं की शरण में ऐसे आते हैं जैसे धूप से व्यथित सर्प, तपन को शान्त करने वाले चन्दन के वृक्ष के पास जाते हैं।

वयमर्ककुलैककाश्रया न परं भूपतिमाश्रयामहे ।
न हि जातु पतन्ति पल्वले जलदा वारिधिपानलम्पटाः ॥२५॥

त्वदणुप्रियमाश्रयामहे न परस्मादतिविस्तराण्यपि ।
पयसः कणमेव चातको जलदादत्ति बहूनि नान्यतः ॥२६॥

नृपताविति वेदितापदा मुनिना जोषमभूयत क्षणम् ।
महतां न कदाचिदर्थना गुरुनिर्बन्धविनष्टसौष्ठवा ॥२७॥

परिपूततनुर्द्विजाशिषा शुभया त्वत्प्रियताऽऽवृतः स्वयम् ।
पृथुकः पृथुकीर्तिरर्पितो भवति श्वः समराय यास्यति ॥२८॥

इति वस्तुमवस्तुकाङ्क्षिणे स मुदाऽस्मै समुदाहृतप्रियः ।
शरणं शरणार्थिनेददावृषये विश्वभुजो नरेश्वरः ॥२९॥

चलिते च सुतं तपस्यति प्रथमाहूतमृषेर्नमस्यया ।
उपनीय चिराय वर्जितं स्वयमङ्कं प्रियमाददे वचः ॥३०॥

२५. हम लोग, जिनका सूर्यवंश ही केवल आश्रय है, किसी दूसरे नृपति की शरण नहीं लेते । समुद्र के जल पीने के इच्छुक बादल, कभी गढैया पर नहीं गिरते ।

२६. हम लोग आप ही की कृपा का आसरा करेंगे चाहे वह अणु ही के समान छोटी क्यों न हो, पर किसी दूसरे से बहुत बड़ी कृपा हमें स्वीकार नहीं है । चातक, बादल ही से जल लेता है चाहे वह कण भर ही क्यों न हो; पर अन्यत्र कहीं से बहुत अधिक जल मिले भी तो वह नहीं लेता।

विशेष—देखिये—

"याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा"—मेघदूत १–६ (कालिदास)

२७. अपने कष्ट को नृपति से इतना निवेदन कर मुनि (विश्वामित्र) क्षण भर के लिए चुप हो गये । महान् व्यक्ति से अपना अभिलषित बहुत भी कहा जा कर अपना सौष्ठव नहीं खोता ।

२८. 'कल मेरा यशस्वी पुत्र ब्राह्मणों के आशीर्वाद से शरीर पवित्र कर और आपके स्नेह का भाजन होकर, आपको अर्पित हो युद्ध के लिये जायगा ।'

२९. बड़ी प्रसन्नता से इतनी बात कहकर नृपति ने उन ऋषि (विश्वामित्र) को जो उस स्थान (महल) में नहीं ठहरना चाहते थे, यज्ञशाला में ठहराया ।

३०. जब मुनि तपस्या के हेतु चलने के लिये उद्यत हुए तो राजा ने अपने पुत्र (राम) को जिसे उन्होंने मुनि को प्रणाम करने के लिये बुलाया था, अपनी गोद में, जिसका वह बहुत दिनों से अनभ्यस्त था, बैठा कर प्रिय वचन बोले ।

समवेदि यतस्त्वदर्थिना कथितं यद्दुरितक्रमं त्वया ।
अवधूय ततस्तदापदं चिनु बाणेन कुलोचितं यशः ॥३१॥

अविजित्य जयैषिणां सदा न भुवः शक्यतयाऽनुरक्षितुम् ।
ननु दिग्जयसंभृतो महाविभवोऽयं भवतः प्रसंगतः ॥३२॥

भुवनानि बिभर्ति कश्चन स्वजनानेव परः प्रयत्नतः ।
इतरस्तनुमेव केवलं प्रभुरन्यो भरणेऽपि नात्मनः ॥३३॥

इति पक्षचतुष्टये स्थिते रघवः पूर्वमुदस्य मानिनः ।
क्षपयन्ति यशः क्रमागतं न हि पक्षान्तरसंपरिग्रहात् ॥३४॥

जनमन्यहितप्रवर्तनं स्वयमेवाभिसरन्ति सम्पदः ।
नियतं निजकृत्य लम्पटः पुरुषः स्वार्थत एव हीयते ॥३५॥

पुरुषस्य कृतं भुजद्वयं प्रविधातुं द्वयमेव वेधसा ।
सुहृदामुदयं च विद्विषामवलेपप्रतिघातमेव च ॥३६॥

३१. तुम्हें ले जाने की इच्छा से आए हुए मुनि ने तुम्हें उस कठिनता से होने वाले कार्य को बता दिया है। अतः तुम उनका सङ्कट दूर कर, बाणों के बल से अपने कुल के उपयुक्त यश का अर्जन करो।

३२. चूंकि जय की इच्छा करने वाले के लिये, पृथ्वी की हर समय रक्षा करना बिना दिग्विजय के सम्भव नहीं है, अतः महाशक्ति के सञ्चय करने का यह अवसर आ गया है।

३३. कोई भुवन भर का पालन करता है। कोई अपने ही कुटुम्ब का भरण पोषण बड़े यत्न से कर पाता है। कोई केवल अपने तन ही का पालन करने में समर्थ होता है और कोई अपना पेट भी नहीं भर पाता।

३४. इन चारों अवस्थाओं में रघुकुल के स्वाभिमानी राजे पहिली अवस्था को छोड़कर अन्य तीन अवस्थाओं को अङ्गीकार कर कभी भी अपनी वंश-परम्परा से आये हुए यश को कलुषित न करेंगे।

३५. जो दूसरे का हित करने में प्रवृत्त रहता है, उसके पास सम्पदायें स्वयं आती हैं। (परन्तु) जो पुरुष अपने ही स्वार्थ-साधन में रत रहता है उसका स्वार्थ भी सिद्ध नहीं होता।

३६. ब्रह्मा ने मनुष्य के दो हाथ, दो कामों के करने के लिये बनाये हैं। एक से अपने मित्रों का [illegible]

शरणोपगतं न पाति यो न भिनत्ति द्विषतां समुन्नतिम् ।
न स बाहुरसाधनक्षमो नरवृक्षप्रभवः प्ररोहकः ॥३७॥

परिकृत्यजडो यशोऽर्जने जठरैकप्रवणो निरुत्सुकः ।
पशुरेव बुधैर्निगद्यते यवसग्रासनिवृत्तमानसः ॥३८॥

न पशुः पुरुषाकृतिर्यतो नृगुणभ्रष्टतया न पूरुषः ।
विरतव्रतपौरुषस्पृहः किमु कोऽपि द्रुहिणेन निर्मितः ॥३९॥

अकृतद्विषदुन्नतिच्छिदः श्रितसंरक्षणवन्ध्यकर्मणः ।
पुरुषस्य निरर्थकः करः किल कण्डूयनमात्रसार्थकः ॥४०॥

अशने रसनानि देहिनां कृतयोगानि मुखेषु भूरिशः ।
न न सन्ति तदेषु दुर्लभं प्रभु यत्स्यादभयं प्रजल्पितुम् ॥४१॥

तव जीवितसंशयेऽप्वपि न परित्याज्यमिदं कुलव्रतम् ।
सुलभं प्रतिजन्म जीवितं हृदयं धर्मरतं हि दुर्लभम् ॥४२॥

३७. जो शरण में आये हुए की रक्षा नहीं करता और शत्रुओं की बढ़ती को नहीं काटता वह निकम्मी बाहु नहीं है। वह मनुष्यरूपी वृक्ष की एक छोटी टहनी मात्र है।

३८. दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य को निबाहने में चेष्टाहीन, यश कमाने में उदासीन और केवल अपना पेट भरने में तत्पर, ऐसे मनुष्य को बुद्धिमान् लोग पशु कहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि घास खाने से उसने अपना मन हटा लिया है।

३९. वह जानवर नहीं है क्योंकि उसकी शक्ल आदमी की सी है, और वह आदमी नहीं नहीं है क्योंकि उसमें आदमी के गुण नहीं हैं। तो क्या ब्रह्मा ने कोई ऐसा जीव बनाया है जिसमें न तो धर्म की ओर रुचि है और न पुरुषार्थ की आकांक्षा है।

४०. जो शत्रुओं की उन्नति को नहीं रोक सकता और जो शरणार्थियों की रक्षा करने में असमर्थ है, ऐसे पुरुष का हाथ तो केवल (शरीर) खुजलाने का साधन मात्र है!

४१. ऐसा नहीं है कि प्राणियों के मुंह का स्वाद बढ़ाने के लिये बनाये हुए अवलेह न हों (अवश्य हैं)। परन्तु इन सब पदार्थों में वह अत्यन्त दुर्लभ है जिससे अभय देने वाले शब्द मुख से निकलें।

४२. तुम्हारी मृत्यु की आशंका भी हो तो तुम्हें अपने कुलव्रत को न छोड़ना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक बार जन्म लेने पर जीवन तो सुलभ है, पर ऐसा हृदय दुर्लभ है जो अपने कर्तव्य में रत हो।

विरतः शवतामभिव्रजत्यभिषेकोत्सवदुन्दुभिः क्षणात् ।
इतिपातिनि जीविते कथं सुखमालम्ब्य सृजन्ति सत्पथम् ॥४३॥

यशसि व्रज यत्नमुज्झितस्वसुखप्रीतिरुपैहि वा तपः ।
अधिगम्यमसारमस्थिरं विषयास्वादसुखं पशोरपि ॥४४॥

यशसा सुकृतेर्न संग्रहो नियतं धर्ममुपार्जितो यशः ।
अनुगच्छ तदेक संग्रहादुभयं लभ्यमितीह सत्पथम् ॥४५॥

ननु तावदिहैव सज्जनप्रतिरक्षाविधिगम्यमक्षयम् ।
फलमिन्दुकरोपरञ्जितप्रहसत्कौमुद कोमलं यशः ॥४६॥

प्रयतः प्रतिपद्य तत्तपोवनमुग्रं त्वमुदग्रविक्रमः ।
सहसा सह कौशिकेन तं यमिनां कृन्त निवर्हकं युधि ॥४७॥

पितुरित्यमनाकुलं वचस्तदुपश्रुत्य ननाम पादयोः ।
सह सिद्धवनं यियासुना समरायावरजेन राघवः ॥४८॥

४३. यह देखते हुए कि एक राजा, राज्याभिषेक के उत्सव पर बजाये हुए नगाड़े की आवाज के समाप्त होते ही क्षण भर में मर जाता है और केवल उसका शव बच रहता है, तो फिर लोग क्यों ऐसे सांसारिक सुख के लिये सन्मार्ग को छोड़ देते हैं ।

४४. अपने शरीर को सुख देने की प्रवृत्ति छोड़ कर यश प्राप्त करने का यत्न करो, नहीं तो तपस्या करो । विषय भोग का सुख साररहित और अस्थिर होता है । वह तो पशुओं को भी प्राप्त है ।

४५. केवल यश से सदाचार का संग्रह नहीं होता । धर्म के अनुष्ठान से यश अवश्य ही होता है । इसी एक के संग्रह से दोनों ही प्राप्त होते हैं । अतः सन्मार्ग का अनुसरण करो ।

४६. चन्द्रमा की किरणों से अनुरञ्जित फूले हुए कमल के समान कोमल यश, सज्जनों की रक्षा करने से निश्चय ही इसी लोक में मिलता है ।

४७. विश्वामित्र के साथ उस उग्र तपोवन में पहुँच कर तपस्वियों को सताने वाले राक्षस को युद्ध में अपने प्रचण्ड पराक्रम से तुरन्त काट डालो ।

४८. इस प्रकार अपने पिता की धीर वाणी सुन कर रघुकुल में उत्पन्न राम, अपने छोटे भाई [illegible] राम, जो युद्ध के हेतु सिद्धवन में जाने के लिये उत्सुक थे, पिता के चरणों में मस्तक नवाया ।

तमसि स्फुरदंशुमद्युतिप्रहृते संसदि सौखरात्रिकः ।
यतये निरयीयतत्सुतौ नृपतिर्मन्त्र पवित्रदंशितौ ॥४६॥

अनुजग्मतुरश्रुवर्षिणो हृदयैः पौरजनस्य राघवौ ।
मुनिमेनमनाकुलातुरैरनुयातावशिवैकचिन्तया ॥५०॥

यमिनः पथि चैतिहासिकादुपशृण्वन् विविधाश्रयाः कथाः ।
क्लमयं न विवेद राघवो बलयाऽऽनीतबलः स विद्यया ॥५१॥

अथ वज्रभृतः सुहृद्द्रुहो विपयो यः स्नपनेन विश्रुतः ।
नृवरो निजगाद तत्पुरं पिशिताशीनिहतं निरीक्ष्य सः ॥५२॥

न भुनक्ति पुरा पुरश्रियं परितः कीर्णकरङ्कसङ्करा ।
अवमग्नशिरःकपालदृग्विवरप्रोद्गतशाद्वला मही ॥५३॥

फणिभिः प्रतिबिम्बमातरः शितिभिर्भान्ति शिरोऽवलम्बिभिः ।
रचितैरिव वेणिबन्धनैर्विरहादस्य पुरस्य शासितुः ॥५४॥

४६. तब नृपति ने विश्वामित्र से यज्ञशाला मे, जिसका अन्धकार सूर्य की किरणो के छिटकने से दूर हो गया था, सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत होने का हालचाल पूछ कर अपने दोनों पुत्रों को जो मंत्रपूत वस्त्रों को पहिने थे, ऋषि के साथ जाने का आदेश दे दिया ।

५०. रघु के दोनो वंशज, केवल मुनि की आपत्तियों पर विचार करते हुए विश्वामित्र के पीछे-पीछे चले । पौरजन, जिनकी आँखों से आँसू गिर रहे थे, और जो शान्त और व्याकुलता से रहित थे, उनके पीछे चले ।

५१. *इतिहास के ज्ञाता, उस संयमी ऋषि से नाना प्रकार की कथाओं को सुनते हुए,* रघु के वंशज (राम) को, जिनमें 'बला' विद्या के प्रभाव से बल का सञ्चार हो गया था, मार्ग में कोई थकान नहीं मालूम पड़ी ।

५२. तब पुरुषों में श्रेष्ठ, विश्वामित्र उस नगर को, जो मित्र के मारने वाले वज्रधारी इन्द्र के स्नान करने से प्रसिद्ध हो गया था और जिसे मांसभक्षी राक्षसों ने विनष्ट कर डाला था, देख कर बोले ।

५३. इस नगर की भूमि ने जहाँ नरकपाल का ढेर चारो ओर बिखरा पड़ा है, जहाँ जमीन के भीतर धँसी हुई खोपड़ियों में आँखों के गढ़े के भीतर से घास उग आई हैं, इस नगर के सौंदर्य को चौपट कर दिया है ।

५४. *इन मातृकाओं की मूर्तियाँ जिनके सिर से श्वेत सर्प लटक रहे हैं ऐसी लगती हैं जैसे* उन्होंने नगर के शासक के वियोग से एक चोटी बाँध ली हो ।

भुवि भोगनिभं विलोकयंस्तुद्रुमो हारमहार्यं वेपथुः ।
हरिहस्तहतस्य दन्तिनः कररन्ध्रे निभृतं निलीयते ॥५५॥

प्रतिमा विशदेन लूतिकापटलेनावृतदृष्टिरीक्ष्यते ।
रुदितैरिव पुष्पितेक्षणा विपुलत्रासकृतैरनेकशः ॥५६॥

श्लथभित्तिविरूढभूरुहस्थिरमूलाग्रविनिर्गमक्षतम् ।
स्फुटतीव भृशं शुचातुरं हृदयं तद्गृहचित्रयोषिताम् ॥५७॥

नकुलः परिजीर्णवैबुधप्रतिबिम्बाननमध्यरन्ध्रतः ।
परिकर्षयति क्रुधा यथा स्फुरितं तद्रसनं सरीसृपम् ॥५८॥

इति जल्पति तत्र राक्षसी पुरतः प्रादुरभूद्भिदेलिमा ।
मकराकरपायिधामभिः क्षयतक्षाकृतिरुग्रविग्रहा ॥५९॥

नवकृत्तविलासिनीकरप्रसवोत्तंसविभूषितानना ।
नृशिरस्ततिमेखलागुणस्फुरणक्रूरकटुकणत्कटिः ॥६०॥

५५. पृथ्वी पर पड़ी हुई एक माला को जो सर्प के समान लगती थी, देख कर, एक चूहा, निरन्तर भय हो थर-थर काँपता हुआ, सिंह के थपेड़ों से मारे हुए एक हाथी की सूँड़ के के छिद्र में चुपके से छिप गया।

५६. एक मूर्ति की आँखें मकड़ी के विशाल जाले से ढक जाने से ऐसी दिखाई पड़ती थीं, जैसे घोर भय के कारण वे निरन्तर रोने से फूल गई हों।

५७. उस महल की जर्जर दीवारों पर उगे हुए पेड़ों की मजबूत जड़ों के बाहर निकल आने से ऐसा लगता था जैसे उस पर चित्रित स्त्रियों के हृदय (जिनको फोड़ कर जड़ें बाहर निकल आई थीं) महान् शोक से विदीर्ण हो गए हों।

५८. एक नेवला, चौकीदार की अति जीर्ण मूर्ति के मुख के छिद्र से, उसकी जीभ को लपलपाता साँप समझ कर क्रोध से खींच रहा था।

५९. मुनि यह कह रहे थे कि वहाँ एक विकराल चेहरे वाली राक्षसी, जिसका वध स्वरूप, समुद्र पी जाने वाले ऋषि (अगस्त्य) ने नष्ट कर दिया था, सामने आकर खड़ी हो गई।

६०. जिसका चेहरा विलासिनी स्त्रियों की नई कटी हुई अंगुलियों के बने हुए गहनों से विभूषित था और जो कमर में नरमुण्ड की पंक्ति से बनी हुई करधनी पहिने थी, जिसके हिलने से भयङ्कर शब्द होता था।

परितः स्फुरदन्त्रपाशया परिणद्धाकुलकेशसन्ततिः ।
घनशोणितपङ्ककुंकुमप्रविलिप्तस्तनकुम्भभीषणा ॥६१॥

इति तामतिभीमदर्शनामभिवीक्ष्योभयतस्तपोधनम् ।
धनुषोरवनीभुजः सुतौ सपदि न्यस्तशरावतिष्ठताम् ॥६२॥

स वसिष्ठतनूजपातितक्षितिपस्वर्वसतिप्रदो मुनिः ।
घृणिनो नृपतेः कृतस्मयस्तनयं वीक्ष्य जगाविदं वचः ॥६३॥

इति सार्वजनीनसम्पदः प्रलयं देशवरस्य कुर्वतीम् ।
न निहत्य शरेण सूरिभिस्त्वमधर्मी ध्रुवमेष गीयसे ॥६४॥

शतमन्युरवर्णवृत्तये न वधः स्त्रैण इति प्रचिन्तयन् ।
निजघान विरोचनात्मजां कुलिशेन त्रिदिवस्य शान्तये ॥६५॥

वनितावपुषि द्विषज्जने पुरुषाकारविशेषितेऽपि वा ।
न हि भद्रकरं शरीरिणां प्रहृतार्हे करुणावलम्बनम् ॥६६॥

६१. कुम्भ के समान अपने बड़े-बड़े स्तनों पर गाढे रुधिर को कुंकुम के समान पोतने से बीभत्स लगती वह राक्षसी अपने लहराते हुए बालों को सब ओर लपराती हुई अँतड़ियों से बाँधे हुई थी ।

६२. इस प्रकार अत्यन्त भयावनी राक्षसी को देख कर पृथ्वी के स्वामी (दशरथ) के दोनों पुत्र तुरन्त अपने अपने धनुषों पर बाण चढ़ा कर उस तपस्वी (विश्वामित्र) के दोनों ओर खड़े हो गये ।

६३. जब विश्वामित्र ने, जिन्होंने वसिष्ठ के पुत्रों से तिरस्कृत राजा (त्रिशंकु) को स्वर्ग में रहने का पद दिया था, दयावान् राजा (दशरथ) के पुत्र (राम) की ओर देखा तो मुसकरा कर ये वचन बोले ।

६४. ऐसे श्रेष्ठ देश में, जिसकी समृद्धि सम्पूर्ण जनता को इष्ट है, इतना प्रलय मचाती हुई इस राक्षसी को अपने बाणों से यदि तुम न मार डालोगे, तो बुद्धिमान् लोग तुम्हें अवश्य अधर्मी कहेंगे ।

६५. यह विचार कर कि स्त्री का वध चारों वर्णों की रक्षा के प्रतिकूल नहीं है, इन्द्र ने स्वर्ग में शान्ति के हेतु विरोचन की पुत्री को वज्र से मार डाला था ।

६६. ऐसे शत्रु पर दया करना जो मार डालने का पात्र है, चाहे उसका शरीर स्त्री का हो अथवा पुरुष का, प्राणियों के लिये कल्याणकारी है ।

युवतेरपि साधवः सुखे जगतो लुप्तवतश्चिरस्थितिम् ।
तुलयन्ति न राम विक्रमं द्विपतीतापमगुण्यवृत्तिभिः ॥६७॥

अपि वित्थ इदं धनुमृतोर्भवतोः पौरुषरोषवृत्तयोः ।
न भजन्ति यशःश्रियं रणेऽभ्युदिते हन्त तपोधनद्विषः ॥६८॥

न विरोचनजन्मनोरिदं युवयोरायुधयुद्धतन्त्रयोः ।
द्विजवृद्धनिषेवणक्षमं महतोः श्रौत्रमलं विराजते ॥६९॥

इति मुनिचोदितोहृदिसुकेतुसुतामिषुणा
रघुपतिरक्षिणोदशनिपातपटुध्वनिना ।
स्फुटितकुचान्तरस्त्रवदसृक्स्रुतिनः करणात्
प्रथममपाययुस्तदसवो नु शरो नु बहिः ॥७०॥

ऋषिरिति विघ्नघातविधिसञ्जितसद्यशसं
तनुजमयो जयद्दशरथस्य सुरास्त्रगणैः ।
असुरनिशाचरक्षतजपानपरैर्विकस-
च्छसितहुताशनद्युतिपिशङ्गितदिग्वदनैः ॥७१॥

६७. हे राम ! विश्व की शान्ति के लिए, तुम यदि ऐसी स्त्री को दुःख पहुँचाते हो अथवा उसके अधिक समय तक जीवित रहने को लोप कर देते हो (अर्थात् उसे मार डालते हो) तो साधु पुरुष, तुम्हारे इस वीरता के काम की तुलना अनुचित कामों से न करेंगे ।

६८. क्या तुम यह जानते हो कि जब तुम लोग, जिनका पौरुष एवं रोष विख्यात है, धनुष लेकर युद्ध के लिये उठोगे तब इन तपस्वियों के शत्रुओं को यशश्री नहीं प्राप्त हो सकेगी ।

६९. यह विजय उन लोगों को नहीं प्राप्त होगी जो विरोचन की सन्तान हैं। यह तो तुम्हें ही प्राप्त होगी, जिन्होंने वेद का अध्ययन किया है, जो शस्त्र और युद्ध विद्या में पारङ्गत हैं और जो ब्राह्मण और वृद्ध की सेवा करने में समर्थ हैं ।

७०. इस प्रकार ऋषि से उत्साहित किये जाने पर रघुपति ने सुकेतु की पुत्री की छाती में एक बाण मारा, जिसकी ध्वनि वज्रपात के सदृश थी। उसके स्तनों के बीच में फटे हुए दरार से बहते हुए रुधिर के साथ पहिले उसकी प्राणवायु निकली या बाण पहिले निकला ? यह कहना सम्भव न था। (बाण के लगते ही तुरन्त उसके प्राण निकल गये, यह भाव है।)

विशेष—नर्दटकः—'यदि भवतो न जौ भजजला गुरु नर्दटकम्' ।

७१. दशरथ के पुत्र राम, जिन्होंने इस प्रकार यज्ञों को विघ्न रहित करके उज्ज्वल यश प्राप्त किया था, उन्हें विश्वामित्र ने वह देवास्त्र समूह प्रदान किया जो असुरों और निशाचरों का रुधिर पीने के लिये सदा प्रस्तुत रहते थे और जिन्होंने अपनी धधकती और लपलपाती अग्नि की प्रभा से दिशाओं को पिशंग कर दिया था ।

विशेष—नर्दटक छन्द

वदनविनिर्गतज्वलितवह्निशिखावितते-
रुपगतवन्ति राममथ तानि ततानि रुचा ।
शशधरखण्डकोणकुटिलस्फुतकोटिखरं
दशनचतुष्टयं पृथु दधन्ति बहिः प्रसृतम् ॥७२॥

रक्षोहव्यहविर्भुजं स हि तथा संधुक्ष्य शस्त्रेन्धनैः
प्रत्युद्गम्य सुदूरमेव हरिणैरन्वीयमानो बहिः ।
छेदाय प्रसृतैरसेकिमलताजालप्रबालश्रियः
कूजत्कोकिलमाश्रमस्य निकटं सायं प्रपेदे मुनिः ॥७३॥

इति चतुर्थः सर्गः

७२. तदनन्तर मुख से निकल कर लपलपाती हुई अग्नि-शिखा के समान, झुंड-के-झुंड अस्त्रों की पंक्ति, जिनकी प्रभा से चार दाँत प्रदर्शित हो गये थे, और जो अर्ध-चन्द्र के किनारों के समान स्वच्छ और भयङ्कर पैने थे, बाहर निकल कर, राम के पास आ गये।

विशेष—नर्दटक छन्द ।

७३. राक्षस लोग जिसके हव्य थे, ऐसी अग्नि को, शस्त्र रूपी ईंधन से, जिनका वध करने के हेतु आविर्भाव हुआ था, प्रज्ज्वलित कर, सन्ध्या समय मुनि विश्वामित्र, हरिणों के साथ, जो बहुत दूर तक उनके पीछे-पीछे गये थे, आश्रम के निकट पहुँचे, जो बिना जल से सींची हुई लताओं के अंकुरों से मण्डित था और जहाँ कोयल कूक रही थी।

विशेष—शार्दूलविक्रीडित छन्द="सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।"

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पञ्चमः सर्गः

ततस्ततं तापसकन्यकाजनप्रसिक्तसंवर्धितवृक्षमण्डलैः ।
सहस्रशस्तानितसामनिस्वनप्रवर्तिताखण्डशिखण्डिताण्डवम् ॥ १ ॥

विहङ्गपानाय महीरुहां तले निवेशिताम्भः परिपूर्णभाजनम् ।
विशोषणार्थाहितपुण्यवल्कलप्रताननम्रीकृतवृक्षमस्तकम् ॥ २ ॥

कृतासु नीवारविभागवृत्तिषु स्वकीयमंशं मृदुहस्तसंपुटैः ।
हरद्भिरालोहितगण्डमण्डलैः प्लवङ्गमैः सेवितशैलकन्दरम् ॥ ३ ॥

स्वमङ्कमारुह्य सुखं परिष्वपत् कुरङ्गशावप्रतिबोधशङ्कया ।
चिरोपवेशव्यथितेऽपिविग्रहे सुनिश्चलासीनजरत्तपोधनम् ॥ ४ ॥

हिरण्यरेतः शरणानि सर्वतः प्रवृत्तपुण्याहुतिधूमधूसरम् ।
बृहल्लतातानभृतः फलेग्रहेरधस्तरोरासितशायितातिथि ॥ ५ ॥

१. तब कौशिक (विश्वामित्र) ने उस तपोवन में प्रवेश किया जो तपस्वियों की कन्याओं के पाले-पोसे वृक्षों से भरा था और जहाँ निरन्तर अनन्त 'साम' के गानों और उनकी तानों से प्रेरित हो झुंड के झुंड मयूर ताण्डव नृत्य कर रहे थे।

विशेष—इस सर्ग के पहिले नौ श्लोकों में तपोवन का वर्णन है। इन नौ श्लोकों का विधेय पद, "कौशिक ने तपोवन में प्रवेश किया," दसवें श्लोक में है। इसे कुलक कहते हैं।

२. जहाँ वृक्षों के नीचे, पक्षियों के पीने के लिये जल से भरे पात्र रखे थे और जहाँ, सूखने के लिये फैलाये हुए, वल्कल के चीरों से वृक्षों की डालियों के अग्रभाग झुक गये थे।

३. जहाँ पर्वतों की कन्दराओं में लाल-लाल मुंह वाले बन्दरों का झुंड, खाने के लिये, मुलायम हाथों से, अपने हिस्से का 'नीवार' उठा ला कर, रहता था।

४. जहाँ तपस्वी लोग, इस शंका से कि कहीं, उनकी गोद में सुख से सोये हुए, मृगछौने जाग न उठें, बिना हिलेडुले बैठे थे, यद्यपि देर तक ऐसे बैठे रहने से उनका शरीर दुखने लगा था।

५. जो सब ओर अग्निकुण्डों में पड़ती हुई पवित्र आहुतियों से निकले हुए धुएँ से धूसरित हो रहा था और जहाँ मोटी मोटी लताओं से परिवेष्टित एवं फलों से लदे हुए वृक्षों के नीचे अतिथियों के आसन और बिस्तरे रखे थे।

तपस्विवर्गस्य वधूषु वह्नये वितन्वतीषु प्रकृतां वलिक्रियाम् ।
मृगाङ्गनाभिः परिलिह्य जिह्वया विनोदितत्याजितरोदितच्छिशु ॥ ६ ॥

वलिक्रियातानितलाजकर्पणे समेतकीट प्रतिघातशङ्कया ।
कुशस्य मुष्ट्या शनकैस्तपस्विभिः प्रमृज्यमानानलमन्दिरोदरम् ॥ ७ ॥

महीरुहभ्रष्टविहङ्गपोतिकासुखोपवेशाय तपस्विसूनुभिः ।
इपीकतूलेन विधाय मार्दवं क्वचित्समासञ्जितनीड़पञ्जरम् ॥ ८ ॥

सवारिमृत्स्नापरिपूर्णखातकप्रजन्यमानांकुरबीजमेकतः ।
प्रहृष्टसारङ्गकिशोरवल्गितप्रकीर्णपुञ्जीकृतशुष्यदिङ्गुदि ॥ ९ ॥

समीरणैराहुतिगन्धपावनैर्वितानितोद्दामशिखण्डि निस्वनम् ।
तपोवनं तत्तपसामधिश्रियः कुमारयुग्मेन विवेश कौशिकः ॥१०॥

विधित्सुरिष्टिं नृपतेरतन्द्रितः सुतं ततो वैबुधलौकिकीमृषिः ।
समादिदेश प्रकृताय कर्मणे चिराय तद्रक्षणरूप्यमादृतः ॥११॥

६. जहाँ तपस्वियों की स्त्रियाँ अग्नि में आहुति डाल रही थीं और जहाँ हरिणियाँ छौनों को चाट कर प्यार कर रही थीं, परन्तु फिर छोड़ देने के कारण जिन छौनों की आँखों से आँसू निकल रहे थे।

७. जहाँ तपस्वी लोग अग्निकुंड के गर्भ को कुश की मूँठ से हलके-हलके इस हेतु बटोर रहे थे कि आहुति के लिये फैलाये हुए लाजा को ले जाने के लिये एकत्र छोटे-छोटे कीड़े कहीं मर न जायँ।

८. जहाँ पेड़ से गिरे हुए चिड़िया के बच्चे के सुख से बैठने के लिये, तपस्वियों के बालकों ने एक घोसले के आकार का पिंजड़ा बना कर उसमें बेंत का मुलायम छिलका बिछा दिया।

९. जहाँ एक ओर अच्छी मिट्टी और पानी से भरी हुई गढ़ैया में बीज अँकुरा रहे थे और दूसरी ओर सूखने के लिये एकत्र किये गये इङ्गुदी के फलों को प्रफुल्लित मृग-शावक चौकड़ी भर कर बिखेर रहे थे।

१०. ऐसे तपोवन में जहाँ मस्त मयूरों की आवाज, हवन के गंध से पवित्र वायु से सञ्चालित होने के कारण दूर तक फैल रही थी, तप के भाण्डार, कौशिक ने दोनों कुमारों के साथ प्रवेश किया।

११. तब एक स्वर्गिक यज्ञ के जो बहुत दिनों से स्थगित था, करने की इच्छा से आदरणीय विश्वामित्र ने उसके संरक्षण का भार राजा के पुत्र, आलस्य रहित राम को सौंपा जिनका शरीर यज्ञों की रक्षा करने में दमकने लगा था।

तमग्निमिन्धन्तमधिक्रतु भ्रमन् रिरक्षिषुः सन् परितो रिपोरसौ ।
क्षमाभुजः सज्यसरासनः सुतो हृतो जगादावरजं वनश्रिया ॥१२॥

बिभर्ति नीवारवदम्बुजाकरश्रिया परीतं सततं तपोजुषाम् ।
अखातमाहावमनुप्त्रिमं परं सदाफलं शस्यमिदं तपोवनम् ॥१३॥

सवेदवेदाङ्गविदो यमव्ययं विदन्ति यत्नेन पदं तपस्विनः ।
स लोककृत्यानि विचिन्त्य कानिचित् तपस्यति स्मेह पुमान् पुरातनः ॥१४॥

सुदर्शनच्छिन्न समाहृतेन्धनं द्विजेन पक्षव्यजनेन वीजितम् ।
त्रिनेत्रमूर्त्यन्तरमादिपूरुषो जुहाव हव्यैरिह हव्यवाहनम् ॥१५॥

तपस्यति स्वामिनि शत्रुनाशने समित्कुशच्छेदनमात्रतत्परः ।
सुसंयतो नाभिननन्द नन्दकः सुरारिवक्षःक्षतजासवं तदा ॥१६॥

गदा रणद्दुन्दुभिभैरवंरणं तदा समभ्येत्य भयं वितन्वति ।
शिरस्यपध्वस्तशिरस्त्रजालके निमज्य मज्जां न जघास विद्विषाम् ॥१७॥

१२. तब पृथ्वीपति (दशरथ) के पुत्र (राम) धनुष को चढा कर यज्ञ की रक्षा करने की इच्छा से अग्निकुण्ड के चारों ओर घूमते हुए अपने छोटे भाई (लक्ष्मण) से, जिनका मन वन की शोभा को देखने में लगा था, बोले ।

१३. तपस्वियों के इस तपोवन में, कमलों के सौंदर्य से व्याप्त एक सरोवर और (पशुओं के पानी पीने के लिये जल पात्र है और वहां नीवार (एक प्रकार का चावल) की तरह बिना बोई हुई खेती होती है ।

१४. वेद और वेदाङ्ग के ज्ञाता तपस्वी लोग, जिस पुराण पुरुष को बड़ी साधना से अविनाशी जान सके हैं, उसने (पुराण पुरुष ने) लोक की हितकामना से इसी स्थान पर तपस्या की है ।

१५. यहां पर आदि पुरुष ने सुदर्शन चक्र से काटी हुई ईंधन की लकड़ी लाकर और गरुड़ के पंखों के हांकने से प्रज्वलित किये हुए शिव के एक रूप, अग्नि, को हव्य अर्पित किया था ।

१६ जब शत्रुओं (राक्षसों) के नाश करने वाले स्वामी (विष्णु) तपस्या कर रहे थे तो 'नन्दक' (उनका खड्ग) सुसंयत होकर कुश और समिधा ही काटने में तत्पर रहता था और तब उसे देवताओं के शत्रुओं के गिरे हुए वक्ष से बहती हुई रुधिर रूपी मदिरा में कोई आनन्द नहीं रह गया था ।

१७ उस समय दुन्दुभियों के घोर नाद के कारण भयङ्कर रणभूमि में पहुंच कर भय उपजाति हुई उनकी (विष्णु की) गदा, शत्रुओं के सिर पड़ कर शिरस्त्राणों को टुकड़े-टुकड़े करती हुई, उनके मज्जा का पान नहीं करती थी ।

नवं स्वकोशाहृतवारिधारया वनं तरूणामनुगृह्णता रणे।
न पाञ्चजन्येन जनस्य तेनिरे भियो विशुष्काशनिभैरवैरवैः ॥१८॥

सलीलमुद्दण्ड सरोज विष्टरे निषद्य पादेन पुरोऽवलम्बिना।
परिस्पृशन्त्या चलवीचिमस्तकं तदा किलागायि कलं न पद्मया ॥१९॥

फणावतामुद्धरणेषु वारिधिप्रवाहसिक्तावुदयाचलस्थितः।
वितत्य पक्षावधिपः पतत्रिणां व्यशोषयन्न प्रतिसूर्यमायतम् ॥२०॥

विहारमारण्यकमिष्टवस्तुदं विहाय वल्केन समं वितूस्तयन्।
इतः किल क्रोधपराहतो हरिः पुरा प्रतस्थे वलिवन्धसिद्धये ॥२१॥

ततः प्रहृत्येव गुणस्य सम्पदा हिरण्यगर्भस्य विवृतहिंसया।
निषेव्यते श्वापदसंपदा पदं तपस्विनामृद्धमिदं शमावहम् ॥२२॥

प्रगृह्य पुच्छे शिशवस्तपस्विनां मसीपयःसेककृतानिवासितान्।
यदङ्गबिन्दून् गणयन्ति चापलाद्विलोकयद्वीपिनमेनमग्रतः ॥२३॥

१८. पाञ्चजन्य शंख ने अपने छिद्र से निकलती हुई जल की धार से (सींच कर) उस नये वन को अनुगृहीत कर, शुष्क विद्युत की कड़क के समान अपनी भीषण ध्वनि से, युद्ध में लोगों के हृदय में भय नहीं उत्पन्न किया।

१९. उस समय ऊँचे नाल वाले कमल के आसन पर बैठ कर (सरस्वती) सामने लटकते हुए अपने पैरों से, लहराती हुई तरङ्गों के मस्तक को खेलवाड़ से छूती हुई अपना ललित गायन नहीं करती थीं।

२०. उदय गिरि पर बैठे हुए, पक्षिराज गरुड़, समुद्र से फण वाले सर्पों को निकालने के कारण, जल प्रवाह से भीगे हुए अपने विशाल पंखों को धूप में नहीं सुखाते थे।

२१. प्राचीन समय में, मनोवाञ्छित फल देने वाले इस वन के विहार को छोड़, वल्कल का चीर पहिन और कपे से बालों को झार कर, क्रोध से भरे हुए हरि, इसी स्थान से बलि को बाँधने के लिये गये थे।

२२. उस समय से हिंसक जन्तुओं का समूह, जैसे ब्रह्मा के गुणों के उत्कर्ष से प्रभावित होकर, हिंसा की प्रवृत्ति छोड़, तपस्वियों के इस शान्ति देने वाले, समृद्ध प्रदेश में रह रहे हैं।

२३. (हे लक्ष्मण) वह सामने देखो, तपस्वियों के बालक चपलता से एक तेंदुये को पूंछ से पकड़ कर उसके शरीर के काले धब्बों को, जो स्याही के गिरने से बने हुए लगते थे, गिन रहे हैं।

इमौ हरिं संहृतरोपशङ्कितौ नितान्ततप्तौ तपनस्य दीप्तिभिः ।
तलं गजस्य स्रुतगण्डसंपदः फणातपत्रं फणिनश्च वाञ्छतः ॥२४॥

तथा गिरं व्याहरतैव रोदसी वितत्य यातं पवनेन रंहसः ।
विधूनयत्तद्विपिनं द्विषद्बलं ध्वजैरुपालक्ष्यत काकलाञ्छनैः ॥२५॥

सरोपरक्षः प्रतिविम्बविग्रहं कृपाणपत्रे शरदम्बरत्विपि ।
विगृह्णतां जीवितपानलिप्सया स्थितः समास्थाप्य यमो यथा बभौ ॥२६॥

असंख्यगृह्या अपि तत्र सैनिकाः पिशाचरक्षस्ततिभिर्निरन्तरम् ।
कृतान्धकारं रथचक्ररेणुभिर्जगुर्जगत्सत्त्वरजस्तमोमयम् ॥२७॥

चकार लक्ष्यं प्रथमो बलोत्तरो नभः श्रितं तत्पदिको बलं द्विपाम् ।
ततिं क्षितिस्थामनुजो जघान च द्रवत्तुरङ्गामतिदन्तवद्विभुम् ॥२८॥

२४. वह देखो, एक सिंह और मेंढक, सूर्य की जलती हुई किरणों से खूब तपे हुए, अपनी अपनी क्रूरता और भय को रोक कर, सिंह तो, माथे से मद बहते हुए हाथी के नीचे और मेंढक सर्प के फन के साये में जाने की इच्छा कर रहे हैं।

२५. ज्योंही वे (राम) इस प्रकार कह रहे थे, उन्होंने देखा कि आकाश और पृथ्वी पर फैली हुई शत्रुओं की एक सेना जिसकी पताकाओं पर कौवे अङ्कित थे, वायु के वेग से वन को झकझोरते हुए आगे बढ़ रही है।

२६. क्रोध से भरा एक राक्षस जिसके शरीर का प्रतिविम्ब, शरद ऋतु के आकाश की तरह शुभ्र, उसकी तलवार की फल पर पड़ रहा था, यम के समान, जीवन के रक्तपान करने की इच्छा से, वहाँ डट कर बैठा है।

२७. वहाँ असंख्य पिशाचों और राक्षसों की भीड़ से तथा उनके रथों के पहियों की धूल से उत्पन्न अन्धकार से, जगत, सत्व, रजस और तमस युक्त हो गया।

विशेष—श्लेष—"असंख्य गृह्या अपि"—गिनती में असंख्य होते हुए भी—सांख्य मत के अनुयायी न होते हुए भी।
(राक्षसों के वर्तमान होने से 'सत्व'। पहियों की धूल उड़ने से 'रजस' और उससे जनित अन्धकार से 'तमस' इन तीनों से जगत की सृष्टि—यह सांख्य का मत है।)

२८ शत्रुओं की सेना जो आकाश में थी, उसे तो अति बलवान् और पैदल चलने वाले राम ने अपना लक्ष्य बनाया और उनके छोटे भाई (लक्ष्मण) ने, पृथ्वी पर जो सेना थी, जिसमें घोड़े बड़ी तेजी से दौड़ रहे थे और जिनके सेनापतियों के बड़े-बड़े दाँत थे, उन पर वार किया।

युधि द्विपा रामशरेण दारिताः कृतत्वराधोरणमुक्तकन्धराः ।
यतो धरण्यामनुकृष्टवारिदं दिवः पतन्तो रुरुजुः स्वसैनिकान् ॥२९॥

शरासने वर्त्मनि लक्ष्यभेदने परैरुपालक्ष्यत नेषुसन्ततिः ।
ऋतेऽपि हेतोरिव दीर्णवक्षसो निपेतुरस्य प्रधने सुरद्विषः ॥३०॥

यथा गुणस्य ध्वनयः समुद्ययुर्निपातशब्देन समं युधि द्विषाम् ।
तथाऽस्य योद्धुर्धनुषो विनिर्गता जवे विशेषं विदधुः शिलीमुखाः ॥३१॥

सुरारिहस्तच्युतशस्त्रजालकान्यलब्धलक्ष्याणि चिरं नभस्तले ।
विशुष्कपत्रप्रतिमानि तच्छरप्रतानवातोपहतानि वभ्रमुः ॥३२॥

प्रभञ्जनेनाहितपक्षतिध्वनि प्रसर्पतां राजसुतस्य पत्त्रिणाम् ।
ऋभुद्विषस्ते प्रतिलोममाहृतैः शरैर्निजैरेव दृढं निजघ्निरे ॥३३॥

क्षतं पृषत्केन पतत्रिणां पथः पतद्बलं तत्तनयस्य भूभृतः ।
निपातखेदादशिवे भुवस्तले भियेव तूर्णं जहुरन्तराऽसवः ॥३४॥

२९. रणक्षेत्र में राम के बाण से मारे हुए हाथी बड़े वेग से भागे, जिसके कारण उनके कंधों पर बैठे हुए महावत गिर गये और वे मरे हुए हाथी अपने साथ बादलों को घसीटते हुए जब आकाश से पृथ्वी पर गिरे तो उन्होंने अपने ही सैनिकों को कुचल डाला।
३०. राम के बाणों की कतार इतनी तेजी से निकलती थी कि शत्रुओं को वह न तो धनुष पर दिखाई पड़ती थी और न (धनुष से निकल कर) मार्ग ही में और न लक्ष्य के भेदने ही पर। ऐसा लगता था जैसे युद्ध में, देवताओं के शत्रु, जिनके वक्ष विदीर्ण हो गये थे वे पृथ्वी पर गिर कर बिना कारण ही मर गये।
३१. युद्ध में ही इस वीर (राम) के धनुष की प्रत्यञ्चा का निर्घोष और शत्रुओं के गिरने का शब्द मिल कर जितना ही बढ़ता जाता था, उतनी ही उनके (रामके) धनुष से निकले हुए बाणों की गति बढ़ती जाती थी।
३२. देवताओं के शत्रुओं के हाथ से चलाया हुआ बाणों का समूह ठीक निशाना न लगाने के कारण, अपनी ही हवा के झोंके से तितर-बितर होकर आकाश में सूखी पत्तियों की तरह बड़ी देर तक इधर उधर घूमता रहता था।
३३. उस राजपुत्र (राम) के बाण, जिनमें पर लगे हुए थे, चलने के समय बड़ी ध्वनि करते थे और उनमें बड़े वेग से वायु निकलती थी। उस वायु के झोंके से देवताओं के शत्रुओं के बाण, उलट कर उन्हीं को बेतहाशा मार रहे थे।
३४. (पृथ्वीपति दशरथ) के पुत्र के बाणों से सेना के छिन्न-भिन्न होने पर राक्षसों के अन्तःप्राण, सेना को छोड़ कर घावों के मार्ग ही से इस भय के मारे से तुरन्त निकल गये कि कहीं वे इस अमंगलकारी पृथ्वी पर न गिर पड़ें।

शितांकुशन्यासविधूतमस्तकाः शिरःसमीपे विनिविष्टबाहवः ।
ध्रुवं नदन्तो युधि तं प्रहारिणं भयादयाचन्त यथाऽरिदन्तिनः ॥३५॥

द्विपं करीरीयुगमूलखण्डितप्रशीर्णदन्तं समदेन पश्यता ।
मृधावतारव्यथितेन चेतसि क्षणं विचक्रे निकटेन दन्तिना ॥३६॥

करी करं यातमुदग्रविग्रहः परं प्रहर्तुं प्रतिहृत्य रंहसा ।
शरेणभित्वा निखिले निकीलिते शशाक मोक्तुं न भुजस्य मण्डले ॥३७॥

निर्कालिते रामशरेण वेगिना दृढं विभिद्योरुयुगं कुरङ्गमे ।
कृतेऽपि दोषे भयमूढवृत्तिना हयेन कश्चिद्विचचाल नासनात् ॥३८॥

रिपोरपूर्णेन्दुमुखेन कश्चन स्थिरासनः पत्रियुगेन राक्षसः ।
निकृत्तयोरप्यधिजानु पादयोः पपात वेगेन यतो न वाजिनः ॥३९॥

वधाय धावन्नभिशत्रुविद्विषः शरेण कृत्तच्युतमस्तकोपरः ।
हृतायुरप्यादिकृतेन कानिचित्पदानि वेगेन जगाम राक्षसः ॥४०॥

३५. शत्रुओं के हाथी, जिनका सिर तेज अंकुश के प्रहार से भन्ना गया था, अपने दोनों अगले पैर मस्तक के समीप लाकर भय से चिंघाड़ने लगे जैसे वे युद्ध में प्रहार करने वाले से (न मारने की) याचना कर रहे हों।

३६. निकट में खड़े हुए एक हाथी ने, जो युद्ध में आने के कारण व्यथित था, एक दूसरे हाथी को जिसके दाँत जड़ पर टूट जाने से हिल रहे थे, बड़े गर्व से देख कर क्षण भर में अपना इरादा बदल दिया।

३७. एक भारी-भरकम हाथी ने अपने सूंड़ को, जिसे उसने शत्रु को मारने के लिये आगे बढाया था, बड़े वेग से खींच लिया। पर एक बाण के लगने से सम्पूर्ण गर्दन में 'रिपिट' (दृढ़ता से धँसना) हो जाने के कारण उसे वह छुड़ा न सका।

३८ जब राम का अति वेगगामी बाण एक सवार की जाँघों को छेदता हुआ घोड़े के पेट में दृढता से धँस गया। यद्यपि घोड़ा भय के मारे बिचकता रहा पर (उसके साथ एकजुट हो जाने के कारण) सवार अपने आसन से नहीं हटा।

३९ एक राक्षस घोड़े पर ऐसी दृढता से आसन जमा कर बैठा था कि यद्यपि शत्रु (राम) के दो बाणों से, जिनके अग्रभाग अर्धचन्द्र के समान थे, उसके दोनों पैर घुटने के नीचे से कट गये थे, फिर भी वह घोड़े की तीव्र गति के कारण नीचे नहीं गिरा।

४०. शत्रु (राम) को मारने के लिये दौड़ते हुए एक दूसरे राक्षस का सिर राम के बाण ने काट गिराया। यद्यपि उसका प्राणान्त हो गया था, फिर भी (पूर्व प्रेरित) गति के कारण वह कई पग आगे बढ़ गया।

जवेन कश्चिज्जवनाम्बुदोपमं क्षणं सिताभ्रैः कृतकर्णचामरम्।
निपत्य कुम्भे तरसा द्विधा गतैर्विहायसा वाहयति स्म दन्तिनम् ॥४१॥

पृषत्कभिन्नोदररन्ध्रनिर्गतं स्वमन्त्रमुत्क्षिप्य खुराग्रपातनैः।
दिशि क्षिपन्तं युधि वेगधारयाऽपरो भुवं वाहयतिस्म वाजिनम् ॥४२॥

निकृत्य सौमित्ररथाङ्गधारयाऽपवर्णितं स्वं तरसा क्षपाचरः।
क्रुधायुधीकृत्य भुजं महीभुजः सुतं जघान ध्वनिकम्पितस्थलः ॥४३॥

न्यमज्जदर्द्धेन रथाङ्गमीरितं परेण शत्रोरुपदण्डमस्तकम्।
तमेव दण्डं परशुं विधाय तं शिरस्यरातिर्निजघान सस्वनः ॥४४॥

स्वपाणियन्त्रच्युतशस्त्रसादितं विधाय वृन्दं वहुधा सुरद्विषाम्।
रणाय कोशादसिमीशितुः सुतश्चकर्ष कृष्णं विवरादिवोरगम् ॥४५॥

परस्य सौमित्रिकृपाणपाटितद्विधाभवद्देहभृतो निकीलयन्।
शरेण पार्श्वे नृहरिः समग्रतां व्यधत्त रोषेण नु लीलया नु सः ॥४६॥

४१. तेज़ी से भागते हुए, बादल के समान, एक राक्षस फुर्ती से हाथी के मस्तक पर चढ़ कर, बादलों को चीरता हुआ ऐसा लगता था जैसे उसके दोनों ओर चँवर चल रहे हों।

४२ एक दूसरा राक्षस आकाश में अपना घोड़ा भगाये लिये जा रहा था। बाण से विदीर्ण किये हुए उस घोड़े के उदर के छिद्र से अंतड़ियाँ निकल पड़ी थीं जिन्हें वह अपने टाप के अग्रभाग के झटके से, अपनी द्रुतगति से रणभूमि में चारों ओर फेंक रहा था।

४३. अपने गर्जन से पहाड़ को कँपा देने वाले एक निशाचर के हाथ को जब लक्ष्मण के तीखे चक्र ने काट कर बलपूर्वक दूर फेंक दिया तो उस निशाचर ने क्रोध में अपने उस हाथ को आयुध की तरह प्रयोग कर, पृथ्वीपति के पुत्र (राम) को मारा।

४४. जब राम का फेंका हुआ चक्र एक राक्षस की गदा के ऊपरी भाग में आधा धँस गया तब गरज कर उस राक्षस ने उससे (गदा से) फरसे का काम लेकर उनके सिर पर मारा।

४५. जब राजपुत्र देवताओं के शत्रुओं के समूह को अपने हाथ में लिये हुए यंत्र से शस्त्रों के द्वारा अनेक प्रकार से मार चुके तब उन्होंने, युद्ध के लिये म्यान से तलवार खींची जैसे बिल से कोई काले साँप को खींचे।

४६. लक्ष्मण की तलवार से दो टुकड़े किये हुए एक राक्षस के शरीर को पुरुष सिंह (राम) ने तीर से भेद कर दोनों टुकड़ों को क्रोध से अथवा खेलवाड़ में समूचा कर दिया।

करं रणाय प्रतिहृत्य धावति द्विपे निजघ्ने तनयेन भूभुजः ।
बहूनि खण्डानि विधित्सुनाऽसिना समेत्य सम्पिण्डित एव तत्करः ॥४७॥

कृपाणकृत्तस्य दृढोरुयन्त्रितं न पश्चिमार्द्धं निपपात सादिनः ।
तुरङ्गवल्गादृढकृष्टमुष्टिना परेण भागेन च लम्बितं पुरः ॥४८॥

परेण खड्गेऽनुपपात पातिते सुरारिरुत्तानविसृष्टविग्रहः ।
अपि व्यपाये सति सत्त्वमानयोर्द्विषे न दित्सन्निव पृष्ठमाहवे ॥४९॥

निमग्नखड्गे जठरे सुरद्विपः परिक्षरच्छोणितसिक्तमूर्तयः ।
परस्परस्य प्रसभं समुच्छ्वसत्प्रहारवातेन पुनर्विशोषिताः ॥५०॥

ततस्ततासृक्स्रवलोहिताम्बरः श्रियं जयस्यामुपयन्तुमुद्यतः ।
यथेप्सपानाशनतृप्तचेतसश्चकार राजन्यवरश्चिरं द्विजान् ॥५१॥

ततो मरुत्पावकशस्त्रनिर्द्धुतप्रदग्धमारीचसुबाहुविग्रहः ।
बलं बलीयानवलीकृतं भिया ततं दिगन्तं स निनाय नायकः ॥५२॥

४७. जब एक हाथी अपने सूंड़ को सिकोड़ कर युद्ध करने के लिये दौड़ा आ रहा था पृथ्वीपति के पुत्र (राम) ने उसको टुकड़े-टुकड़े कर डालने की इच्छा से उसके निकट आकर, अपनी तलवार से, उस सूंड सिकोड़े हुए हाथी पर वार किया ।

४८. यद्यपि एक घुड़सवार का नीचे का धड़ तलवार से कट गया था परन्तु अपनी जाँघों से (घोड़े को) कस कर बैठने के कारण वह नीचे नही गिरा । और घोड़े की लगाम को मुट्ठी से कस कर थामे रहने से उसका ऊपरी धड़ सामने लटकता रह गया।

४९. राम ने देवताओं के एक शत्रु (राक्षस) को मार गिराया तो वह उतान (=वक्ष ऊपर और पीठ नीचे) गिरा । यद्यपि उसके प्राण और उसका दर्प नष्ट हो गया था फिर भी ऐसा लगता था जैसे युद्ध में वह शत्रु को पीठ नही दिखलाना चाहता था ।

५०. देवताओं के शत्रुओं (राक्षसों) के पेट में तलवार के घुस जाने से उसमें से बहते हुए रुधिर से उनके शरीर भीग गये थे । पर प्रहार-पर-प्रहार करने से ज़ोर-ज़ोर साँस लेने से उसकी हवा से वह रुधिर सूख गया ।

५१. तब उस क्षत्रिय श्रेष्ठ (राम) ने, जिसके कपड़े रुधिर के छींटों से रक्तवर्ण हो गये थे, विजय लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये, उद्यत होकर, गिद्धों को, बहुत दिनों बाद, जीभर कर मांस भोजन और रुधिर पान से तृप्त किया ।

५२. तब उस बलवान् नेता (राम) ने मारीच और सुबाहु के शरीर को वायव्य और आग्नेय अस्त्रों से छिन्न-भिन्न और दग्ध करने के पश्चात्, भय से निर्बल सेना को दिशाओं के अन्त तक खदेड़ दिया ।

रणे दधानो हृदयं दयाऽऽर्द्रं सलीलमायम्य धनुर्धनुर्धरः।
पराङ्मुखानां शनकैः शिलीमुखाद्विपद्विपानां जघने जघान सः॥५३॥

भृशं न सेहे युधि राममाशुगप्रतानशुष्काशनिपातभीषणम्।
युगान्ततिग्मद्युतितेजसं द्विषो बलीयसो भ्रातृबलान्वितं बलम्॥५४॥

स्थित्वा गुणे महति तत्क्षणलब्धमोक्षाः सुश्लिष्टयुक्तिसफलाननसम्पदस्ते।
शाक्या इवास्य विशिखा रिपुसैनिकेभ्यश्चक्रुस्त्रिविष्टपसभागमनोपदेशम्॥५५॥

हुतभुजि निधनाख्ये शत्रुहव्यानि हुत्वा परिणयति जयश्रीवीरकन्यां नृवीरे।
समरपटहकोपे तत्र नृत्तं कबन्धैर्बहलरुधिरपङ्कस्फारिसिन्दूरलेपैः॥५६॥

मध्येनिकृत्तरजनीचरपूर्वकायाश्छेदैः स्थिता भुवि निपत्य भयं वितेनुः।
रक्षःसु युद्धविमुखेषु विभिद्य भूमीमर्द्धोत्थिता इव पुनः समराय दैत्याः॥५७॥

५३. तब उस धनुर्धर ने, जिसका हृदय युद्ध में दयार्द्र हो जाता था, धनुष को रोक कर शत्रुओं के हाथियों की जंघा को, जिन्होने बाणों से मुंह फेर लिया था, प्रेम से धीरे-धीरे थपथपाया।

५४. अपने भाई (लक्ष्मण) के बल से समन्वित, शुष्क विद्युत के गिरने के समान भयङ्कर, प्रलयकालीन झुलसाने वाली सूर्य की प्रखर रश्मियों के समान प्रचण्ड राम के बाण-समूह को बलवान शत्रुओं (राक्षसों) की सेना युद्ध में बिलकुल न सह सकी।

५५. लम्बी प्रत्यञ्चा पर चढ़ कर फुर्ती से छोड़े हुए, बड़ी योग्यता से प्रयुक्त होने के कारण, सफलता से श्रीसम्पन्न जिनके अग्रभाग हैं, ऐसे (राम के) तीखे बाण, बौद्ध भिक्षुओं की भाँति, शत्रु के सैनिकों को इन्द्र की सभा में जाने का उपदेश दे रहे थे।

विशेष—शाक्या इव :–'गुणे महति'=आनन्द, शान्ति इत्यादि गुणों से सम्बन्धित। 'तत्क्षण लब्धमोक्षः'=उसी क्षण मोक्ष की प्राप्ति। 'सुश्लिष्ट युक्ति सफलाननसंपद'=गम्भीर योगाभ्यास से जिनका मुख देदीप्यमान हो रहा था। 'विशिखा'=जिन्होंने चोटी कटवा दी थी। 'रिपु सैनिकाः'=मार के साथी।

५६. विनाश नामक अग्नि में शत्रुओं की आहुति देकर उस पुरुषवीर ने जब विजयश्री की वीर कन्या के साथ विवाह किया तब रण के नगाड़े बज रहे थे, कबन्ध जिनके शरीर पर, सिन्दूर की तरह रुधिर के कीचड़ का लेप खूब पुता था, नाच रहे थे।

५७. बीच से कटे हुए निशाचरों के पृथ्वी पर पड़े हुए टुकड़े दिल दहला रहे थे। ऐसा लगता था जैसे युद्ध से भागे हुए राक्षस पृथ्वी को फोड़ कर आधे बाहर निकले हुए, युद्ध करने के लिये फिर बाहर निकल रहे हैं।

रामायुधव्यथितराक्षसरक्तधारास्पर्शेन लोहितरुचो मुहुरम्बुवाहाः ।
गौरीपतिप्रणतिसम्भ्रमलाभवन्ध्यां सन्ध्यामकालघटितां गगने वितेनुः ॥५८॥

संक्रीड़द्रथतुरगद्विपाभ्रवृन्दव्युत्क्रान्तौ विरतपृषत्कपातवृष्टि ।
निस्त्रिंशस्फुरिततड़िद्वियुक्तमाप व्यक्तार्कद्युति शरदीव तन्नभः श्रीः ॥५९॥

रक्षोवसापिशितपूरितकुक्षिरन्ध्रः काकुत्स्थबाणहतहस्तिमुखाधिरूढः ।
पर्यन्तलग्नरुधिराणि मृदुप्रणादस्तुण्डानि वायसगणो रदने ममार्ज ॥६०॥

राजात्मजौ मुनिसुताक्षिभिराहिताघ्यौं प्रत्युद्गतौ मृगकुलैरुटजानि गत्वा ।
आवर्जिते विदधतुः शिरसी सुबाह्वोर्बाणव्रजेन गुरुणी गुरुपादमूले ॥६१॥

इति पञ्चमः सर्गः ।

५८. राम के शस्त्रों से वध किये गये राक्षसों के रुधिर के स्पर्श से रक्त वर्ण, जल से भरे मेघों ने, असमय आकाश में रह-रह कर संध्या का विस्तार किया, जो गौरी-पति शिव की अर्चना के लाभ से विहीन थी ।

विशेष–बादल के लाल होने से पूजकों ने सन्ध्या के भ्रम से शिव को प्रणाम किया । पर उन्हें उसका कोई लाभ नहीं हुआ, यह भाव है ।

छन्द—वसन्त तिलक ।

५९. मेघों के सदृश खेलवाड़ करते रथों, घोड़े और हाथियों के निकल जाने से, एवं वृष्टिपात के सदृश बाणों का चलना बन्द हो जाने से, और बिजली की चमक की तरह चलती हुई तलवार से मुक्त हो जाने पर, आकाश में ऐसे सौंदर्य का सञ्चार हुआ जैसा सूर्य की चमक से शरद्कालीन नभ में होता है ।

६०. धीरे-धीरे काँव-काँव करता हुआ, कौओं का एक झुंड, काकुत्स्थ के वंशज (राम) के बाणों से मारे गये हाथियों के सर पर बैठ कर, अपने उदर के गड्ढे को राक्षसों के माँस और मज्जा से भर, अपने ठोंट के अग्रभाग पर लगे हुए रुधिर को, हाथियों के दाँतों पर रगड़ कर साफ कर रहा था ।

६१. दोनों राजपुत्र (राम और और लक्ष्मण) ने जिन्हें तपस्विकन्यायें (हर्षातिरेक से बहते हुए) अश्रुधाराओं से अर्घ्य दे रही थीं और जिनका मृगों का झुंड पीछा कर रहा था, मुनि के कुटियों में जाकर, सुबाहु और मारीच के बाणों से लगे हुए घावों से अलंकृत मस्तकों को गुरुचरणों में नवाया ।

पाँचवाँ सर्ग समाप्त ।

षष्ठः सर्गः

उच्चचाल ततः स्रष्टा जगदंशस्य मैथिलम् ।
अनुग्रहीतुमग्रण्यं गृहिणामाहितक्रतुम् ॥१॥

बिभ्रत्सन्ध्याविधिस्नानसंवर्धितरुचो जटाः ।
ज्वाला इव तपोवह्नेः शालिशूकाग्रपिङ्गलाः ॥२॥

तेजसातपसो दीप्तः स्निग्धश्च करुणागुणात् ।
समं सन्दर्शितादित्यचन्द्रोदय इवार्णवः ॥३॥

शिरः प्रदेशलम्बिन्या कुर्वन् रुद्राक्षमालया ।
फलिता इव तीर्थाम्भः सेकपुष्टया जटालताः ॥४॥

अरण्यदेवताभिः स प्रयुक्तवलिमङ्गलः ।
व्रती निरगमत् सत्रान्मेघाद्भ्रम इव ज्वलन् ॥५॥

१. संसार के एक अंश का सृजन करने वाले (विश्वामित्र) अपने आश्रम से, गृहस्थों के अग्रणी, मिथिलाधिपति (जनक), जिन्होंने हाल ही मे एक यज्ञ आरम्भ किया था, को अनुगृहीत करने के लिये उठ कर चले।

२. सिर पर जटाजूट धारण किये हुए, सन्ध्यावन्दन के हेतु विधिवत नित्यस्नान से जिनकी कान्ति बढ़ गई थी और चावल के पौधों के अग्रभाग के सदृश पिङ्गलवर्ण वाले, तपस्या *की अग्नि की लपट के समान (वे विश्वामित्र, यज्ञशाला से निकले) ।*

विशेष—श्लोक २ से ५ तक 'कलापक' है। हर श्लोक के साथ "स सत्रान्निरगमत्" (वे यज्ञशाला से निकले) पढ़ने से अन्वय होगा। कलापक की व्याख्या देखिये २–२।

३. तपस्या की प्रभा से दमकते हुए, करुणा के कारण स्निग्ध, समुद्र मे सूर्य और चन्द्र के एक साथ उदय होने के समान।

४. सिर से लटकती हुई रुद्राक्ष की माला के सम्पर्क से ऐसा लगता था जैसे तीर्थ के जल से सिञ्चित उनकी जटा रूपी लता में फल लगे हों।

५. वह तपस्वी जिसे वन देवताओं ने मंगल बलि अर्पित की थी यज्ञशाला से ऐसे निकला जैसे दमकता हुआ सूर्य बादल से निकलता है।

निनाय हरिणव्रातं स्वयं यत्नेन वर्द्धितम् ।
प्रस्थितं सह संरुध्य बाष्पापूरितलोचनौ ॥६॥

गमनव्याहृतारम्भप्रणामेषु महर्षिभिः ।
प्राणिभिः शिरसि स्पृष्टौ हव्यधूमसुगन्धिभिः ॥७॥

वैखानसवधूहस्तलम्भितार्घ्यकृताशिषौ ।
तौ द्रष्टुकामौ मेदिन्या ईश्वरस्य-सुतौ धनुः ॥८॥

ततश्चिरपरित्यक्तं गौतमस्य तमोनुदः ।
विवेश विश्वभुग्धाम्नो धाम वर्त्मवशाद्वशी ॥९॥

स्थपुटासु कुटीरस्य निकटाङ्गनभूमिषु ।
प्ररूढदर्भसन्दर्भघासग्रासोद्यतद्विपम् ॥१०॥

क्वचिदुद्देहिकाऽऽलीढजीर्णवल्कलमन्यतः ।
आरण्यतुंदुमच्छिन्नशीर्णकृष्णमृगाजिनम् ॥११॥

६. अपने यत्नों से पाले-पोसे, पीछे-पीछे चलते हुए मृगों के झुंड को रोक कर, हर्षातिरेक से आँखों में आँसू भरे राम और लक्ष्मण को साथ लेकर (विश्वामित्र) चल पड़े।

विशेष—श्लोक ६ से ८ तक 'विशेषक' है।
'विशेषक' की व्याख्या देखिये, २–२।

७. प्रस्थान की चर्चा के आरम्भ में जब दोनों भाइयों ने गुरुजनों को प्रणाम किया तो उन लोगों ने हव्य से सुगंधित अपने हाथों से उनके सिर को स्पर्श किया।

८. जब आश्रमवासियों की पत्नियों ने पृथ्वीपति के उन दोनों पुत्रों को अर्घ्य प्रदान किया तो उन्होंने उनको आशीर्वाद दिया।

९. तब जितेन्द्रिय मुनि (विश्वामित्र) अग्नि के समान तेजस्वी, अन्धकार को नाश करने वाले, गौतम के आश्रम में गये, जो रास्ते ही में था और जो बहुत दिनों से खाली पड़ा था।

१०. जहाँ कुटी के निकट, आँगन में उगी हुई घास को खाने के लिये हाथी उद्यत थे।

विशेष—१० से १३ श्लोक तक 'कुलक' में आश्रम वर्णन है।
कुलक की व्याख्या देखिये, २–२।

११. जहाँ वल्कल के पुराने वस्त्रों को दीमकों ने खा डाला था और कृष्ण मृग के चर्म जिनको जंगली चूहों ने कुतर डाला था, जर्जर होकर सूख गये थे।

तलस्थितजरत्कुम्भमुखान्निर्गच्छताऽहिना ।
आवर्जितपयस्तिम्यद् वृक्षमूलमिव क्वचित् ॥१२॥

क्वचिद्विष्णुप्रतिच्छन्दः कुक्षिस्थविवराननात् ।
नकुलैरन्त्रवत्कृष्टवेष्टमानसरीसृपम् ॥१३॥

तस्मिन्निजपदस्पर्शत्याजितग्रावविग्रहम् ।
पप्रच्छ स्त्रीमयं तेजो रामः शापस्य सम्भवम् ॥१४॥

निगद्यासौ सुनासीरं व्रीडा नम्रीकृतानना ।
न्यवीवददनुक्त्वैव यौवनाविनयं पुरा ॥१५॥

ययौ रामोऽथ तं देशं मरुतामास वेगिनाम् ।
पुरुहूत हतभ्रूणच्छेदेभ्यो यत्र संभवः ॥१६॥

प्रतीत्या लङ्घिताध्वानस्ते तोरणमणित्विषा ।
इति चेतोहरा राममभिव्यातेनिरे गिरः ॥१७॥

मत्तमातङ्गसंदानदामनिर्दलितत्वचः ।
अजय्यत्वं वदन्तीव यस्य पर्यन्तभूरुहः ॥१८॥

१२. कहीं वृक्षों की जड़ें, थीं जो पृथ्वी पर पड़े हुए घड़े के पानी से जैसे भीग गई हों, जब उसके मोहड़े से निकलते हुए साँप ने उसे लुढ़का दिया ।

१३. कहीं विष्णु की मूर्ति के पेट के गढ़े से, उस में गुड़री मार कर बैठे हुए सर्प को अँतड़ी की तरह, नेवले खींच रहे थे ।

१४. आश्रम में राम ने उस कान्तिमयी स्त्री से, जिसने उनके चरणस्पर्श से पत्थर के शरीर को छोड़ दिया था, शाप का कारण पूछा ।

१५. "पूर्व समय में इन्द्र" कह कर लज्जा से मुख नीचा किये हुए, बिना और कुछ कहे उसने अपनी यौवनावस्था में अपने पतन की बात कह डाली ।

१६. तब राम उस प्रदेश में गये जहाँ इन्द्र ने गर्भ के टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे और उनसे वेगशाली मरुतों का जन्म हुआ था ।

१७. अपने अनुभव एवं तोरण द्वारों पर जड़ी हुई मणियों की प्रभा से मार्ग को पार कर वे राम से मनोहारी वचन बोले ।

१८. नगर के पर्यन्त भाग पर लगे हुए वृक्षों के बक्ले, उनमें (वृक्षों में) बंधे हुए मस्त हाथियों की रस्सी से उघड़ जाने से, जैसे नगर के अजेय होने का विज्ञापन कर रहे थे ।

तारावजस्पृशो यातिं पिधानत्वं निशाकरः ।
यत्र प्राकारचक्रस्य नभोमध्यस्थमण्डलः ॥१६॥

मध्ये कुवलयाक्रान्तमहापद्मविभूषणः ।
अवतीर्णघनालिश्रीर्यत्खातः सागरायते ॥२०॥

वप्राजगरभोगेन वेष्टमानः समन्ततः ।
पिण्डीभूत इव त्रासाद्धनो यद्गृहसंचयः ॥२१॥

यद्गोपुरविटङ्काग्रचन्द्रकान्तमणिस्रवम् ।
रसयन्ति स्यदश्रान्ताः शीतदीधितिवाजिनः ॥२२॥

विटङ्कभुजसंप्राप्त सहस्रकरमूर्तिना ।
विग्रहेण यदावाससन्तानो भार्गवायते ॥२३॥

यद्देवगृहशृङ्गस्थपद्मरागप्रभाऽऽहतम् ।
व्योममध्यं प्रपद्यापि बिम्बं बालायते रवेः ॥२४॥

हर्म्यशृङ्गेषु निर्धूतध्वान्ता यत्र मणित्विषः ।
ज्यौत्स्नः कृष्ण इति ज्ञानं जने रुन्धन्ति पक्षयोः ॥२५॥

१६. जहाँ आकाश के बीच मे स्थित चन्द्र मण्डल, तारागणों को छूती हुई, नगर की गोलाकार चहारदीवारी के लिये ढक्कन बन गया था।

२०. *नगर की परिखा जो श्वेत और नील कमलों से विभूषित थी और जो बीच में मँड़राते हुए झुंड के झुंड भ्रमरों से सुशोभित थी, समुद्र के समान लगती थी।*

२१. अजगर के समान प्राचीर की परिधि के भीतर घने बने हुए मकानों का समूह ऐसा लगता था जैसे वह, भय के कारण एक स्थान पर एकत्र हो गया हो।

२२. चन्द्रमा के घोड़े, अपनी तेज चाल के कारण थक कर, नगर के फाटकों पर कबूतर की छतरियों से लटकते चन्द्रकान्त मणि से रसते हुए जल को चाटते हैं।

२३. हाथी के समान लगने वाली, कबूतरों की छतरियों के कारण, सूर्य के समान मकानों की परम्परा शुक्र के सदृश लगती थी।

२४. यद्यपि सूर्य का बिम्ब आकाश के मध्य में आ गया था (अर्थात् यद्यपि वह तरुण सूर्य था) पर देवालयों के शृंगों पर लगे हुए, कमल के रंग के हीरों की चमक से हार कर वह बाल सूर्य लगता था।

२५. जहाँ मकान की मीनारों पर लगे हुए रत्नों की प्रभा के कारण, अन्धकार दूर हो जाने से लोगों को यह पता नहीं चल पाता था कि शुक्ल पक्ष है या कृष्ण पक्ष।

यत्र वातायनासन्नवारमुख्यामुखेन्दवः ।
रथ्यासंचारिणो यूनः स्खलयन्ति पदे पदे ॥२६॥

श्रुत्वा यत्सौधपृष्ठेषु विमानशिखिनिस्वनम् ।
याति शैथिल्यमुष्णांशुहयभोगीन्द्रवल्गनम् ॥२७॥

सोपानरत्ननिर्भिन्नतमश्छेदेन दर्शिताः ।
ग्लायन्ति यत्र न सरश्चक्रवाका निशास्वपि ॥२८॥

यस्य हर्म्यसमासन्नतिग्मदीधितिवाजिनः ।
मन्दं व्रजन्ति सङ्गीतवीणाऽऽवर्जितचेतसः ॥२९॥

पौरसन्दोहभोगस्य श्रिया वज्रभृतः पुरीम् ।
अधो विधत्ते धामेदं मैथिलस्य पुरं परम् ॥३०॥

इति व्याहरतैवाथ तेन स्थानं महीयसः ।
पुरमृद्धं क्रतुपतेर्निन्याते नेतुरात्मजौ ॥३१॥

कृतपाद्यो भुवोभर्तुः स व्रती प्रमदाश्रुभिः ।
विष्टरं परिजग्राह सिंहचर्मोत्तरच्छदम् ॥३२॥

२६. जहाँ राजपथ की खिड़कियों पर बैठी हुई, प्रमुख, चन्द्रमुखी वेश्याओं के कारण, रास्ते में सैलानी युवा पुरुष पग-पग पर ठोकर खाते थे।
२७ राजमहल की छत पर चलते हुए मयूरों की वाणी सुनकर सूर्य के घोड़ों की विशिष्ट सर्पों की रास ढीली पड़ जाती थी।
२८. जहाँ सीढ़ियों पर जड़े हुए रत्नों की प्रभा से सरोवर में रहने-वाला चकवा दिखलाई पड़ जाता था और रात्रि में भी अन्धकार दूर हो जाने के कारण उसकी उदासी दूर हो जाती थी (वह समझता था कि दिन हो गया, अब चकई से भेंट होगी, यह भाव है)।
२९. जहाँ सूर्य के घोड़े महलों के निकट पहुँच कर, गायन और वीणा के स्वर से आकृष्ट हो धीमे-धीमे चलने लगते थे।
३०. मिथिलाधिपति का यह नगर पौरजनों के आनन्द की प्रचुर सामग्री की श्री के कारण इन्द्रपुरी को नीचा दिखाता था।
३१. इस प्रकार कह कर वे (विश्वामित्र), (राजाओं के) नेता (दशरथ) के दोनों पुत्रों को, यज्ञ करने में प्रमुख महात्मा (जनक) के समृद्ध स्थान पर ले गये।
३२. पृथ्वीपति (जनक) से पाद्यार्घ्य लेकर, वह व्रती (विश्वामित्र) नेत्रों में आनन्द के आँसू भर कर, एक आसन पर जिसके ऊपर सिंह का चर्म था, बैठे।

स्तुत्याऽऽसुतीवलं सत्रे जगादोत्साहयन्मुनिः ।
प्रभोर्भ्राजित एवाग्रे निःस्पृहेण प्रभोरपि ॥३३॥

यो धर्मस्य धृतः सप्ततन्तुभिः सगरादिभिः ।
तन्तुः स एव सम्राजा सम्यगालम्बितस्त्वया ॥३४॥

अपि सत्यां विस्रसायामविस्रस्तां तव श्रियम् ।
विक्रमस्य वदन्तीव सत्रसंभारसम्पदः ॥३५॥

कृतवेलाव्यतिक्रान्तिस्त्वरासङ्क्षोचिताम्वरा ।
साभिसारेव ते कीर्तिर्दूरमाक्रामदाशया ॥३६॥

कच्चित्स्वार्थे क्रतुरयं स्वर्ग्यस्तव फलस्पृहाम् ।
विनैव प्रथते कच्चिन्निःस्वम्प्रति वदान्यता ॥३७॥

आदाय करमाढ्येभ्यः कीकटेष्वपि वर्षसि ।
अपीय वारि सिन्धुभ्यः स्थलेष्विव घनाघनः ॥३८॥

३३. विश्वामित्र, जिनके हृदय में किसी प्रकार का लालच नहीं था, विधिवत् यज्ञ करने वाले (जनक) को उत्साहित करते, उनसे स्तुति के वचन बोले ।

३४. सगरादि, आपके पूर्वजों ने, जो यज्ञों के द्वारा धर्माचरण के सूत्र का बराबर अवलम्बन किया था, उसी को सम्राट ने (आपने) उपयुक्तरीति से ग्रहण किया है ।

३५. यद्यपि आप वृद्ध हो गये हैं पर आपके यज्ञों की अभिवृद्धि का ओज, जैसे कह रहा है कि आपके पराक्रम का वैभव बूढ़ा नहीं हुआ है ।

३६. आपकी कीर्ति ने, जिसकी तीव्र गति से आकाश छोटा पड़ गया है और जो समुद्र तट को पार कर गई है, अभिसारिका की तरह लम्बे-लम्बे डग बढ़ाते हुए दिगन्त के पार चली गई है ।

३७. यह स्वर्ग में ले जाने वाला यज्ञ आप स्वार्थ के लिये कर रहे हैं या बिना किसी लालच के, गरीबों के प्रति उदारता से कर रहे हैं ।

३८. (मैं आशा करता हूँ कि) धनी लोगों से कर लेकर आप उसे गरीबों को देते हैं । जैसे बरसने वाला मेघ नदियों से पानी लेकर पृथ्वी पर बरसाता है ।

विशेष—प्रजानामेव भूत्यर्थं ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्र गुण मुत्स्रष्टु मादत्तेहि रसं रविः॥ रघुवंश —१–१८ ।

नवे वयसि राज्यार्थं प्रविधाय जरां गतान् ।
कच्चित्पुष्णासि ते भृत्यान् सादरं समयेऽक्षमे ॥३९॥

त्वद्विक्रमेण वैधव्यं प्रापिता रिपुयोषितः ।
बालप्राणार्थिनीः कच्चित्सम्यग्रक्षसि बन्धुवत् ॥४०॥

द्वयेनादौ त्रिवर्गस्य कच्चित्साम्यं गतश्चिरम् ।
धर्मोऽद्य वयसो वृद्धया सह संवर्द्धते तव ॥४१॥

इति प्रश्नावकाशस्य विरामे रामलक्ष्मणौ ।
मुनेर्विवेद वैदेहो द्रष्टुकामौ निजं धनुः ॥४२॥

एकमुद्रेचितं तस्य भ्रूचापमनुजीविभिः ।
चापस्यानयने हेतुः क्षणमास क्षमापतेः ॥४३॥

३९. (मैं आशा करता हूँ कि) वे नौकर जो अपनी युवावस्था मे राज्य की सेवा में अगुवा थे, वे जब बूढे होकर काम करने के योग्य नही रह जाते, उस समय आप उनका आदर से भरण-पोषण करते है।

४०. (मैं आशा करता हूँ कि) आप अपने शत्रुओं की स्त्रियों की, जो आपके पराक्रम से विधवा हो गई हैं और जो अपने बच्चों की रक्षा के लिये आपसे प्रार्थना करती हैं, उनकी अपने परिवार की भाँति आप रक्षा करते हैं।

४१. (मैं आशा करता हूँ कि) पहिले की भाँति जैसे आपका धर्म, त्रिवर्ग के अन्य दो वर्गों (अर्थात् अर्थ और काम) से समता रखता था वैसे अब भी आपकी आयु की वृद्धि के साथ-साथ उस समता की वृद्धि हो रही है।

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् भरत सेवसे ॥
अयोध्याकाण्ड, १००–६३ ।

विशेष—शास्त्र कहता है "धर्मार्थ कामाः सममेव सेव्याः । यस्त्वेक सेव्यः स नरो जघन्यः" धर्म, अर्थ और काम का समता से व्यवहार करना चाहिये । जो मनुष्य केवल एक की सेवा करता है वह जघन्य है।

४२. इस प्रकार जब मुनि पूछ चुके तब विदेहाधिपति को मालूम हुआ कि राम और लक्ष्मण उनका धनुष देखना चाहते हैं।

४३. तब पृथ्वीपति (जनक) के केवल क्षणभर के लिये एक भौंह को थोड़ा उठा देनेसे उनके नौकर लोग धनुष को उठा लाये।

वरवक्त्रेन्दु बिम्बत्विड्ग्रासगृध्नुं परं ग्रहम् ।
सीताविवाहसंयोगसुखरोधार्गलान्तरम् ॥४४॥

अहिर्बुध्नपरित्यागतीव्रशोकभरादिव ।
मध्ये लोहसमुद्गस्य निःशब्दंशयितं चिरम् ॥४५॥

अमार्द्दवमतिस्तब्धं गुणेनापि न नामितम् ।
ईशेन दर्शितस्नेहं नीचं जनमिवाग्रहम् ॥४६॥

चक्रीचकार कर्णान्तावतंसितनखद्युतिः ।
तद्दाशरथिरादाय सीताक्रयधनं धनुः ॥४७॥

ततस्त्रासकरो नादश्चापभङ्गसमुद्भवः ।
दिशः ससर्प रामस्य यशोघोषणडिण्डिमः ॥४८॥

क्षेत्रं भूमिर्गुणस्यासौ सीतया सहिता वृता ।
वप्रैः फलवती सद्यः प्रचकम्पेऽखिला पुरी ॥४९॥

४४. जो वर (राम) के मुखचन्द्र के बिम्ब से निकली हुई प्रभा को कवलित करने के लिये लालायित भयानक ग्रह है, अथवा सीता के विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न सुख के बन्द करने के लिये कोई दूसरी कुंडी है।

विशेष —श्लोक ४३ से ४७ तक 'कलापक' है।
"तद्धनुः दाशरथिः चक्री चकार" से अन्वय होगा।

४५. जो शङ्कर से परित्यक्त होने के कारण महादुःख से व्यथित होकर लोहे के कोष में बहुत काल से चुपचाप पड़ा था।

४६. जो कठोर, बड़ा मजबूत, प्रत्यञ्चा से भी न झुकने वाला, शिव को बहुत प्यारा, नीच की भांति न पकड़ में आने वाला था।

४७. दशरथ के पुत्र (राम) ने, जिनके नखों की प्रभा उनके कान का अलङ्कार बन गई थी (कान तक खींचने के कारण, यह भाव है) उस धनुष को जो सीता के क्रय का मूल्य था, चक्र के समान झुका दिया।

४८. धनुष के टूट जाने से ऐसा भयानक शब्द दिशाओं में गूँज गया जैसे वह राम के यश की घोषणा करने वाला नगाड़ा हो।

४९. गुणों की क्षेत्र भूमि, सुन्दर फल देने वाली, सीता सहित प्राचीर से घिरी हुई वह सम्पूर्ण नगरी कांप उठी।

रोमोद्भेदापदेशेन हर्षमंकुरितं हृदि।
सिञ्चन्नस्रुस्रवेण स्म मुनिमाह महीपतिः ॥५०॥

प्रौढेऽपि वयसि प्रायो रूणद्धि तपसि स्पृहाम्।
यच्चापभङ्गदेयं मे प्राणं सीमन्तिनीधनम् ॥५१॥

तद्रामस्य गतं दास्यं विक्रमक्रयलम्भितम्।
अस्य ह्रस्वद्वितीये मे न्यस्तां विद्ध्यूर्मिलामपि ॥५२॥

शोकाख्यमस्य वैदेह्या विवाहपरिलम्बजम्।
हृच्छल्यमस्तुकारेण तपस्यन् निचकर्ष सः ॥५३॥

अथ दूतास्थितः प्रायाद्राजद्वय मनोरथः।
अयोध्यामन्यराजन्यप्रीतिप्रशमनो रथः ॥५४॥

यन्नासीद्रघुपतिरूपनिर्जितोऽसौ वैलक्ष्यक्षतकृतसम्मदावसादः।
लालाटयज्वलनरयेण भूतभर्त्रा नैरात्म्यं हृदयभुवः शिवाय सृष्टम् ॥५५॥

५०. पृथ्वीपति (जनक) जिनके हृदय में, अश्रु से सिञ्चित, हर्ष, अंकुरा कर रोमाञ्च के बहाने निकल पड़ा था, मुनि से बोले।

५१. धनुष के तोड़ने के कारण स्त्रीरूपी धन के देने का ऋण जो हो गया है वह वृद्धावस्था मे भी प्रायः तपस्या करने की इच्छा को रोकता है।

५२. विक्रम के द्वारा खरीदने से जो मेरे ऊपर ऋण था वह अब राम के पास दासता से लिये चला गया। अब आप यह जाने कि मैं उर्मिला को इनके छोटे भाई (लक्ष्मण) को देता हूँ।

५३. तपस्या में निष्ठा रखने वाले मुनि (विश्वामित्र) ने, सीता के विवाह मे देर होने के कारण जो जनक के हृदय मे शोकरूपी भाला चुभ रहा था उसे अपनी स्वीकृति देकर निकाल दिया।

५४. तब एक रथ दोनों राजाओ (जनक और दशरथ) के मनोरथों के लिये हुए, उन राजपुत्रों के साथ जो (सीता की प्रीति के) शान्ति व्यवस्था के दूत थे, अयोध्या भेजा गया।

५५. राम के रूपसौंदर्य से पराजित, कामदेव के हर्षोन्माद का, लज्जा के आघात से जो नाश नहीं हुआ उसका कारण यह था कि गणों के स्वामी (शङ्कर) ने उसे (कामदेव को) अपने मस्तक की अग्नि की ज्वाला से उसकी आत्मा का विनाश कर दिया था।

पीनांसो नियतमुरस्तटो विशालः क्षामं तद्व्यथयति मध्यमं शरीरं ।
धात्रेति स्वयमनुचिन्त्य लम्बबाहुस्तम्भाभ्यां दृढमिव यन्त्रितोऽस्य देहः ॥५६॥

नेत्रान्ताधरकरपल्लवप्रभाभिस्तेनोष्णद्युतिकरकुंकुमानुलिप्तः ।
व्याकोशारुणवनजप्रभाविशेषो निर्जित्याहित इव पादयोरधस्तात् ॥५७॥

ज्ञानं विलोचनमिति प्रथिते तदीये नेत्रे उभे विमलवृत्तिगुणस्वभावे ।
एकं तयोः श्रुतिपथस्य समीपमात्रं यातं प्रपन्नमखिलश्रुतिपारमन्यत् ॥५८॥

इत्थं वराश्रयकथेषु जनेषु सीता नम्रेण घर्मसलिलास्पदगण्ड लेखा ।
तस्थौ मुखेन शशिनिर्मलदन्तकान्तिज्योत्स्नानिषिक्तदशनच्छदपल्लवेन ॥५९॥

इति षष्ठः सर्गः ।

५६ उनके (राम के) कंधे मांसल थे और वक्ष विशाल था, उनका कटिप्रदेश पतला था, अतः उनके शरीर को अवश्य कष्ट होता होगा, ऐसा स्वयं ब्रह्मा ने विचार कर उनके शरीर को लम्बी भुजाओं के स्तम्भों से दृढ़ता से बांध दिया ।

५७. अपनी तिरछी आँखों, अधरों और पल्लव के सदृश हाथों की कान्ति से, सूर्य की किरणों की अरुणाई से व्याप्त प्रफुल्ल कमलों की प्रभा को उन्होंने (राम ने) पराजित कर, जैसे अपने पैर के तलुओं के नीचे रख लिया हो ।

५८. निर्मल, गुण और स्वभाव से युक्त, उनकी दो प्रसिद्ध आँखें थीं । एक दृष्टि चक्षु और दूसरी ज्ञान चक्षु । उन दोनों में से पहिली (दृष्टिचक्षु) तो केवल कान तक पहुंचती थी, पर दूसरी समस्त वेदों के पार तक जाती थी ।

५९. जब इस प्रकार लोग राम से सम्बन्धित कथाओं का बखान कर रहे थे तब, सीता जिनके गालों पर गर्मी के कारण, पसीने की रेखा खिंच गई थी और जिनके चन्द्रमा के समान उज्ज्वल दांतों की प्रभा से उसके पल्लव सदृश ओंठ व्याप्त थे, नम्रता से अपना मुख नीचा किये, खड़ी थी ।

छठां सर्ग समाप्त ।

सप्तमः सर्गः

ततो धरित्रीतनया गरीयः सा शासनं प्राप्य गुरोरलंघ्यम् ।
स्थपत्यशुद्धान्तजनैः परीता जगाम कर्त्तुं व्रतिनो नमस्याम् ॥१॥

सुखेन नत्वा गज कुम्भपीनस्तनावकृष्टा चरणौ महर्षेः ।
तमेव भूयो भरमुद्वहन्ती समुन्ननाम प्रतिपद्य यत्नम् ॥२॥

सत्यं यदस्याः प्रविभाव्यरागो दृष्टिप्रवेकः खलु कृष्णवर्त्मा ।
स्नेहेरितं तद्धनदोपमस्य धैर्येन्धनं तेन ददाह भर्त्तुः ॥३॥

विन्यस्तपीनस्तनहेमकुम्भा स्वेदाम्बुभिस्तद्धृदयोपकार्या ।
मनोभुवस्तत्प्रथमप्रवेशे सिक्तापि नो तत्र रजः शशाम ॥४॥

तुष्टो नु भङ्गादविपन्नधाम्नः शैवस्य चापस्य सुबाहुशत्रुम् ।
स्मरस्तमालिङ्ग्य तया प्रयुक्तश्चक्रे विहस्तं नु विशालदृष्ट्या ॥५॥

१. तब वह धरती की पुत्री (सीता) अपने पिता की सारगर्भित एवं अलङ्घनीय आज्ञा से महल के अन्तःपुर में रहने वाली परिचारिकाओं के साथ, व्रती (विश्वामित्र) को प्रणाम करने के हेतु गई।

२. हाथी के कुम्भ के समान, मांसल स्तनों वाली सीता ने पहिले बड़ी सरलता से झुक कर महर्षि को प्रणाम किया और फिर (स्तनों के बोझ के कारण) प्रयास से उठी।

३. सीता की मोहक, तिरछी चितवनें, जिनमें प्रेम छलछला रहा था, सचमुच साक्षात् अग्नि थीं। अतः सीता ने स्नेह से उनका प्रयोग कर, कुबेर के समान राम के धैर्यरूपी ईंधन को जला डाला। (अर्थात्) उनमें फिर धैर्य न रह गया।

४. कामदेव के प्रथम प्रवेश के समय सीता के हृदयरूपी रंगमहल के सामने जो कामोद्वेग का रज पड़ा था और जिसके द्वार पर सुवर्ण कुम्भ के समान दो मांसल स्तन रखे थे, उस रज का सीता के स्वेद से सींचे जाने पर भी शमन नहींहुआ।

विशेष—उपकार्या="सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका ।" इत्यमरः ।

५. शिव के तेज सम्पन्न धनुष के तोड़ने वाले, सुबाहु के शत्रु राम का आलिङ्गन कर क्या कामदेव सन्तुष्ट हुआ अथवा बड़े-बड़े नेत्रों वाली से प्रेरित होकर उसने उन्हें बेकाबू कर दिया।

विधातृमुख्यैरपि दृश्यरूपं रूपं निरूप्यार्धनिरीक्षितेन ।
एवं स गुण्यो गणयाम्बभूव भूम्ना मनस्वी मनसैव तस्याः ॥६॥

प्रसीद मैवं परिभूदखण्डं ताराधिपं ते वदनामृतांशुः ।
इति प्रियायाः पतितेव पादे तारावतिर्दीप्तनखच्छलेन ॥७॥

कृष्ट्वा नितान्तंकृशवृत्तिमध्यं मास्म च्छिनच्छ्रोणिरिति प्रचिन्त्य ।
गुर्वी तदूरुद्वयशातकुम्भस्तम्भद्वयेनेव धृता विधात्रा ॥८॥

तदस्तु सोष्मं कठिनं प्रकृत्या तनोति तापं स्तनयोर्द्वयं यत् ।
मध्यस्थमप्येतदनिन्द्यवृत्तेर्वलित्रयं मांदहतीति चित्रम् ॥९॥

स्तनौ नु कुम्भप्रतिमौ सुदत्या निःशेषवक्षस्तटबद्धबिम्बौ ।
पिण्डौ नु पीनौ नवयौवनस्य न्यस्तौ शरीरादतिरिक्तवन्तौ ॥१०॥

विभाति तन्व्या नवरोमराजिः शरीरजन्मानलधूमरेखा ।
अन्योन्यबाधिस्तनमण्डलस्य मध्यस्य धात्रा विहितेव सीमा ॥११॥

६. ब्रह्मादिक देवता जिसके रूप को बड़े चाव से देखते थे, ऐसी सीता के रूप को एक तिरछी चितवन से देख कर गुणवान् और मनस्वी राम ने अपने विशाल मन मे सीता के सम्बन्ध मे इस प्रकार सोचा ।

७. मेरी प्रिया के चमकते हुए नाखून ऐसे लगते है जैसे ताराओ की पंक्ति उसके पैरों पड़ कर यह कह रही हो कि "प्रसन्न होजाओ, अपने मुखचन्द्र से सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल के स्वामी (चन्द्रमा) को लज्जित न करो" ।

८. उसकी (सीता की) स्वाभाविक पतली कमर थी, कसने पर कहीं उसके भारी नितम्ब कमर से अलग न हो जांय, यह विचार कर ब्रह्मा ने जैसे उन्हें (नितम्बों को) सहारा देने के लिये दो सुनहली टेक लगा दी हो ।

९. सीता के दोनों स्तन जो स्वभाव से ही कड़े और उष्ण है, मेरे हृदय में दाह का विस्तार करते हैं, सो तो ठीक ही है, परन्तु इस अनिन्द्य सीता की बीच मे स्थित त्रिवली, मुझमें दाह उत्पन्न करती है, यह आश्चर्य है ।

१०. क्या इस सुन्दर दांतों वाली (सीता)के सम्पूर्ण वक्ष को घेरे हुए दोनों स्तन, दो कुम्भ की प्रतिमाएं है अथवा चढ़ती जवानी के दो मांस-पिंड है जो अतिरिक्त होने के कारण अलग रख दिये गये हैं ।

११. उस सुकुमाराङ्गी सीता के एक दूसरे से सटे हुए स्तनों के बीच में, कामाग्नि के धुएं की रेखा के समान नये रोमों की लकीर है, यह जैसे ब्रह्मा द्वारा दोनों स्तनों के बीच की निर्धारित सीमा हो ।

यात्यङ्गदोऽप्येप विवृद्धदीप्तिरनङ्गदत्वं न्यसनेन यत्र ।
तथाहि शक्तिर्मदनस्य दाने चारुप्रकोष्ठस्य भुजद्वयस्य ॥१२॥

वक्त्रेन्दुलीलामनुयातुमस्याः कलान्तराणि प्रतिपद्य चन्द्रः ।
पूर्णोऽपि साधर्म्यविशेपशून्यः क्रमेण शोकादिव याति हानिम् ॥१३॥

मृगाङ्गनानां नयनानि पूर्वं विधाय नीलानि च नीरजानि ।
कृतप्रयोगेण पुनर्विधात्रा सृष्टं नु नेत्रद्वयमायताक्ष्याः ॥१४॥

अन्वेति कान्त्या कमनीयमस्या युग्मं भ्रुवोरायतनम्रलेखम् ।
रोपेण कृत्तस्य हरेण मध्ये च्छेदद्वयं मन्मथकार्मुकस्य ॥१५॥

असर्पतामापतितालकान्तपर्यन्तकान्ति श्रुतिमूलमस्याः ।
भ्रुवौ नु वक्तुं तरलत्वमक्ष्णोर्भ्रूयुग्मकौटिल्यमिमे नु दृष्टी ॥१६॥

तन्व्या मनोज्ञस्वरनैपुणेन विनिर्जितो रोपविलोहिताक्षः ।
प्रसक्त चिन्ताऽऽहितमन्यपुष्टः शोकेन कार्ष्ण्यं वहतीति मन्ये ॥१७॥

१२. वह चमचमाता हुआ बाजूबंद (अङ्गद) भी उसके हाथ में पड़ कर कामोद्दीपन करता है क्योंकि उसके दोनों भुजाओं के प्रकोष्ठ (अग्रभाग) इतने सुन्दर हैं कि वे स्वयं कामोद्दीपन करते हैं।

विशेष—अङ्गद और अनङ्गद में चमत्कार है।

१३. इसके (सीता के) मुखचन्द्र की थिरकन की नकल करने लिये, चन्द्रमा, क्रमशः बढ़ता था, परन्तु सम्पूर्णता को प्राप्त करने पर भी जब उसमें सीता के मुख के समान सौंदर्य नहीं आया तो, जैसे शोक के कारण वह धीरे-धीरे क्षीण होने लगा।

१४. पहिले हरिणियों की आँखों और नील कमल को बना कर जब विधाता का हाथ खूब मंज गया तब फिर उन्होंने, बड़े-बड़े नेत्रों वाली सीता की दोनों आँखों को बनाया।

१५. सीता की लम्बी एवं कोनों पर नुकीली और झुकी हुई भौंहें, कामदेव के धनुष के टुकड़ों दो का अनुकरण करती थी, जिसे (जिस धनुष को) क्रोधयुक्त शिव ने बीच से काट डाला था।

१६. क्या इसकी (सीता की) भौंहें कान की जड़ तक, जिसकी प्रभा लटकते हुए लटों के अग्रभाग तक बिखर रही हैं, आँखों की चञ्चलता बताने के लिये पहुँच गई हैं। अथवा उसकी बड़ी बड़ी आँखें ही भौंहों की कुटिलता की शिकायत करने यहाँ तक पहुँच गई हैं।

१७. ऐसा लगता है कि कोमलाङ्गी (सीता) की मधुर बोलीसे हार कर कोयल की आँखें क्रोध से लाल हो गई हैं और उसका शरीर निरन्तर चिन्ता से काला पड़ गया है।

पुष्पायुधः स्वात्मनि शस्त्रपातान् कुर्वीत सीताऽऽकृति वीक्ष्य रत्नम् ।
चित्रीयते तत्र यदात्मयोनेस्तीव्रा मयि व्यापृतिरायुधानाम् ॥१८॥

सति स्म तस्यातिगुरुप्रतर्के चेतस्यथ प्राह मुनिं नरेन्द्रः ।
प्रणम्य शुद्धान्तमुपैति पादौ तीर्थादनूनौ भवतः स्नुषेति ॥१९॥

कलत्रभारेण कुचद्वयस्य स्याम्ना तथा मन्थरविक्रमायाः ।
आसीत् स तस्या गतिमन्थरत्वेऽसौ राजपुत्रोऽपि त्रितीयहेतुः ॥२०॥

अनुव्रजन्तं परिवारवर्गं प्रत्याहरन्ती किल नाम किञ्चित् ।
तिर्यग्विवृत्ताननचन्द्रबिम्बा रामं जघानार्द्धनिरीक्षितेन ॥२१॥

तस्यां गतायां सह राघवाभ्यां भर्त्ता भुवः संयमिनं ततस्तम् ।
द्रष्टुं निनाय स्वयमृद्धिसारं सत्रस्य विप्रैरकृशं ततस्य ॥२२॥

दूरोऽपि देहेन वियोगवह्नेः प्रवर्द्धिताधिः स्फुटतीति भीतः ।
तद्रक्षणायैव कृतप्रयत्नो मुमोच तस्या हृदयं न रामः ॥२३॥

१८. सीता जैसे रत्न को देख कर पुष्पायुध (कामदेव) ठीक ही अपने ऊपर बाण छोड़ता है (अर्थात् स्वयं कामासक्त हो जाता है) और इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि वह आत्म-योनि (कामदेव) मुझ पर भी बाणों का तीव्र आघात करता है ।

१९. जब इस प्रकार के गम्भीर तर्क राम के मन में उठ रहे थे उस समय राजा (जनक) मुनि से बोले—"यह आपकी बहू, आपके चरणों को जो तीर्थ से कम नहीं हैं, प्रणाम कर अन्तःपुर में जायगी ।"

२०. दोनों कुचों के भार से दबे कटि एवं नितम्ब उसके (सीता के) मन्थर गति से चलने के कारण थे ही, राजपुत्र (राम) भी तीसरे कारण हो गये ।

२१. अपने पीछे चलते हुए परिवार वर्ग से कुछ कहती हुई (कहने के बहाने से, यह भाव है) अपने मुखचन्द्र को थोड़ा पीछे मोड़ कर (सीता ने) अपनी तिरछी चितवन से राम पर प्रहार किया ।

२२. जब सीता चली गईं तब पृथ्वीपति (जनक) राम और लक्ष्मण के सहित उस संयमी मुनि को वहां ले गये जहां ब्राह्मण लोग विधिपूर्वक, समृद्धशाली यज्ञ निरन्तर कर रहे थे ।

२३. कहीं वियोग की अग्नि, मनोव्यथा के कारण फूट न निकले इसलिये उसकी रक्षा के लिये, दृढ़ प्रयत्न राम, यद्यपि शरीर से दूर थे, पर उन्होंने सीता के हृदय को नहीं छोड़ा ।

यातेच रामे नयनाभिरामे दृष्ट्वा दिशः किं फलमस्ति शून्याः ।
इतीव पद्मायतलोचनाया विलोचने नेत्रजलं रुरोध ॥२४॥

कृतेऽपि पाणिग्रहणे ममेयं जाता परत्राहितरागवृत्तिः ।
बालेति तस्या वलयं कृशाङ्ग्याः ससर्ज रोषेण यथा कराग्रम् ॥२५॥

सन्तापवह्निर्हृदि सन्नताङ्ग्याः कामाहितः खेदविलोहितेन ।
नेत्रद्वयेनेव बहिः प्रवृत्तज्वालावलिः संविविदे सखीभिः ॥२६॥

याता नु सा तानवमङ्गजाग्नितप्तेऽचिरं तद्धृदये निवासात् ।
उत स्वकीये हृदि तं निविष्टमूढ्वा तनुत्वं श्रमजं गता नु ॥२७॥

दूरेऽपि रामः परिकल्पवृत्त्या किं दृश्यतेऽस्मिन्नथ वा स्थितेऽपि ।
किं मे प्रवासः प्रतिभाति पापादित्यास तस्या विविधो विकल्पः ॥२८॥

मृदुप्रवालास्तरणेऽपि तन्वी शिलातलेनैव धृतिं सिषेवे ।
असृक्स्रवार्द्रे शरतल्पमध्ये सा पुष्पकेतोरिव वर्तमाना ॥२९॥

२४. जब नयनों को आह्लाद पहुँचाने वाले राम ही चले गये (अर्थात् सामने नहीं हैं) तो फिर सूनी दिशाओं ही को देखने से क्या लाभ, ऐसा समझ कर आँसुओं ने आकर उस कमल-नयनी की दृष्टि को रोक दिया।

२५. यद्यपि मैंने इस बाला का पाणिग्रहण किया है फिर भी इसका प्रेम दूसरे (राम की) ओर है (अर्थात् राम से प्रेम करती है) ऐसा समझ कर, जैसे क्रोध से, कंकण उसकी कलाई से सरक गया।

२६. सखियों ने झुकी हुई सीता की शोक-सन्तप्त लाल-लाल दोनों आँखों से यह जान लिया कि कामदेव से प्रेरित उसके (सीता के) हृदय में जो शोकाग्नि है, उसकी शिखायें जैसे बाहर निकली पड़ती हैं।

२७. क्या यह (सीता) कामाग्नि से सन्तप्त राम के हृदय में बहुत दिनों तक रहने के कारण दुबली हो गई है या राम को अपने हृदय में रखने के श्रम से यह दुबली हो गई है।

२८. दूर होते हुए भी, राम क्या कल्पना मात्र से मेरे हृदय में दिखाई देते हैं। अथवा मेरे हृदय में राम के रहते, मेरे पाप के कारण, मुझे ऐसा लगता है कि वे मुझसे दूर हैं, इस प्रकार की अनेक भावनायें, उसके (सीता के) मन में उठती थीं।

२९. उस कोमलाङ्गी को शिलापट्ट पर, मुलायम नई पत्तियों के बिछावन पर, चैन नहीं पड़ता था जैसे वह कामदेव के रक्त से लथपथ हुई शरशय्या के बीच में पड़ी हो।

तुषाररश्मेरुदयेऽपि तस्या नेत्रोत्पलं नो मुकुलीबभूव ।
चन्द्रे मुखच्छद्मनि दीर्घकालमभ्यासतो नु प्रियचिन्तया नु ॥३०॥

सशीकरं गर्भदलं कदल्या न्यस्तं नताङ्ग्या हृदये सखीभिः ।
बबन्ध भिन्नस्फटिकावदातं पुष्पेषुबाणव्रणपट्टशोभाम् ॥३१॥

कस्यापि दृष्ट्या मयि यद्विरागः स्वपादसेवाभिरतेऽपि तत्किम् ।
इतीव शैथिल्यमतानि तस्या युग्मेन सन्नूपुरयोरमन्दम् ॥३२॥

सखीसमीपेऽपि सखेदवृत्तिश्चन्द्रातपैरप्यनुतापभाजा ।
देहेन वैदेह सुता निनाय दिनानि दीना कतिचित्कथञ्चित् ॥३३॥

सार्धं द्विजैः पावनसोमपान निर्धूतपाप्मन्यथ सत्रनाथे ।
मखस्य कोटिं प्रकृतस्य मुख्ये क्षितिक्षितामीयुषि वीतविघ्नम् ॥३४॥

जनाधिनाथः पुरुहूतकल्पः समग्रशक्तिः सुतयुग्ममन्यत् ।
ततः समादाय सुमन्त्रसूतः पुरं प्रपेदे जनकस्य राज्ञः ॥३५॥

३०. उसके कमल नेत्र, शीतरश्मि चन्द्रमा के उदय होने पर भी नहीं मुँदे । इसका कारण या तो, छद्म से उसकी मुखाकृति लेने वाले, चन्द्रमा की ओर, अभ्यासवश देर तक देखना हो, या अपने प्रिय (राम) का निरन्तर चिन्तन हो ।

३१ ओस से लिप्त, फटे हुए स्फटिक के समान उज्ज्वल, केले के भीतरी भाग का पत्ता, उस नताङ्गी के हृदय पर लपेटने से ऐसा शोभायमान हुआ जैसे कामदेव के बाण के घाव पर पट्टी बँधी हो ।

३२. 'यद्यपि हम निरन्तर उसके (सीता के) चरणों की सेवा में लगी रहती हैं फिर भी, क्या किसी दूसरे पर आँख लग जाने से हमारी ओर इसकी उदासीनता है,' यह सोच कर उसके दोनों नूपुरों में बड़ी शिथिलता आगई ।

३३. सखियों के साथ रहने पर भी, खेद के कारण दीन, विदेहराज की पुत्री ने, जिसके शरीर में चाँदनी से जलन होती थी, थोड़े दिन किसी-न किसी तरह काटा ।

३४. जब उस सत्र के अधिष्ठाता और राजाओं में अग्रगण्य महाराज जनक ने जिनके पाप, पवित्र सोम के पीने से नष्ट हो गये थे, ब्राह्मणों के साथ उस यज्ञ को बिना किसी विघ्न के समाप्त किया ।

विशेष—यह और आगे वाला श्लोक मिला कर पढ़ने से अन्वय होता है । इसे 'युग्म' कहते हैं । 'युग्म' की व्याख्या देखिये—२-२ ।

३५. इन्द्र के समान, सम्पूर्ण शक्तियों के धारण करने वाले, जनों के स्वामी (महाराज दशरथ) सुमन्त्र सारथी के साथ अपने दोनों पुत्रों को लेकर जनक के नगर में गये।

क्षत्रस्य नक्षत्रमदोषदुष्टं वैवाहिकं वाहितशत्रुवीरः ।
पुरोहितेनाभिहितं निशम्य संपादयामास विधिं विधिज्ञः ॥३६॥

स्नातद्विजारूढमदद्विपेन्द्रस्कन्धस्थकार्तस्वरकुम्भपंक्त्या ।
नृपस्य धिष्ण्यं प्रकृते समन्तादच्छेदवत्पावनतीर्थतोये ॥३७॥

रथ्योभयान्ताहितशातकुम्भकुम्भस्थपङ्केरुहगन्धविद्धे ।
तिरोदधाने गगनं सुगन्धौ कर्पूरकृष्णागरुसारधूपे ॥३८॥

चरत्सुवन्याननिःसृतेषु नरेन्द्रसूनोर्जयघोषणेषु ।
प्रध्मातशङ्खध्वनिबृंहितेषु ध्वनत्सु तूर्येषु च मङ्गलाय ॥३९॥

लाजा जलं दर्भमिति प्रसक्तमाविष्कृताम्रेडितशीघ्रनादे ।
आहूय सम्पादयतोऽपि भृत्यान् प्रत्युद्व्रजत्याकुलभृत्यवर्गे ॥४०॥

३६. क्षत्रियों के लिये निर्दोष, वैवाहिक मुहूर्त, पुरोहितों से पूछ कर, शत्रुओं के वीरों को दमन करने वाले (महाराज दशरथ) ने, जो वैवाहिक पद्धति के पूर्ण ज्ञाता थे, विधिवत कृत्यों का सम्पादन किया।

३७. जब हाथी पर सवार और स्नान से पवित्र ब्राह्मणों ने, राजमहल का कोना, मत्त हाथियों के कंधों पर पंक्ति के पंक्ति रखे सोने के कलशों में भरे हुए तीर्थों के पवित्र जल से, बिना किसी स्थान को छोड़े, अच्छी तरह अभिषिक्त कर दिया।

विशेष—३७ वें श्लोक से ४५वें श्लोक तक 'कुलक' है।

कुलक—'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं, त्रिभिः श्लोकैः विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥

इन नौ श्लोकों में विवाह की भीड़-भाड़ एवं व्यवस्था का वर्णन है।

३८. जहां सड़कों के दोनों ओर पर स्थापित, सुवर्ण कलशों पर रखे हुए कमलों की सुगंध से मिल कर, कपूर और कालागुरु धूप के सुगंधित धूएँ से, गगन आच्छादित हो गया था।

३९. जहाँ श्रेष्ठ चारणों के मुख से निकली हुई राजपुत्र (राम) की जय घोषणा गूंज रही थी और उनके मङ्गल के हेतु बजाये हुए वाद्यों के नाद से शुरही की ध्वनि प्रचण्ड हो गई थी।

४०. जहाँ कार्य सम्पादन करने पर भी भृत्यों को बुलाकर 'लाजा, जल दर्भ लाओ' ऐसी आज्ञा देते हुए और आकुल भृत्यवर्ग भी उन्हीं आज्ञाओं को जल्दी-जल्दी तीव्र स्वर में दोहराते हुए हड़बड़ी में इधर-उधर दौड़ रहे थे।

ज्ञातुं मुहुर्यामघटी-जलस्य वृत्तिं प्रयुक्ते नृपदासवृन्दे ।
धावत्युरोघात निपातिताध्वमार्गस्थ लोकेऽपि गतागताभ्याम् ॥४१॥

आसन्नभूतो महितो मुहूर्तः किं स्थीयते तावदिति प्रगल्भम् ।
वृद्धेषु वंशद्वितयस्य धीरं स्नानाय सद्यस्त्वरयत्सु रामम् ॥४२॥

उच्चैर्भृतान्यस्वरमुच्चरत्सु समं समाविष्कृतमङ्गलेषु ।
आपूरिताशेषककुम्मुखेषु पटुप्रसक्तं पटहध्वनेषु ॥४३॥

वेत्रेण वेत्रग्रहणाधिकारे जने च तत्रानुपयोगवन्ति ।
दिदृक्षुवृन्दानि निरस्यमाने मुखेन हुङ्कारकृता नितान्तम् ॥४४॥

हुङ्कार मात्रप्रथितैरमर्षैस्तिर्यक्कराग्रस्य विकम्पितेन ।
निवारयन्तो मुखरं जनौघं माशाब्दिका वेश्मनि तत्र चेरुः ॥४५॥

केचिद्विधातुं विधिमुद्यतेभ्यः क्रियासु दक्षाः कुशलेतरेभ्यः ।
आच्छिद्य वैवाहिककर्मयोग्य वस्तूनि भृत्या विदधुर्विधानम् ॥४६॥

४१. जहाँ नृप के दासों का समूह, जल घड़ी से समय जानने के लिए बार-बार भेजे जाने पर दौड़ कर आ-जा रहा था, जिसके कारण उनके वक्ष से भिड़ने से मार्ग में खड़े दर्शक लोग गिर पड़ते थे ।

४२. "मङ्गल मुहूर्त निकट आरहा है, फिर क्यों देर कर रहे हो ?" ऐसा कह कर दोनो कुलों के गुरुजन, तुरन्त स्नान करने के लिये जल्दी मचा रहे थे ।

४३. जहाँ बड़े बड़े नगाड़ों की ध्वनि जिससे सम्पूर्ण दिशायें व्याप्त हो रही थीं और मंगल मंत्रो की ध्वनि स्पष्टतया सुनाई पड़ती थी, चारों ओर होते हुए तुमुलनाद को प्रतिशान्त कर रही थी ।

४४. और जहाँ अधिकारयुक्त, दण्डधारीवर्ग बिना दण्ड का प्रयोग किये केवल अपने मुख के हुंकार से दर्शकों की भीड़ को भगा रहे थे ।

४५. महल के भीतर वे अधिकारी जिनका काम शोर-गुल रोकने का था, केवल हुंकार मात्र से अपना रोष जताते हुए और अंगुलियों से, शोर मचाती हुई जनता की भीड़ को रोकते हुए घूम रहे थे ।

४६. कुछ कार्य-कुशल भृत्य, उन भृत्यों से जो काम करने में तो उद्यत थे पर मूर्ख थे, वैवाहिक कर्मों के योग्य सामग्री को लेकर स्वयं कार्य सम्पादन करने लगे ।

शच्या विवाहस्य विधानमाद्यं नामान्तरेण प्रथितं विधिज्ञः ।
पर्यस्य चित्तानि तथा सुताया नृपस्य तत्रैव जनस्ततान ॥४७॥

स्नानस्य रत्नाभरणेन दीप्तमाकल्पमन्ते विविधद्विधाय ।
ययौ वधूर्वेदविदा कृतार्घं वेद्या उपान्तं विधुरा स्मरेण ॥४८॥

अथवोपनिन्ये नयकोविदेन महेन्द्रसख्यास्तनुजेन तन्वी ।
लज्जाविधेया विधवेतराभिर्विभूषिताऽसौ विभुनन्दनाय ॥४९॥

समाददे सम्मदभिन्नधैर्यः पाणिं फणीन्द्राङ्गगुरुप्रकोष्ठः ।
तस्याः कुमारः सुकुमारसन्धिं वामेतरं वामविलोचनायाः ॥५०॥

प्राज्यं ततः प्राज्ञतरेण हव्यमावर्जितं वर्जितदुष्कृतेन ।
विधातृधाम्ना विधिवत्कृशानौ सदिन्धने शीलघनेन तेन ॥५१॥

वेद्यामनंसीदनवद्यवृत्तिस्तन्वी ततो वेदविदा प्रयुक्ता।
प्रदक्षणीकृत्य विवाहसाक्षीकृतं कृशानुं सह राघवेण ॥५२॥

४७ कर्मकाण्डी लोगों ने विवाह के प्रारम्भ में जो विख्यात शची का विधान है, उसमें नाम बदल कर, और अपना चित्त भी तदनुसार उसके अनुकूल कर, उसके स्थान पर नृप की सुता (सीता) के नाम से कृत्य का विस्तार किया।

४८. पवित्र स्नान के अनन्तर, मूल्यवान् और भड़कीले वस्त्र, जिनमें रत्नों के आभरण चमचमा रहे थे, पहिन कर काम विह्वला बहू (सीता), वेदी की ओर चल गई, जहाँ वेद के जानने वाले पुरोहितों ने पहिले ही से अर्घ्य दान कर रखा था।

४९. तब इन्द्र की सखी (अहल्या) के पुत्र व्यवहारकुशल, शतानन्द, सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा सजाई हुई, लज्जा से युक्त उस कोमलाङ्गी (सीता) को वीर पुत्र (राम) के पास ले गये।

५०. कुमार (राम) ने, जिनका धैर्य, हर्षातिरेक से छूट गया था और जिनका प्रकोष्ठ, गजराज की तरह तगड़ा था उस सुन्दर नेत्रों और सुकुमार सन्धि वाली, सीता का दाहिना हाथ पकड़ा।

विशेष—प्रकोष्ठ=कलाई से लेकर कुहनी तक हाथ का भाग=Fore arm। सन्धि=बदन के जोड़।

५१. तब बुद्धिमान्, निष्पाप, प्रजापति के समान तेजवान और शालीनता जिनका धन है ऐसे राजपुत्र (राम) ने पवित्र ईंधन से युक्त अग्नि में अनेक आहुतियां डालीं।

५२. तब वेदों के जानने वाले पुरोहितों से प्रेरित होकर, उस निष्कलुष आचरणवाली, कोमलाङ्गी (सीता) ने रघु के वंशज (राम) के साथ, विवाह की साक्षी, वेदी पर प्रज्वलित अग्नि, की प्रदक्षिणा कर उसे प्रणाम किया।

गण्डस्य विम्बं दुहितुर्धरित्र्याघर्माम्भसां विन्दुरलञ्चकार ।
चेतःस्थकन्दर्पकृशानुना वा तस्योष्मणा वा परमार्थवह्नेः ॥५३॥

चकार चक्राङ्कतलेन पाणौ करेण भर्त्राभिनिपीड्यमाने ।
शीत्कारमाकुञ्चितदीर्घदृष्टिः स्पर्शेन वह्नेः किल नाम सीता ॥५४॥

व्यापारितावाङ्मयपारगेण द्विजेन तेन द्विजराजवक्त्रा ।
वाला कृशानौ कृशगात्रयष्टिर्भावानभिज्ञाथजुहाव लाजान् ॥५५॥

पत्युः करस्पर्शकृते कृशाङ्ग्या हर्षे: सखीभिः प्रतिभाव्यमाने ।
आचारधूमागमलब्धजन्मान्यश्रूणि तत्संवृतये बभूवुः ॥५६॥

कृत्वानमस्यामनुपूर्वमुक्तो भर्तुर्भुवो विप्रवरेण रामः ।
समेतजानिर्जनकस्य राज्ञो वन्दिस्तुतस्यांघ्रियुगं ववन्दे ॥५७॥

पश्यन्सुतं पाशभृतो दधानं गङ्गाकरासक्तकरस्य कान्तिम् ।
तस्थौ नृपः स्तब्धविशालदृष्टिरश्रुलवाक्षालितपक्ष्मरेखः ॥५८॥

५३. धरती की पुत्री (सीता) के मुखविम्ब को पसीने की बूंदो ने शोभायमान कर दिया। सम्भव है यह पसीना उसके हृदय में स्थित कामाग्नि के कारण हो अथवा (वेदी पर प्रज्ज्वलित) पवित्र अग्नि की गर्मी के कारण हो।

५४. जब उसके पति (राम) ने विष्णु के चक्र से अङ्कित अपने हाथ से, उसके हाथ को धीरे से पकड़ा तो जैसे अग्नि के स्पर्श से सीता ने अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को सिकोड़ कर सीत्कार किया।

५५. तब विद्याओं मे पारङ्गत, ब्राह्मण (शतानन्द) से आदेश पाकर, उस चन्द्रवदना, सुकुमाराङ्गी, कामोद्वेग से अनभिज्ञ बाला (सीता) ने अग्नि मे लाजा बिखेरी।

५६. जब पति के हाथ के [illegible] जाने से उत्पन्न, उस कोमलाङ्गी के हर्ष को सखियों ने जान लिया तो यज्ञ के धुंएं से जनित आँसुओं ने उस हर्ष को छिपा लिया।

५७. विप्रवर (शतानन्द) के कहने पर, अपनी पत्नी के साथ राम ने, पृथ्वी के स्वामी (दशरथ) को प्रणाम कर फिर क्रमानुसार, चारणों से वन्दित जनक के चरणों की वन्दना की।

५८ गङ्गा का हाथ पकड़े हुए शिव के समान, कान्तिमान अपने पुत्र को देख कर राजा दशरथ अपने विशाल नेत्रों मे एक टक देखते रह गये और उनकी आंखो से बहते हुए आंसुओं से उनकी पलकें भीग गईं।

रत्नासनस्थामथ पौरमुख्या बाष्पप्रकाशप्रणयाः प्रणेमुः ।
भर्तुः सुतामेत्य वरश्चतस्याः कक्षान्तरे दत्तसितातपत्रम् ॥५९॥

नीत्वा विवाहोत्सवसम्भृतेन सुखेन रामः कतिचिद्दिनानि ।
ततः कदाचित्समयाववोधदक्षेन विद्धो हृदि मन्मथेन ॥६०॥

गौरीमिवाचारगुणेन गुर्वीं करे गृहीत्वा करभोपमोरूम् ।
सतल्पभूभागमनल्पशोभं भवप्रभावो भवनं विवेश ॥६१॥

भुवि विरचितमग्रे तल्पमालोक्य भीति
स्पृशति मनसि बालां साश्रुपातस्थितां ताम् ।
नृपतिभवनरत्नस्तम्भमालिङ्ग्य दोर्भ्यां
रघुपतिरुपगुह्य प्रापयद्भूमिशय्याम् ॥६२॥

इति सप्तमः सर्गः ।

५९. राजमहल में रत्नजटित सिंहासन पर अपने पति के साथ श्वेत छाते के नीचे बैठी हुई राजपुत्री के पास आकर, अपने आँसुओं से प्रेम जताते हुए प्रमुख नागरिकों ने दोनों को प्रणाम किया ।

६०. विवाहोत्सवों में कुछ दिन आनन्द से व्यतीत करने के बाद कामदेव ने अवसर देख कर, राम के हृदय में बड़ी तीव्रता से आघात किया ।

६१. शिव के समान तेजस्वी राम,पार्वती के समान अपने सदाचरणों से गम्भीर, हाथी के बच्चे के समान जांघ वाली सीता का हाथ पकड़ कर राजमहल में गये जो अच्छी तरह सजा हुआ था और जहाँ स्थान-स्थान पर पर्यंक बिछे हुए थे ।

६२. सामने जमीन पर एक सजा-सजाया पर्यङ्क देख कर रघुपति राम, मन में डरी हुई और राजप्रासाद के रत्नजटित स्तम्भ से सटी एवं आँखों से अश्रुधारा बहाती हुई खड़ी उस बाला (सीता) को पर्यङ्क के पास लाये ।

सातवाँ सर्ग समाप्त ।

अष्टमः सर्गः

आचरन्नथ स योषितो हठं सा च वामचरिताऽनुरागिणः ।
अप्यनीप्सितविधानचेष्टितौ तेनतुः सपदि संमदं मिथः ॥१॥

कामिना समुपगुह्य बालिका सप्रयत्नमुतवेशिताऽप्यसौ ।
वाञ्छति स्म समुदेतुमङ्कतः साध्वसेन चपला मुहुर्मुहुः ॥२॥

राघवेण परिरभ्य पृष्ठतः सस्पृहं निगदिते मनोरथे ।
व्रीड़यावनतवक्त्रपङ्कजा धीरमस्मयत चारुहासिनी ॥३॥

अङ्गुलीषु परिगृह्य राघवे वेधवत्युरसि रागिभिर्नखैः ।
सस्मितं विबलिताङ्गुलिर्बलादात्मनः करमुदास मानिनी ॥४॥

किन्नु वक्ति कुपितेति वेदितुं कामिना निधुवने सविग्रहम् ।
याचितैनमभिकोपजिह्मितप्रेरितेक्षणकटु व्यलोकयत् ॥५॥

१. तब वह (राम) अपनी पत्नी से जबरदस्ती करने लगे और वह (सीता) भी अपने ऊपर आसक्त पति की इच्छा के विरुद्ध करने लगी। इस प्रकार दोनों ही के एक दूसरे की इच्छा के प्रतिकूल आचरण से, तुरन्त दोनों के आनन्द का विस्तार होने लगा।

२. कामासक्त (राम) ने उस बाला का आलिङ्गन कर बड़ी तरकीब से उसे अपनी गोद में बिठा लिया, तब वह डर से काँपती हुई, बार-बार गोद से उठने का प्रयत्न करती थी।

३. जब राघव, पीछे से उसका आलिङ्गन कर, बड़े अनुनय से अपना मनोरथ कहने लगे तब वह सुहासिनी अपने कमल सदृश मुख को लज्जा से नीचा कर मुसकराने लगी।

४. जब राम उसकी अंगुलियों को पकड़ कर, अपनी प्यार भरी अंगुलियों से उसके उरोजों को सहलाने लगे, तो उस मानिनी ने मुसकरा कर बलपूर्वक उनकी अंगुलियों को मरोड़ कर अपनी अंगुलियों को छुड़ा लिया।

५. 'क्रुद्ध होकर वह क्या कहेगी' यह जानने के लिये राम ने जब सशरीर रति का आग्रह किया तो उसने गुस्से से आँखों को तिरछी कर उन्हें (राम को) कटुता से देखा।

पुष्पकेतुहृतधैर्यबन्धनं तस्य भावमवगम्य निर्गमे:।
साऽवकाशमथ कुर्वती: सखी: संरुरोध वसनान्तसङ्गिनी: ॥६॥

इच्छति स्म विरहं न कामिनी सङ्गमं न भृशमाकुली कृता।
विप्रयोगसमये मनोभुवा लज्जया नृपसुतस्य सन्निधौ ॥७॥

तस्य हस्तमबला व्यपोहितुं मेखलागुणसमीपसङ्गिनम्।
मन्दशक्तिररतिं न्यवेदयल्लोलनेत्रगलितेन वारिणा ॥८॥

तत्र राजदुहितुर्बलात्क्रियामाचरत्युदितलोचनाम्भसः।
आगमिष्यदनुचिन्त्य खण्डनं भीतवद्भृशमकम्पताधरम् ॥९॥

न स्पृशामि रशनागुणं पुनर्निर्दयं भुजयुगेन पीडित।
इत्युवाच नृपसूनुरर्थिनी सा ततान परिरम्भमस्फुटम् ॥१०॥

अन्तरीयहरणे कृतत्वरं राघवन्तमपयान्तमङ्गना।
तत्पटान्तपरिधानरक्षिता संरुरोध परिरभ्य पृष्ठतः ॥११॥

६. जब उसने (सीता ने) उनके मनके भाव को जान लिया और यह देख लिया कि कामदेव ने उनके धैर्य के बाँध को तोड दिया है (अर्थात् वह अब किसी तरह न मानेंगे) तो उसने (सीता ने) अवसर देने लिये वहाँ से खिसकती हुई सखियों को उनके वस्त्रों के छोर को खींच कर रोका।

७. राजपुत्र से अलग रहने पर वह कामदेव से बहुत पीड़ित हो जाती थी और उनके सामने वह लज्जा से बहुत घबरा उठती थी। इस प्रकार वह काम की इच्छा रखने वाली न तो उनसे वियोग ही की और न संयोग ही की इच्छा करती थी।

८. करधनी की डोरी के पास मड़राते हुए उनके (राम के) हाथ को हटाने में अशक्त उस अबला ने अपने विलोल नेत्रों से निकलते हुए अश्रु से अपनी अनिच्छा प्रकट की।
'मेखला प्रणय लोलतांगतं, हस्तमस्य शिथिलं रुरोधसा'
—कुमारसम्भव ८-१४, कालिदास।

९. जब उस राजपुत्री के साथ वे (राम) इस प्रकार जबरदस्ती कर रहे थे तो अधरों के काटे जाने की सन्निकट चिन्ता से उसके आँखों में आँसू आ गये और वह डरी हुई सी थर-थर काँपने लगी।

१०. 'यदि तुम हमें अपने दोनों हाथों से कसकर आलिङ्गन करोगी तो हम फिर करधनी की डोरी को न छुएँगे,' जब राजपुत्र ने ऐसा कहा तो उसने अर्थिनी की भाँति हलके से उन्हें आलिङ्गन किया।

११. जब फुरती से उसके अधोवस्त्र को उतार कर राघव चले तो गोल-मोल अङ्ग वाली सीता ने अपनी ओढ़नी की छोर से अपने को ढँक लिया और राम को पीछे से लिपट कर उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया।

अंशुकस्य निशि रक्षणाकुला हस्तयुग्मधृतनीविवन्धना ।
अप्रमादकृतिविघ्नमन्तरा स्वापमाप शयने पराङ्मुखी ॥१२॥

यद्ररक्ष दृढवस्त्रवन्धनैः स्वापकालमवगम्य भर्त्तरि ।
तत्प्रमृष्टवति संगतस्मृतिः सा रुरोद मुषितेव सस्वरम् ॥१३॥

यत्नगम्यमथ मैथिलीमुखं सोऽनुभूय नहि तृप्तिमाययौ ।
आननेन परिघट्य वोधितं राजहंस इव पद्मकुड्मलम् ॥१४॥

प्रेमवेगदृढदंशपीडितं यत्तदीयमधरोष्ठपल्लवम् ।
तद्दयार्द्रहृदयः शनैःपिवन् स क्षणेन विनिनाय वेदनाम् ॥१५॥

ग्राहितं नृपतिशक्रसूनुना स्वाधरं विविधचाटुचेष्टितैः ।
पानवर्जितमदन्तवीक्षितं भूय एव सृजति स्म मानिनी ॥१६॥

स्वं नितम्वमपवाहितांशुकं कामिनी रहसि पश्यति प्रिये ।
प्रार्थनामपि विनैव पल्लवस्निग्धरागमधुरं स्वयं ददौ ॥१७॥

१२. रात्रि के समय, अपने वस्त्र की रक्षा के लिये आकुल, दोनों हाथों से कटिवन्ध को पकड़ कर, राम के चतुर चालो मे बिना कोई विघ्न डाले, वह शय्या पर अपना मुंह पीछे कर सोई।

१३. जब राम ने जाना कि अब वह सो गई तो, जिस चीज की सीता ने अपने वस्त्र के दृढ़ बन्धनों से रक्षा की थी उसे उसके पति ने मसला। तब वह सजग हो, चिल्ला कर रोने लगी, जैसे उसे किसी ने लूट लिया हो।

१४. तब मिथिलाधिपति की पुत्री (सीता) के, यत्न से प्राप्त, मुख का रसास्वादन कर उन्हे तृप्ति नही हुई। जैसे राजहंस को अपनी चोंच से खोदने के कारण उत्फुल्ल कमल से तृप्ति नहीं होती।

१५. कामोद्वेग से जोर से काटने के कारण पीड़ित, उसके नव पल्लव के सदृश ओठों की वेदना को, दयार्द्र हृदय, राम ने धीरे-धीरे चूस कर, हर लिया।

१६. राजाओं मे इन्द्र के समान (राम ने) मीठी-मीठी बातों एवं चेष्टाओं से अपने निचले ओठ को उसके (सीता के) मुंह में पकड़ा दिया। पर उस मानिनी ने बिना उसका आस्वादन किये और बिना अपने दांत से काटे, तुरन्त छोड़ दिया।

१७. जब चोरी से, प्रिय राम, उसके नितम्बों को, जिस पर से, उन्होंने वस्त्र हटा दिया था, देख रहे थे, तब उस कामिनी ने बिना मांगे, स्वयं, नवपल्लव के सदृश चिकने और गुलाबी अधर को उन्हे दे दिया। (जिससे वह नितम्ब को न देख सकें, यह भाव है।)

सा मदेन मदनेन लज्जया साध्वसेन च विमिश्रचेष्टिता ।
आययौ सपदि तादृशी दशां या न वक्तुमपि शक्यविभ्रमा ॥१८॥

वर्जनाय सुरतस्य भामिनी वाञ्छति स्म पटुचाटुचेष्टितम् ।
यत्तदेव समजायत स्वयं योषितो निधुवनस्य वृद्धये ॥१९॥

अश्रुणा सुरतखेदमात्मनः सम्मदञ्च पुलकेन कामिनी ।
व्याजहार ननु लज्जया गिरा नव्यनृत्यकुशलेव भर्त्तरि ॥२०॥

यद्यदास तरसाऽभियोजितं योषितो रतिषु खेदवृत्तये ।
तत्तदेव मृदुसाधितं पुनः कामिनाऽपनयति स्म तच्छ्रमम् ॥२१॥

केशपाशमथ बन्धुमुद्यता मैथिली निधुवनेन विश्लथम् ।
बाहुमूलगतलोचने प्रिये लज्जयाऽवनति स्म सस्मितम् ॥२२॥

इत्यनङ्गशिखिना हृते हृदि क्ष्माधिपस्य दुहितुर्निविष्टया ।
लज्जया कतिपयेषु तानवं वासरेषु गलितेषु शिश्रिये ॥२३॥

१८. गर्व, कामासक्ति, लज्जा एवं भय इन भावों के सम्मिश्रण से उसकी (सीता की) चेष्टाएँ, तुरन्त ऐसी अवस्था पर पहुँच गई और उनका व्यवहार उसके लिये इतना स्वाभाविक हो गया कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

१९. चतुर एवं मीठी बातचीत और चेष्टाओं की इच्छा जो वह (सीता) संभोग से बचने के लिये करती थी (अर्थात् मीठी-मीठी बातों मे लगाये रहती थी) उनका परिणाम उसके कामोद्दीपन करने मे हुआ ।

२०. उस कामविह्वला स्त्री ने, रति से उत्पन्न थकान को आँसूओं से और मदनोन्माद को रोमाञ्च से अपने पति पर प्रकट किया । भावो के प्रदर्शन मे चतुर की भाँति उसने लज्जा से शब्दों के द्वारा कुछ नही कहा ।

२१. संभोग में जब-जब वे (राम) जल्दी के मारे जबरदस्ती करते थे तब तब उसे (सीता को) खेद होता था । परन्तु वही बात जब वे काम प्रेरित होकर मुलायमियत से करते थे तब उसका श्रम दूर हो जाता था ।

२२. रति के कारण जब उसके बाल का जूडा ढीला हो गया तो वह उसे बाँधने लगी । तब राम की ओर देखने के कारण, लज्जा से सिर झुका कर वह मुसकराने लगी ।

२३. जब इस प्रकार उसके हृदय पर कामदेव का आघात हुआ तो पृथ्वी की पुत्री (सीता) के हृदय से, कुछ ही दिनो के बाद, लज्जा धीरे-धीरे जाने लगी ।

सर्वरीषु विरलीकृतत्रपा निद्रया किल हृता नृपात्मजा ।
नीविबन्धमतीत्य संस्थितं हस्तमस्य न बलादपाहरत् ॥२४॥

निद्रिता प्रतिभयं भयानकस्वप्नदर्शनकृतं प्रपद्य सा ।
राघवं कुचघटावुरःस्थले सन्निधाय परिषस्वजे दृढम् ॥२५॥

ज्ञातमन्मथरसा मदातुरे कामिनीक्षिपति नीविबन्धनम् ।
सा जहार करयुग्ममंशुकादञ्जलिं किल भयेन कुर्वती ॥२६॥

सम्मताऽपि भुवनस्य मेधया राघवे निधुवनोपदेशिनि ।
व्याजहार गुणितस्य विस्मृतिं भूरिशस्तदुपदेशवांछया ॥२७॥

स्वेदविन्दुनिचिताग्रनासिका धूतहस्तलतिका सशीत्कृतिः ।
सोढमन्मथरसा नृपात्मजा राघवस्य न बभूव तृप्तये ॥२८॥

चोदयत्यवनिपालनन्दने शिक्षितुं युवतिकृत्यनैपुणम् ।
देहजन्मशरखण्डितत्रपा सा ययौ रहसि कर्मकर्तृताम् ॥२९॥

२४. रात्रि में लज्जा कम हो जाने के कारण वह राजपुत्री निद्रा से अभिभूत हो गई और नीवीबन्ध के नीचे पड़े हुए उनके (राम के) हाथ को उसने बलपूर्वक नहीं हटाया।

२५. निद्रावस्था में भयानक स्वप्न देखने के कारण भयभीत होकर उसने अपने कुम्भ के समान स्तनों को राम के वक्ष से सटा कर उनको जोर से लिपटा लिया।

२६. जब काम से विह्वल, राम उसके कटिबंध को खोलने लगे तो सीता ने, जो कामदेव के आनन्द को जान चुकी थी, डर के बहाने से अपने दोनों हाथों की अंजुली बना कर अपने वस्त्र को छोड़ दिया।

२७. रति के उपायों के विविध उपदेश, जब राम उसे दे रहे थे तो यद्यपि वह तीव्र बुद्धि के लिये भुवन में विख्यात थी, पर उन्हें बार-बार सुनने की चाव से कह देती थी कि वह बताई हुई बातों को भूल गयी।

२८. यद्यपि रति के आनन्द को वहन करने से उस राजपुत्री की नासिका के अग्रभाग पर पसीने की बूंदें आ गईं, सुकोमल हाथ कम्पायमान हो गये और वह सीत्कार करने लगी, पर राघव का जी नहीं भरा।

२९. जब राम उसे (ऐसे समय में) युवतियों को क्या करना चाहिये, इसकी शिक्षा दे रहे थे तो वह (सीता), जिसकी लज्जा कामदेव के बाणों से चूर-चूर हो गई थी, एकान्त में स्वयं शिक्षिका बन गई।

यन्नगाद मदनेन पीड़िता तत्सहासरसमूचिपि प्रिये।
सस्मितं वलितदेहशोभिनी तत्तदस्फुटमुवाच लज्जिता ॥३०॥

रत्नतल्पनिकटस्थिते शुके सङ्गतौ हृदि निधाय भाषितम्।
निःसहास्मि विसृजेति जल्पति व्रीड़िता परिजघान पञ्जरम् ॥३१॥

रामवक्त्रगलितैः श्रमाम्बुभिश्छिद्रितं कुचयुगस्य कुङ्कुमम्।
सा निरीक्ष्य हसिते सखीजने सम्मुखाद्व्यपजगाम सस्मितम् ॥३२॥

स्वानुवृत्तिविधिवन्ध्यमीर्ष्यया चोदितोद्यत इवाथ लज्जितम्।
मैथिलस्य दुहितुर्मनोभवश्चेतसो निरवशेषमाक्षिपत् ॥३३॥

दीर्घिकाजलतरङ्गनिर्धुतत्यक्तपुष्पमयमण्डनौ क्वचित्।
चाटुरम्यमितरेतराश्रयास्तेनतुः प्रमदकानने मृजाः ॥३४॥

चाटुमात्रकरणप्रयोजनस्तुल्यरागमपि स न्यपातयत्।
योषितश्चरणपङ्कजद्वये यावकं तरुणपल्लवप्रभे ॥३५॥

३०. जब हँसी-हँसी में उसके पति ने उन बातों को कह दिया जिन्हें उसने (सीता ने) काम की विह्वलता में कहा था तो उसने अपने सुन्दर शरीर को मोड़ कर मुसकराते हुए लज्जा से फिर उन्हें धीरे धीरे दोहरा दिया।

३१. रति के समय जो उसने कहा उसे हृदयस्थ कर जब रत्नजटित शय्या के निकट बैठे शुक ने कहा, "मैं अशक्त हूँ, मुझे छोड़ दीजिये" तो लज्जित होकर उसने पिंजड़े पर हाथ मारा।

३२. श्रम के कारण राम के चेहरे से निकले हुए पसीने से, सीता के स्तनों पर लगे हुए कुंकुम लेप को पुछा हुआ देख कर जब सखियाँ हँसीं तो वह मुसकराती हुई उनके सामने से हट गई।

३३. जैसे ईर्ष्या से प्रेरित होकर कामदेव ने मिथिलाधिपति की कन्या के चित्त से लज्जा को, जिसके कारण उसके अनुरूप आचरण में बाधा पड़ती थी, जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया।

३४. कभी-कभी प्रमद वन में सरोवर के जल की लहरियों से गिराये हुए पुष्पों के गहनों को छोड़, वे दोनों, एक दूसरे का सहारा लेकर मीठी एवं मनोहर बातें करते हुए स्नान करते थे।

३५. केवल प्रमथ करने के प्रयोजन से वे पत्नी के चरण कमल में महावर लगाते थे क्योंकि वे तो स्वभाव ही से उसी ढंग के नवपल्लव की तरह लाल थे।

अङ्घ्रियुग्ममनुलिम्पतः स्वयं कुंकुमेन तरुणार्करोचिषा ।
आरुरोह करयुग्ममस्य तत् दूरमेव परिवृद्धवेपथु ॥३६॥

मेखलामधिनितम्बमर्पयंस्तत्र तत्र पुनरादधौ करम् ।
अत्र किञ्चिदनुपाश्रितः परं दुर्ग्रहो नु मणिमेखलागुणः ॥३७॥

आचरन्नथ विलेपनक्रियां पाणिना पुलकितेन सस्पृहम् ।
सोऽस्पृशत्कुचयुगं पुनः पुनश्चन्दने सममपि स्थिते सति ॥३८॥

पत्रमानमिततर्जनीशिरःस्पृष्टकर्णलतिकोऽयमर्पयन् ।
पूर्वमर्धमुकुलीकृतेक्षणं तन्मुखं सुरभिगर्भमन्वभूत् ॥३९॥

आत्मनैव स तदा पुरा कृतं यावकं युवतिदन्तवाससि ।
उज्जहार मुदितः पुनः पुनर्निष्पिबन्नधरपानलोलुपः ॥४०॥

चुम्बति प्रियतमे विलोचनं योषितः स्वयमुपाहिताञ्जनम् ।
प्राप रागमविकाशचक्षुषा कर्णगं निजमशोकपल्लवम् ॥४१॥

३६. जब वे स्वयं, तरुण सूर्य के समान चमचमाता कुंकुम का लेप उसके दोनों पैर के अंगूठों में लगाते थे तो (कामोद्वेग के कारण) कांपते हुए उनके दोनों हाथ बहक कर दूर तक ऊपर चढ़ जाते थे।

३७. कोई सहारा न होने के कारण, मणि-मेखला का कहीं पर अटकना कठिन है, यह विचार कर वे (राम) उस मेखला को नितम्बों के ऊपर अटकाने के लिये बार-बार अमत हाथ वहाँ पर फेरते थे।

३८. अपने पुलकित हाथों से चन्दन के लेप से चित्रित करते हुए वे बार-बार बड़े चाव से उसके स्तनों को छूते थे, यद्यपि उन पर चन्दन ठीक तरह से लगा था।

३९. उसके सुगंधित मुख, जिसमे आँखें अधमुंदी थीं, चित्रित करते समय अपनी तनिक झुकी हुई तर्जनी के अग्रभाग से उसके लता के समान कोमल कान को छूते हुए वे उस मुख का अनुभव करते थे।

४०. तब उसके अधर पान के लिये उत्सुक राम ने उस युवती के अधरों का बार-बार चुम्बन किया और उसके अधर पर अपने ही हाथ से पहिले लगाये हुए लाक्षारस को मिटा दिया।

४१. जब उसके पति (राम) ने उसकी आंखों का, जिसमें उन्होंने स्वयं अञ्जन लगाया था, चुम्बन किया तब सीता, के जिसकी आँखें मुंदी थीं, कान में पहिनाया हुआ अशोक-किसलय अपने स्वाभाविक रंग से चमक उठा।

पुष्परत्नविभवैर्यथेप्सितं सा विभूषयति राजनन्दने ।
दर्पणं ननु चकाङ्क्ष 'योपितां स्वामिसम्मदफलं हि मण्डनम्' ॥४२॥

तामनङ्गकृतचारुविभ्रमां निर्दयं समुपगुह्य चुम्बितुम् ।
वीक्षितुञ्च समकालमप्रभुर्व्याकुलो मुहुरिवास राघवः ॥४३॥

प्रार्थितार्ऽपि न चकार कानिचित् कानिचित् स्वयमपि व्यधत्त सा ।
अन्वभूद्धृदयरत्नविक्रयक्रीतमेनमवला यथेप्सितम् ॥४४॥

येन येन हरति स्म तामसौ तत्तदेव पुनराप योषितः ।
सज्जनेषु विहितं हि यच्छुभं सद्य एव फलबन्धि जायते ॥४५॥

कर्मणि स्वमुखपद्मविच्युतस्वेदबिन्दुहृतकान्तवक्षसि ।
तस्य चक्षुरुपकाञ्चिसञ्चरद्वीक्ष्य वक्षसि मुमोच सा तनुम् ॥४६॥

भर्त्तरि प्रणयमौनमास्थिता जल्पयत्यधरदंशनिग्रहैः ।
नो चकार वचनानि तादृशं निग्रहं चिरमवाप्तुमिच्छया ॥४७॥

४२. जब राजपुत्र उसे मनमाना, सुन्दर पुष्पों एवं रत्नों से सजा रहे थे तब उसने दर्पण देखने की इच्छा नही की । क्योंकि स्त्रियों के शृङ्गार का फल स्वामी की प्रसन्ता ही में होता है ।

विशेष—प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता ।
—कुमारसम्भव ५–१– कालिदास ।

४३. जब कामदेव से प्रेरित होकर सीता लुभावने हाव-भाव करती थी और राम उसे इतना कस कर लिपटा लेते थे कि वह उन्ही मे छिप जाती थी तो वह बार-बार जैसे व्याकुल हो जाते थे क्योंकि उसको देखना और चुम्बन भी करना, दोनों साथ-साथ एक समय में वे नही कर पाते थे ।

४४. प्रार्थना करने पर भी वह कुछ बातें नही करती थी और कुछ बातों को वह स्वयं (विना प्रार्थना किये) करती थी । अपने हृदय रत्न से उन्हे मोल लेकर, जैसी उसकी इच्छा होती थी उसी प्रकार वह अबला उनका आनन्द उठाती थी ।

४५. उन्होने उस पत्नी से वही वही चीजें पायीं जिनसे वे उसे आकृष्ट करते थे । क्योंकि सज्जन के प्रति किया गया शुभ काम तुरन्त फलदायी होता है ।

४६. जब उसने देखा कि उनकी (राम की) आँखें उसकी मेखला पर मँड़रा रही हैं तो उसने अपने मुख कमल से गिरे हुए पसीने की बूँदों से अपने पति के वक्ष को भिगोते हुए अपने शरीर को उनके वक्ष पर गिरा दिया ।

४७. जब उमके बुलाने के लिये उसके पति उसका ओठ काटते थे तो वह प्रेम के वशीभूत होकर, इस इच्छा से मौन साध लेती थी कि वे देर तक उसके ओठ को काटें ।

बालया हृदि निधाय स स्तनौ दन्तमास्यकमलं प्रसादने ।
प्राप्तुमिच्छुरपि दोषतो विना रोषमाविरकरोन्मुहुर्मुहुः ॥४८॥

अल्पदोषविषयेऽपि जम्पती जग्मतुः प्रणयकोपवक्रताम् ।
स्नेहजातिरतिवृद्धिमागता जायते सुलभरोषसव्रणा ॥४९॥

अश्रुषु प्रणयकोपवह्निना लोहितत्वमुपनीय पायितः ।
तत्कटाक्षविशिखो निपातितो धैर्यमस्य निचकर्त सुस्थिरम् ॥५०॥

कोपिता चिरनिवृत्तसंगतिः सुप्तमेत्य परिबोधशङ्किनी ।
हस्तरुद्धचलकुण्डला धृतश्वासवृत्ति शनकैश्चुचुम्ब सा ॥५१॥

कैतवेन कलहेषु सुप्तया स क्षिपन्वसनमात्तसाध्वसः ।
चोर इत्युदितहासविभ्रमं सप्रगल्भमवखण्डितोऽधरे ॥५२॥

सङ्गतानि परिहृत्य चारिणौ मानमेत्य कलहं वितेनतुः ।
अन्ययातनयनौ किलोरसा तौ निहत्य कुहचित्परस्परम् ॥५३॥

४८. जब उन्हें आनन्द देने के लिये, वह बाला अपने स्तनों को उनके वक्ष पर रख देती थी तो उसके दांत और मुख पाने की इच्छा से, बिना उसके किसी अपराध के वे बार-बार गुस्सा होते थे ।

४९. वे दोनों एक दूसरे से थोड़ी-थोड़ी बात पर प्रणय क्रोध के तीखेपन का प्रदर्शन करते थे। आसक्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब क्रोध की चोट स्वाभाविक हो जाती है ।

५०. उनकी ओर प्रेरित, प्रेमाग्नि से तप्त, उसकी तिरछी चितवन के बाण ने, अश्रु से मिल कर उनके स्वभाव-सुलभ धैर्य को छोड़ा दिया ।

५१. बहुत देर से वियोग के कारण क्रुद्ध (सीता ने) सोते हुए राम के पास जाकर, उनके जाग जाने की शंका से, अपने लटकते हुए कुंडल को हाथ से पकड़े, धीरे से श्वास रोक कर, उनका चुम्बन ले लिया ।

५२. प्रणय कलह में जब वह बहाना कर सो गई और वे (राम) डरते हुए, उसका वस्त्र उतार रहे थे, तो उसने हँसते हुए उन्हें 'चोर,' कह कर उनके (निचले) ओंठ को जोर से काट लिया ।

५३. मान से रुठ कर, दोनों ही एक दूसरे से अलग चलते थे परन्तु जब कहीं पर दोनों की आंखें मिल जाती थीं तो अवश्य ही वे, एक दूसरे को अपने वक्ष से टकरा कर जबर्दस्ती लड़ाई मोल लेते थे ।

एकदारिकदनः स कान्तया सार्धमिद्धरुचि सौधमम्बरम् ।
आरुरोह परिसंहृतातपं द्रष्टुमर्धशशिमौलिसन्निभः ॥५४॥

वासरस्य विगमे समीरणैर्मन्दनर्तितसुगन्धिकुन्तलाम् ।
सौधपृष्ठमधितस्थुषीं वचो जानकीमिदमुवाच राघवः ॥५५॥

सन्निगृह्य करसन्तति क्वचित्प्रस्थितोऽपि रविरेप रागवान् ।
अस्तमस्तकमधिश्रितः क्षणं पश्यतीव भुवनं समुत्सुकः ॥५६॥

दिङ्मुखादपसरन्तमातपं नष्टतेजसमनुव्रजन्मुहुः ।
रश्मिभिः समवबध्य भानुना कृष्यमाणमिव लक्ष्यते तमः ॥५७॥

अन्तराणि तमसः प्रयच्छति स्रष्टरीव जगती युगक्षये ।
भूय एव रविमण्डले रुचिर्लीयते जलधिमध्यवर्त्तिनी ॥५८॥

ध्वान्तजालमुपयाति सर्वतः सागरे निहितमण्डलं रविम् ।
वारिभिः पिहितदण्डमायतं भृङ्गचक्रमिव फुल्लमम्बुजम् ॥५९॥

५४. एक समय शत्रुओं के नाश करने वाले, मस्तक पर अर्धचन्द्र से शोभित शङ्कर के समान दीप्तिमान, वह (राम) अपनी प्रिया के साथ, ताप से रहित, शुभ्र आकाश को देखने के लिये, राजमहल के ऊपर चढ़े।

५५. दिन के समाप्त होने पर राघव, सीता से, जो महल के छत पर बैठी थीं और जिनके सुवासित केश कुन्तल वायु में हलके-हलके लहरा रहे थे, ये वचन बोले।

५६. (देखो) अपने रश्मि समूह को सिकोड़ कर, अस्ताचल के शृङ्ग पर बैठा हुआ यह रक्त-वर्ण सूर्य, यद्यपि कहीं चला गया, फिर भी ऐसा लगता है जैसे क्षण भर के लिये वह बड़ी उत्सुकता से संसार को देख रहा है।

५७. ऐसा लगता है कि सूर्य के पीछे आते हुए अन्धकार को, दिशाओं से धीरे-धीरे हटता हुआ, सूर्य का प्रकाश जिसमें गरमी नष्ट हो गयी है, अपनी रश्मियों से बांध कर बराबर खींचे लिये जा रहा है।

५८. जैसे युग के अन्त में जब पृथ्वी समुद्र के बीच में स्थित हो कर जल में डूब जाती है और स्रष्टा अन्धकार के लिये स्थान कर देता है उसी प्रकार सूर्य की प्रभा समुद्र के बीच में आकर पुनः सूर्य में निमग्न हो रही है।

५९. समुद्र के बीच में स्थित सूर्य के विम्ब को अन्धकार का जाल ऐसा घेरे हुए है जैसे प्रफुल्ल कमल को, जिसकी नाल पानी में छिपी है एक बड़ा भृङ्गचक्र चारो ओर से घेरे हो।

एकचक्रमिव राजते नभःस्यन्दनस्य रविविम्बमस्तगम् ।
उत्पतत्यविकले निशाकरे धातुपङ्कपरिदिग्धमण्डलम् ॥६०॥

संहृतात्मकिरणं यथा यथा वृद्धिमुद्वहति मण्डलं क्रमात् ।
सागराम्भसि तथा तथा रविर्गौरवादिव शनैर्निमज्जति ॥६१॥

उन्मुखा दिनकरस्य रश्मयः सागरान्तरितमण्डलश्रियः ।
भान्ति तोयमभिभूय निर्गता वाडवस्य शिखिनः शिखा इव ॥६२॥

सन्ध्यया च परिरुद्धमग्रतो वासरस्य विगमे घनं तमः ।
भातिसिन्धुजलभिन्नमेकतः प्रावृषीव सलिलं पयोनिधेः ॥६३॥

सन्ध्ययाऽरुणितपत्रसञ्चयं श्लक्ष्णपल्लवनिरन्तरं वनम् ।
विन्दतीव परिणामसम्पदं पश्य तत्तमसि सर्पति क्रमात् ॥६४॥

अन्धकारनिकरेण सर्वतः कृष्णसर्पमलिनेन सर्पता ।
रुध्यमानविषयाः समन्ततः संकुचन्ति परिखा नु दिग्भुवः ॥६५॥

६०. (इस समय) जब पूर्ण चन्द्रका उदय हो रहा है तो अस्ताचल पर अस्त होता हुआ सूर्य का बिम्ब, आकाश रूपी रथ का एक ऐसा पहिया लगता है जिसका घेरा धातुओं के चूर्ण से लिप्त हो।

६१. अपने किरणों को सिकोड़ कर, जैसे जैसे सूर्य का मण्डल बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे सूर्य जैसे भारी हो कर समुद्र के जल में धीरे-धीरे डूबता जाता है ।

६२. सागर के भीतर जिसके मण्डल का सौंदर्य छिप गया है ऐसे सूर्य की (जल के) ऊपर छिटकती हुई किरणें ऐसी लगती हैं जैसे वाडवाग्नि की ज्वाला जल को दबा कर बाहर निकल रही हो।

६३. दिन के अन्त में, उषा के प्रकाश के आगे, पीछे हटाया हुआ अन्धकार ऐसा लगता है जैसे बरसात में, नदियों के प्रवाह से एक ओर हटाया हुआ,समुद्र का जल ।

६४. वह देखो, अन्धकार के धीरे-धीरे बढ़ने से, उषा के प्रकाश से अनुरञ्जित पत्तियों का समूह और कोमल पल्लवों से लदा हुआ वन, पकेपन के सौंदर्य को धारण करता है।

६५. सब दिशाओं की खाइयों की सीमायें, काले साँप की तरह मलिन, सर्वत्र फैले हुए अन्धकार के समूह से बन्द हो कर संकुचित हो गई हैं ।

भाति मत्तशिखिकण्ठकर्बुरं ध्वान्तजालपरिरुद्धमम्बरम् ।
अर्कदीपकृततापसंभृतप्रौढकज्जलमलीमसं यथा ॥६६॥

पश्य दीप्तरुचि पूर्वमुद्गतं ज्योतिरेतदसितोरगत्विपः ।
छिद्रमेकमिव विष्णुवर्त्मनो दूरमग्नरविरश्मिभासुरम् ॥६७॥

पश्चिमे नभसि भान्ति लोहितास्तारका रविरथस्य वेगिनः ।
लोहचक्रहतमेरुमस्तकादुद्गता इव हुताशविप्लुपः ॥६८॥

मीलिता रविभयेन तारका रश्मिधामहृतलोहिता इव ।
उन्मिषन्ति दिनकृत्करात्यये दिङ्मुखैकरचनाः समन्ततः ॥६९॥

पूर्ववारिनिधिपृष्ठतः क्रमाद्दर्शयन् हिमरुचिः कलान्तरम् ।
एकपक्षसुलभक्रमामसौ वृद्धिमद्य मुहुरेव विन्दति ॥७०॥

पश्य भृङ्गपटलासितप्रभं पूर्वतः सपदि निर्गतं तमः ।
यत्करेण जघने हिमांशुना तुद्यमानमिव यातिपश्चिमम् ॥७१॥

६६. मत्त मयूर के कण्ठ की तरह रंग-बिरंगा आकाश, अन्धकार के जाल से परिवेष्टित हो कर ऐसा लगता था जैसे सूर्य रूपी दीपक की लौ से निकले हुए घने काजल से काला पड़ गया हो।

६७. देखो, यह दमकता हुआ प्रकाश (अर्थात् चन्द्रमा) जो पूर्व दिशा में निकल आया है, ऐसा लगता है जैसे कृष्ण सर्प के रंग के समान विष्णु पथ (आकाश) में, सूर्य की रश्मियों के बहुत गहरे तक घुस जाने से देदीप्यमान एक छिद्र हो।

६८. पश्चिम के आकाश में लाल-लाल तारे ऐसे लगते हैं जैसे सूर्य के रथ की लोहे की पहिया की टक्कर से मेरु के शृङ्ग से आग की चिनगारियाँ निकल रही हों।

६९. *सूर्य के भय से जिन्होंने अपनी आँखें बन्द कर ली थी और रवि के तेज से जो लाल* हो गई थी वे तारिकायें अब सूर्य की रश्मियों के चले जाने से, दिशा के मुख को सजाने का निश्चय कर, जैसे अपनी आँखें चारो ओर खोल रही हैं।

७०. यह शीत-रश्मि चन्द्रमा पूर्वी समुद्र के ऊपर अपनी कलाओं को क्रमशः दिखाता हुआ, एक पक्ष (शुक्ल पक्ष) में उत्तरोत्तर सुलभ पूर्णता को आज फिर प्राप्त हो गया है।

७१. देखो, भृङ्गों के समूह के समान काला, यह अन्धकार जो एका एक पूर्व से निकला है यह पश्चिम की ओर ऐसे बढ़ रहा है जैसे चन्द्रमा अपने करों (श्लेष—कर=रश्मि=हाथ) से उसके जघन पर मार कर उसे आगे खदेड़ रहा हो।

क्षीरवारिनिधिना विवर्द्धता प्लाव्यमानवदसौ निशाकरः ।
उत्पतत्युदयतः शनैः शनैर्हारशुभ्रनिजरश्मिसंचयः ॥७२॥

क्षिप्यमाणघनतामसोत्करं दूरमुत्सरति मण्डलं दिशाम् ।
शीतरश्मि किरणस्य सर्वतो दातुमन्तरमिव प्रसर्पतः ॥७३॥

क्षीयमाणवपुरिन्दुरुद्गमे वर्द्धमानकिरणः समन्ततः ।
अर्कतप्तगगनानुबन्धिना तेजसेव- परितो विलीयते ॥७४॥

बद्धरागमुदितो निशाकरः संत्यजन्दिशमसौ बलिद्विपः ।
शोकदीन इव पाण्डुरोचिषा कार्श्यमेति वपुषा मुहुर्मुहुः ॥७५॥

पीतमेतदलिवृन्दमेचकं ध्वान्तमेव सकलं हिमत्विषः ।
स्वच्छविग्रहतया शशाकृतिच्छद्मना वहिरिवास्य लक्ष्यते ॥७६॥

विप्रयुक्तवनितामुखाम्बुजप्रोद्धृतद्युतिचयेन चन्द्रमाः ।
नूनमेष पुनरात्मण्डलं पूरयत्यसितपक्षकार्शितम् ॥७७॥

७२. दुग्ध के समान जिसका जल स्वच्छ है, ऐसे ऊपर उठते हुए समुद्र से जैसे तैराया जा कर, यह चन्द्रमा, जिसकी रश्मि का समूह श्वेत हार के समान है, उदयाचल से धीरे-धीरे उठा।

७३. सब ओर फैलती हुई चन्द्रमा की किरणों को स्थान देने के लिये, घने अन्धकार को दूर फेंक कर, दिशाओं का घेरा बहुत दूर चला गया है।

७४. उदय होने के समय क्षीणकाय चन्द्रमा ने अपने किरणों को चारों ओर फैलाया तो, परन्तु आकाश में अभी तक गरमी वर्तमान होने के कारण, जैसे वह कहीं लोप हो गया।

विशेष—जानकीहरण की तीन हस्तलिखित प्रतियों में 'गगण' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, पर 'गगन' ही शुद्ध है। "फाल्गुने गगने फेने णत्वमिच्छन्ति बर्बराः।"

७५. यह चन्द्रमा जो उदय होने के समय लाल था वह बलि के शत्रु (इन्द्र अथवा विष्णु) की दिशा (अर्थात् पूर्व दिशा) को छोड़ता हुआ जैसे शोक से दीन हो कर, उसकी किरणें पीली पड़ गई हैं और वह धीरे-धीरे दुबला होता जा रहा है।

७६. (उदय होने पर) चन्द्रमा ने भृङ्ग के समूह की तरह काले अन्धकार को सब का सब पी (कर) अपने (चन्द्रमा के) शरीर के पारदर्शी होने के कारण वह (अन्धकार) खरगोश के रूप में बाहर प्रतीत होता है।

७७. अवश्य ही यह चन्द्रमा, विरहिणी स्त्रियों के मुख कमल से छीन कर संचित कान्ति से कृष्ण पक्ष में क्षीण किये हुए अपने मण्डल को फिर पूरा करता है।

अन्धकारनिकरं करैरिमं भिन्दतः शशधरस्य मण्डले ।
धूलिपुञ्जइव भाति तामसः क्षोभवेगपतितः शशाकृतिः ॥७८॥

गुल्मलीनमलिकर्बुरं तमः क्रष्टुकाम इव शर्वरीकरः ।
सर्वतो विटपजालरन्ध्रकैः प्रेरयत्युदयशेखरः करान् ॥७९॥

चन्द्ररश्मिनिहतोऽपि तामसः सुप्तकोकिलकुलेन सञ्चयः ।
उल्लसत्कुमुदगन्धसम्भृतैः सावशेष इव भाति षट्पदैः ॥८०॥

पत्रजाल शतरन्ध्रविच्युतः सामिसिक्त इव भूरुहस्तले ।
स्थण्डिले निरवशेषमिन्दुना भाति मुक्त इव रश्मिसञ्चयः ॥८१॥

उल्लसत्सु कुमुदेषु षट्पदाः संपतन्ति परितो हिमांशुना ।
भिद्यमानतमसो नभस्तलाद्विच्युता इव तमिस्रबिन्दवः ॥८२॥

तारका रजतभङ्ग भासुरा लाजका इव विभान्ति तानिताः ।
दिग्वधूभिरुदयादुदेष्यतो वर्त्मनि ग्रहपतेः समन्ततः ॥८३॥

७८. अपनी रश्मियों से अन्धकार के समूह को चूर-चूर करते समय, क्षोभ के वेग से गिरे हुए अन्धकार के टुकड़े, चन्द्रमा के मण्डल पर एकत्र होकर, खरहे की आकृति की तरह दिखाई पड़ते हैं।

७९. रात्रि का उत्पन्न करने वाला, उदयाचल का मुकुट (यह चन्द्रमा) लता मण्डपों में घुसे हुए, भृङ्ग के समान काले अन्धकार को जैसे खींच कर निकालने की इच्छा से, अपनी किरणो को चारो ओर पेड़ों के रन्ध्रो में छोड़ रहा है।

८०. यद्यपि चन्द्रमा की किरणो से अन्धकार नष्ट हो गया था फिर भी, सोते हुए कोकिल के परिवार में और उत्फुल्ल कौमुद की सुगंध से आकृष्ट उस पर बैठे हुए भृङ्गों में उसका (अन्धकार का) अवशेष रह गया था ।

८१. चन्द्रमा से गिराया हुआ रश्मियों का समूह, पेड़ों के पत्र-जाल के सैकड़ों रन्ध्रों से वृक्ष के नीचे टुकड़े-टुकड़े दिखलाई पड़ता था, परन्तु वेदियों पर तो वह समूचा का समूचा पड़ा हुआ लगता था।

८२. कुमुद के फूलने पर उसके भीतर से भृङ्ग, निकल कर इधर-उधर ऐसे गिरने लगे जैसे चन्द्रमा से चूर-चूर किये गये अन्धकार की बूंदे आकाश से गिर रही हो ।

८३. चाँदी के टुकड़ों के समान चमकते हुए तारे ऐसे शोभायमान हैं जैसे उदयाचल से उदय होते हुए ग्रहपति चन्द्रमा के मार्ग में दिग्वधुओं ने चारो ओर लाजा बिखेरा हो ।

मित्रनाशपरिरोदिताश्चिरं मूर्छिता इव विभान्ति दीर्घिकाः ।
सुप्तपद्मविनिमोलितेक्षणा वृद्धशान्तकलहंसकूजिताः ॥८४॥

सैकते शशिमरीचिलेपने रोधसीन्दुकरपुञ्जसन्निभम् ।
राजहंसमसमीक्ष्य कातरा रौति हंसवनिता सगद्गदम् ॥८५॥

तिग्मरश्मिविरहे सरोजिनी लोकमिन्दुकिरणावगुण्ठितम् ।
नाभिवीक्षितुमिव क्षपागमे मीलयत्यसितवारिजेक्षणम् ॥८६॥

जृम्भमाणचलपत्रसंहतेरन्तरं कुमुदखण्डसम्पदः ।
संविधातुमिव पद्मसंततिः संकुचत्यनतिदूरवर्त्तिनी ॥८७॥

८४. अपने मित्र के नाश के कारण (अर्थात् सूर्य के अस्त हो जाने के कारण) बहुत देर से रो चुकने पर, ये सरसियां, जिनकी कमल रूपी आँखें बन्द हो गई है और जिनमें हंस बहुत जोर-जोर चिल्लाने के बाद चुप होगये हैं, मूर्छित-सी लगती हैं।

विशेष —यह श्लोक संवादिनी चूलिका का उदाहरण है। राजशेखर काव्य मीमांसा में कहते हैं —
समभिधायाधिकस्योपन्या सश्चूलिका।
द्विधा च सा संवादिनी निसंवादिनी च।

(चूलिका—तुल्य अर्थ को कहकर पुनः उसकी अपेक्षा विशेष अर्थ का उल्लेख करना चूलिका है। यह दो प्रकार की होतो है—संवादिनी और असंवादिनी अर्थात् समान और असमान। यह श्लोक काव्य मीमांसा में इस प्रकार दिया है—

अङ्गणे शशिमरोचि लेपने
सुप्तमिन्दु करपुञ्ज सन्निभम् ।
राजहंसमसमीक्ष्य कातरा
रौति हंस वनिताश्रु गद्‌गदम् ॥

राजशेखर ने इसी भाव का एक दूसरा उदाहरण दिया है।

चन्द्र प्रभा प्रसरहासिनि सौधपृष्ठे
दुर्लक्ष पक्षति पुटो न विवेद जायाम् ।
मूक श्रुतिर्मुखर नूपुर निःस्वनेन
व्याहारिणीमपि पुरो गृहराज हंसः ॥

८५. चन्द्रमा के किरणों (चांदनी) से लिप्त किनारे की बलुही जमीन पर, चन्द्रकिरणों के समूह के समान शुभ्र राजहंस को न देख कर, हंसिनी व्याकुल होकर अवरुद्ध कंठ से रो रही है।

८६. यह सरोजिनी (सरसी जिसमें कमल हों) सूर्य के विरह से (अर्थात् सूर्यास्त होने पर) अपने नील कमल रूपी आँखों को बन्द कर लेती है जैसे वह चन्द्रमा के किरणों से लिपटे हुए संसार को देखना नहीं चाहती।

८७. निकट में स्थित कमलों का समूह, पत्तियों के समूह के फैलने के कारण पद्मवन, भाग में स्थित, कौमुद के सौंदर्य को फैलने के लिये स्थान देने के हेतु, सिकुड़ रहा है।

भाति विभ्रदसितोत्पलप्रभं लक्षणं मृगमयं हिमद्युतिः ।
श्यामलावदनबिम्बकान्तिभिर्बद्धमध्य इव रूप्यदर्पणः ॥८८॥

यौवनोपहित पाण्डुकान्तिना त्वन्मुखेन विजितो निशाकरः ।
लज्जयेव घनमेघसन्ततौ रुद्धरश्मिनिवहो निलीयते ॥८९॥

अङ्कितः शशमयेन लक्ष्मणा कृष्णमेघशकलं निशाकरः ।
मध्यलग्नमिव मन्दमुद्वहन् निष्पतत्यसितवारिदोदरात् ॥९०॥

उद्धृतद्युतिरिवैष मध्यतो भाति कृष्णमृगलक्षणः शशी ।
कुन्दगौरदशनावलीमिमां वेधसा रचयितुं तव प्रिये ॥९१॥

त्वन्मुखावजितमण्डलश्रियस्तत्कलङ्कममृतद्युतेरयम् ।
वीक्ष्य शीतकर कान्ततोरणः शोकवाष्पमिव वारि मुञ्चति ॥९२॥

इति सपदि वदन् वदान्यवर्यः शयनशिलातलमिन्दुपादधौतम् ।
अलसतरगतिर्नरेन्द्रकन्यामनुगमयन्मदमन्थरः प्रपेदे ॥९३॥

८८. यह चन्द्रमा, जिसमे नील कमल के रंग का हरिण लक्षित है, उस चांदी के दर्पण की तरह लगता है जिसमे (मुख देखने के समय) सांवली स्त्रियों के मुख के बिम्ब की कान्ति बीच में बँध गई हो ।

८९. यौवन के कारण शुभ्र कान्तिमान तुम्हारे मुख से हार कर यह चन्द्रमा जैसे लज्जा से, घने मेघों के समूह में अपनी रश्मियों की परम्परा को बटोर कर छिप गया है ।

९०. शशक से अङ्कित यह चन्द्रमा काले मेघो के भीतर से धीरे-धीरे निकलता हुआ ऐसा लगता है जैसे (निकलते समय) उसमें काले मेघ का एक टुकड़ा बीच में लगा रह गया हो ।

९१. हे प्रिये ! यह चन्द्रमा जिसमें कृष्ण मृग का आकार बना है, ऐसा लगता है जैसे तुम्हारे कुन्द के सदृश श्वेत दांत की पंक्ति को बनाने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमा के मध्य भाग से उसकी कान्ति निकाल ली हो ।

९२. तुम्हारे मुख से जिसके मण्डल की कान्ति हार गई है, ऐसे अमृत के समान दीप्तिमान, इस चन्द्रमा के कलङ्क को देख कर, इस चन्द्रकान्त मणि से बने हुए तोरण से पानी छूट रहा है जैसे वे शोक के आँसू हों ।

९३. शीघ्रता से इतना कह कर, मधुरभाषियों में श्रेष्ठ (राम) मद से धीरे-धीरे, अलसाई हुई चाल से, चन्द्रकिरणों से स्वच्छ की हुई शयन शिला पर नरेन्द्र की पुत्री (सीता) के पीछे-पीछे गये ।

अथ सुरतमखे सुखं समाप्ते मदनहुताशनदग्धमानहव्ये ।
चषकमधुनि सन्निविष्टबिम्बं मु समनयद्दयितासखः स सोमम् ॥६४॥

दुहितुरवनिभर्त्तुरुन्मयूखं मणिचषकं परिमण्डलं विहाय ।
प्रियमुखपरिभुक्तधामवाञ्छा करकमलं नयति स्म हेमशुक्तिम् ॥६५॥

नियतमिह पतन्ति दन्तधारा मदन मदोद्धतयोरितीव भीत्या ।
अधरकिशलये विहाय यूनोर्मधु पिबतोर्नयनान्युयवाप राग ॥६६॥

मुहुरपि मधुपो विवृद्धतृष्णो न विरमति स्म पिबन् सुगन्धि हृद्यम् ।
युवतिमुखमसंशयं यतो यत् सरसिरुहं परमार्थतस्तदेतत् ॥६७॥

अचकमत मधु प्रियामुखेन क्षितिपसुतः प्रणयादसौ वितीर्णम् ।
अधरमितवतो व्रणस्य दाहात् स्फुटरचितभ्रुकुटिर्मधुस्रवेण ॥६८॥

इति सपदि निशामतीयतुस्तौ प्रविधुतकौसुमभक्तिसूत्रशेषम् ।
रतिकलहकचग्रहेण माल्यं विलुलितकेशसमर्पितं दधानौ ॥६९॥

६४. जब रति रूपी यज्ञ, जिसमें कामदेव की अग्नि में, मान की आहुति दी जा चुकी थी, सुख-पूर्वक समाप्त हो गया तब अपनी प्रियतमा के प्रिय (राम) मदिरा के प्याले में, जिसमे उनके मुख का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, सोम भर कर सीता के मुख के पास ले गये।

६५. पृथ्वीपति की पुत्री (सीता) ने, इस इच्छा से कि वह अपने प्रिय (राम) के मुंह की जूठी मदिरा पी सके, मणि के बने हुए प्याले को जिसके गोल किनारे से आभा निकल रही थी छोड़ कर, सुवर्ण के मदिरा पात्र को अपने कर कमल मे ले लिया।

६६. काम से उन्मत्त उनके दाँतों की तीखी धार अवश्य ही अधरों पर पड़ेगी इस डर से, लाल रंग, मदिरा पीने के समय उनके किसलय के समान अधरों को छोड़ कर उनकी आँखों में छा गया।

६७. वह मधु लोलुप भृङ्ग (राम) की, जिसकी प्यास बहुत बढ़ गई थी, सुवासित होने के कारण हृदय हारी मधु (अधर मधु) के बार–बार पीने पर भी नहीं अघाते थे और पीने से नही हटते थे। क्योंकि वह उस युवती का मुख था इसमें कोई सन्देह नहीं था पर यथार्थ में वह कमल था।

६८. तब उस पृथ्वीपति के पुत्र (राम) ने, जिनकी भौंहें, अपने अधरों में (सीता के लगाये हुए) घाव पर मदिरा लगने से दाह के कारण, संकुचित हो गई थी, प्रेम के वशीभूत हो कर, अपनी प्रिया के मुख से (सीधे अपने मुख में) मदिरा लेना चाहा।

६९. रति के समय छीना-झपटी में पकड़े हुए केश से फूलों के गिर जाने से और उसके केवल सूत्र का सौंदर्य बच रहने के कारण, बिखरे हुए बालों में (उसी प्रकार) माला धारण किये उन्होंने जल्दी से रात बितायी।

अथ हृदयङ्गमध्वनितवंशकृतानुगमै–
रनुगतवल्लकीमृदुतरकणितैर्ललनाः ।
तमुपसि भिन्नषड्जविपयीकृतमन्द्ररवैः
शयितमबोधयन् विविधमङ्गलगीतिपदैः ॥१००॥

हृदय निपीडनोद्धृतपयोधरकुङ्कुमया
रतिषु दधानया दशनखण्डितमोष्ठमणिम् ।
चिरकृतजागरारुणितमन्थरलोचनया
शयनममुच्यत प्रियमनु प्रमदोत्तमया ॥१०१॥

इति अष्टमः सर्गः ।

१००. तब हृदय को सोहावनी लगने वाली बांसुरी की ध्वनि से, जो वीणा की अति मधुर झंकार का साथ कर रही थी, और जिसमें षड्ज के भिन्न-भिन्न श्रुतियों की गम्भीर ध्वनि स्पष्टतया लक्षित थी, तथा विविध प्रकार के मङ्गल गान से प्रातःकाल स्त्रियों ने सोते हुए उन्हें जगाया।

१०१. तब स्त्रियों में श्रेष्ठ (सीता) ने, जिसके स्तनों पर लगा हुआ कुंकुम का लेप हृदय के गाढ़ आलिङ्गन से पुछ गया था, रति के समय दांत से काटे हुए, मणि के समान दीप्तिमान ओठों को धारण करते हुए, और जिसकी आंखें रात में देर तक जागने के कारण लाल एवं मन्द हो गई थीं, पलंग को अपने पति के पश्चात् छोड़ा।

आठवां सर्ग समाप्त ।

नवमः सर्गः

इति प्रवृत्तस्य सुतस्य केषुचिद्गितेपु मासेषु सुखेन भूपतिः ।
पुरं प्रतस्थे वनितापरिग्रहैस्त्रयं सुतानामितरत्समस्य सः ॥१॥

उपेत्य पत्या सह शोकसम्पदा कलत्रभारेण च मन्थरक्रमा ।
पितुः प्रयाणाभिमुखी भुवः सुता ततान पादावुदबिन्दुभिर्दृशोः ॥२॥

असावपत्यंगुणपक्ष वर्त्तिनीं मतिं समालम्ब्य गुणैः पुरस्कृतम् ।
जगौ ततः साधु गुरुर्गरीयसीं गिरं सतीनामुचितव्रताश्रयाम् ॥३॥

परः प्रकर्षो वपुषः समुन्नतिर्गुणस्य तातो नृपतिर्नवं वयः ।
इति स्म मा मानिनि मानमागमः पतिप्रसादोन्नतयो हि योषितः ॥४॥

स्त्रियो न पुंसामुदयस्य साधनं त एव तद्धामविभूतिहेतवः ।
तडिद्वियुक्तोऽपि घनः प्रजृम्भते विना न मेघं विलसन्ति विद्युतः ॥५॥

१. जब राम कई दिन इस प्रकार आनन्द में व्यतीत कर चुके बाद राजा दशरथ अपने बाकी तीनों पुत्रों का भी विवाह कर अपनी राजधानी के लिये चले।

२. पृथ्वी की पुत्री (सीता) अपने पति के साथ, अतिशय शोक एवं श्रोणी के भार के कारण धीरे-धीरे अपने पिता के पास अपने अश्रुबिन्दुओं से उनके पैरों को भिगोते हुए चली।

३. तब उसके पिता, गुण का पक्ष लेने वाली बुद्धि का अवलम्बन कर अपनी गुणवती पुत्री से, पतिव्रता स्त्रियों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में सारगर्भित वचन बोले।

४. हे मानिनि! शरीर का अधिक सौष्ठव, गुणों की प्रचुरता, पिता का नृपति होना, युवावस्था, इनके कारण अभिमान न करना। क्योंकि पति के प्रसन्न करने ही में पत्नी का गौरव होता है।

विशेष—कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोक सौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्य सुखं नवं वयः.... ।
—कुमारसम्भव, ५-४१ —कालिदास।

५. स्त्रियाँ, पुरुषों के अभ्युदय का साधन नहीं होतीं। बल्कि पुरुष ही उनके तेज और वैभव के कारण होते हैं। बिना बिजली के भी बादल गरजता है, परन्तु बिना बादल के बिजली नहीं चमकती।

गतापि भर्त्रे परिकोपमायतं गिरः कृथा मा परुषार्थदीपनीः।
कुलस्त्रियो भर्तृजनस्य भर्त्सने परं हि मौनं प्रवदन्ति साधनम् ॥६॥

पतिव्रता वश्यमवश्यमङ्गना करोति शीलेन गुणस्पृहं पतिम्।
विनष्टचारित्रगुणा गुणैषिणः पराभवं भर्तुरुपैति दुस्तरम् ॥७॥

अलं त्वयि व्याहृतिविस्तरेण मे कुरुष्व तद्यच्चरितं त्वदाश्रयम्।
श्रुतिं प्रयातं जरसैव जर्ज्जरं सहस्रभेदं हृदयं न दारयेत् ॥८॥

अयं त्वदेकप्रवणो मनोरथो वृथाऽद्य दैवादपि नाम नो भवेत्।
इति प्रवक्तुर्जरतो निरासिरे निगृह्य कण्ठं वचनानि मन्युना ॥९॥

उदग्रभासः शिखया शिखामणेः स्रजा च धम्मिल्लकिरीटदष्टया।
प्रमृज्य पादौ जनकस्य जम्पती क्षयादयातामथ लम्भिताशिषौ ॥१०॥

कृतो वियोगेन शुचः समुद्भवः समर्पितः साधुवरेण सम्मदः।
मनस्यवस्थाननिमित्तमीशितुः क्षणं विवादानिव तस्य चक्रतुः ॥११॥

६. पति से बहुत क्रुद्ध होने पर भी उनसे कटु और लगते हुए वचन न बोलना। अच्छे कुल की स्त्रियों के लिये चुप रह जाना, पति की भर्त्सना करने का सबसे बड़ा साधन कहा गया है।

विशेष —देखिये 'भर्तुर्विप्रकृताऽपिरोषणतया मास्म प्रतीपं गमः'।

—शाकुन्तल–४–१८,कालिदास

७. पतिव्रता स्त्री, अपने शील से, गुण के इच्छुक पति को, अवश्य ही, अपने वश में कर लेती है परन्तु चरित्र हीन स्त्रियों की, गुणों की इच्छा रखने वाले पति से बड़ी अवहेलना होती है।

८. मुझे और कुछ अधिक विस्तार से तुमसे नहीं कहना है। (केवल इतना ही कहना है कि) कोई आचरण तुम ऐसा न करना जिसे सुन कर, वृद्धावस्था ही से जर्जर उस हृदय को, जो स्वयं सहस्रों टुकड़े में बँट गया है, चूर चूर कर दे।

९. अब तुम्हारी ही ओर लगी हुई यह अभिलाषा, दैव संयोग से भी, वृथा न हो, ऐसे वचन उस वृद्ध के, शोक से अवरुद्ध कण्ठ से निकले।

१०. तब वे दोनों अपने मुकुट में लगे हुए श्रेष्ठ मणि की प्रभा से एवं किरीट में केशपाश के साथ गुथी हुई फूलों की माला से जनक के चरणों का परिमार्जन कर (अर्थात् प्रणाम कर) और उनका आशीर्वाद लेकर राजमहल से निकले।

११. उस राजा के हृदय में उस क्षण (अपनी पुत्री के) वियोग से जनित शोक और उसे एक विशिष्ट साधु पति मिल जाने की प्रसन्नता, ये दोनों भाव उनके मन में स्थान पाने के लिये जैसे परस्पर झगड़ने लगे।

हलायुधाभस्य सकालहो रवः पयोधिनिर्घोषगभीरभैरवः ।
ततः प्रगल्भाहतभेरिसंभवः प्रकाशयामास गतिं समन्ततः ॥१२॥

गजेन्द्रघण्टाघटितश्च निःस्वनः करेणुकावृंहितवृंहितो मुहुः ।
भयंवितन्वन् भवनेषु पक्षिणां दिशः ससर्पाथ समं समुद्धतः ॥१३॥

समारुरोहाथ रथं महारथः सहेमचित्रं सह राजकन्यया ।
दिनादिसन्ध्यानुगतां पिशङ्गितां स्वरश्मिदीप्त्येव दिवं दिवाकरः ॥१४॥

शिरःप्रदेशस्थसमुद्गपेटिकागृहीतवीणांऽशुक पञ्जरादयः ।
सवेत्रहस्तैः स्थविरैरधिष्ठिताः स्त्रियोऽप्यनुस्यन्दनमत्यगुर्मुदा ॥१५॥

मदान्धमातङ्गघटाद्रिसंङ्कटे परिक्वणन्ती वलकायनिम्नगा ।
तरङ्गिता वल्गुतुरङ्गरङ्गितैः पुरः प्रतस्थे पुरुहूततेजसः ॥१६॥

स्वदृष्टिरोधि श्रवणाग्रमारुतैरजो रथोत्थं यदि नाहरिष्यत ।
विनिर्गताभिर्न पुरो मदप्लुतां घटाभिरद्रक्ष्यत वर्त्म दन्तिनाम् ॥१७॥

१२. तब बहुत जोर से पीटे गये नगाड़े की ध्वनि, दुंदुभी का स्वर एवं समुद्र के गम्भीर गर्जन ने, बलराम के समान तेजस्वी उनके प्रस्थान की सूचना दी ।

१३. तब श्रेष्ठ हाथियों के घंटों की टनटनाहट, हथनियों की बार बार की हुई चिंघाड़ से तेजी पकड़ कर, महल में चिड़ियों को भयभीत करता हुआ बड़े जोरशोर से सब दिशाओं में फैल गयी ।

१४. तब महारथी राम, राजकन्या (सीता) सहित, सुवर्ण से चित्रित रथ पर ऐसा चढ़े जैसे प्रातःकाल, उषा से अनुगत सूर्य रंग विरंगे आकाश में चढ़ता है।

१५. स्त्रियां भी बंद संदूकों को जिनमें वीणा, रेशमी वस्त्र, पिंजड़े इत्यादि रखे थे, अपने सिर पर रख कर, हाथ में बेंत लिये हुए वृद्ध भृत्यों की देखरेख में बड़ी प्रसन्नता से रथ के पीछे-पीछे चलीं ।

१६. इन्द्र के समान तेजस्वी राजा की, सुन्दर घोड़ों से अनुरञ्जित तरङ्ग वाली, नदी के समान सेना, पहाड़ के समान मदान्ध हाथियों के समूह से, चलने में रुकावट होने के कारण शोर करती हुई राजधानी की ओर चली ।

१७. यदि रथों के चलने से उठी हुई उसकी दृष्टि को रोकने वाली धूलि को मद बहाते हुए हाथियों ने अपने कान के अग्रभाग को फड़फड़ाने से निकली हुई वायु से न उड़ा दिया होता तो उनके समूह को सामने का मार्ग न दिखाई पड़ता ।

व्यतीतरथ्येऽथ रथे कपोलयोर्विलासवत्या लसदंशुजालयोः ।
पपात तस्याः पुरगृह्यदीर्घिकासमीरणानर्त्तितपद्मजं रजः ॥१८॥

वराङ्गना प्रस्तरभेदकोटिभिर्हतस्य चक्रे चलनं वरूथिनः ।
पिधाय यत्तचलनं पथिप्रियं तमाललम्बे वलसन्निधावपि ॥१९॥

रथध्वनिप्रापितसम्मदं गवां कुलं समुत्पुच्छ्यमानमुन्मुखम् ।
उदग्रकर्णं परिधावदेकतो ददर्श सीताऽथ वनान्तवर्त्तिनी ॥२०॥

विनिद्रपद्मा मृदुभिः समीरणैर्विसारयन्तः कलहंसिकागिरः ।
स्वदेशसीमासरितो विलङ्घिताः शुचं वधूचेतसि साधु संदधुः ॥२१॥

विवृत्तदृष्टा विपर्यव्यतिक्रमाच्छनैर्निमज्जन्त इवावनीतले ।
स्वजन्मभूमौ गिरयोनृपात्मजाकपोलमातेनुरजस्रमश्रुभिः ॥२२॥

द्विपेन्द्रदन्ताहृतवन्यशल्लकीकषायगन्धिः पथि तत्र योषिताम् ।
शनैर्विधुन्वन्नलकाग्रवल्लरीर्मुखानि पस्पर्श वनान्तमारुतः ॥२३॥

१८. जब रथ थोड़ी दूर चला गया तो नगर के बाहर तालाब में वायु से नाचते हुए कमलों का पराग उस विलासवती (सीता) के किरणों की जाल से चमकते हुए दोनो गालों पर जा गिरा ।

१९. चलने में, पत्थर के नोकीले टुकड़ों से जब रथ के पहियों में धचका लगता था तो उस अवसर का लाभ उठाकर वह सुन्दर शरीर वाली (सीता) अपने प्रिय से सेना के सामने ही लिपट जाती थी ।

२०. जंगल के बीच में सीता ने नील गायों का एक झुंड देखा जो रथ की ध्वनि से प्रसन्न हो कर, अपनी पूंछ उठाये, सर ऊँचा किये और कान खड़े हुए एक ओर भाग रहा था ।

२१. अपने नगर की सरहद पर नदी को, जिसमें मन्द-मन्द वायु में उत्फुल्ल कमल झूम रहे थे और जहां से हंसिनियों की बोली का विस्तार हो रहा था, जब वहू (सीता) ने पार किया तो उसका हृदय शोक से भर गया ।

२२. (रथ की गति के कारण) भिन्न-भिन्न वस्तुओं के क्रम-क्रम से आगे-आगे के कारण (रथ पर से) पीछे मुड़ कर देखने से उसकी जन्मभूमि के पर्वत, (पीछे हटते हटते) पृथ्वी में धीरे-धीरे विलीन होते हुए लगते थे। ऐसा देख कर उसकी (सीता की) आँखों से निरन्तर बहते हुए आंसुओं ने उसके गालों को भिगो दिया ।

२३. श्रेष्ठ हाथियों के दांत से तोड़ी हुई जंगली सल्लकी की कषाय गन्ध से युक्त, वन के अन्त में बहती हुई वायु ने रास्ते में, पत्नी (सीता) के लता के समान केश के अग्रभाग को धीरे-धीरे हिलाते हुए उसके (सीता के) मुख को स्पर्श किया ।

अथ प्रतानः प्रततान तामसो नृपस्य भीमं भयमादिशन्दिशः।
क्षिपन् क्षपाया विगमेऽपि संहतिं प्रसह्य वैरोचनरोचिषां पथि ॥२४॥

अरिष्ट सन्तापविरूपदर्शनास्तमोऽभिभूताः प्रतिकूल मारुताः।
अविप्रसन्नानि मुखानि भेजिरे दिशो विनाशोपनता इव क्षणम् ॥२५॥

अथ प्रकाशीभवदग्रतोदिशं क्षणादुदीचीमवभास्य दीप्तिभिः।
वलेन तेजः पुरुषाकृतिश्रिया विभक्तमुत्पातमनु व्यदृश्यत ॥२६॥

ततो दधानः श्रवणावसङ्गिनीं विशुष्कपङ्केरुहबीजमालिकाम्।
विनिद्ररक्तोत्पलशङ्कया ततां विलोचनोपान्त इवालिसन्ततिम् ॥२७॥

विशालवामांसतटावलङ्गिनीं समुद्वहन् द्वीपितनुं तनूदरः।
परिज्वलंस्तीव्रतपोहुताशनस्फुलिङ्गपातैरिव विन्दुचित्रिताम् ॥२८॥

भुजेऽतिभीमे सशरं शरासनं निधाय वामे निधनावहं द्विषाम्।
करेऽपरस्मिन् परदुर्गपारगं परं स विभ्रत्परशुं परासुहा ॥२९॥

२४. यद्यपि रात्रि नही थी, फिर भी एक अन्धकार का समूह, राजा के हृदय में तीव्र आशंका उत्पन्न करता हुआ, सूर्य के किरण पुञ्ज को सहसा हटा कर, रास्ते में चारों ओर फैल गया।

२५. अन्धकार से घिरी हुई, जहाँ प्रतिकूल हवायें चल रही है अनिष्ट सूचक भयङ्कर रूप धारण किये हुए, दिशाओं ने, जैसे विनाश की ओर अग्रसर हो रही हों, उस क्षण, घोर अप्रसन्नता का रूप धारण कर लिया।

२६. तब एक तेजपुञ्ज, अपनी दीप्ति से उत्तर दिशा को सहसा प्रकाशमान् करता हुआ, बलवान् पुरुषाकृति से दमदमाता हुआ सामने दिखलाई पड़ा।

२७. सूखे हुए कमल के बीजों की माला कान में पहिने हुए, जिनके बीज उनकी आँखों के निकट ऐसे लगते थे, जैसे मुँदे हुए नील कमल की शंका से एकत्र भृङ्गों की पंक्ति लगी हो।

विशेष—२७वें श्लोक से ३१वें श्लोक तक कुलक है। ३१वें श्लोक में "भृगूणां प्रभुः रमेण गिरो जगदे" के साथ प्रत्येक श्लोक का अन्वय होगा। इन पाँचों श्लोकों में परशुराम का वर्णन है। 'कुलक' की व्याख्या २–२ में देखिये।

२८. कोप से धधकते हुए, पतले उदर वाले, विशाल बाँये कन्धे पर तेंदुये का चर्म लटकाये हुए, जिस पर उसके विन्दु ऐसे लगते थे जैसे उनके तीव्र व्रत एवं तप की अग्नि की जलती हुई चिनगारियों के गिरने से चित्रित चिह्न बन गये हों।

२९. शत्रुओं का नाश करने वाले, जिनके भयानक बाँये कन्धे पर बाण से संयुक्त मृत्यु को साथ में ले चलने वाला धनुष था और दूसरे हाथ में एक उत्तम फरसा था जो शत्रुओं के दुर्ग को भेदने वाला था।

तपोऽभिधानस्य सितेतराध्वनः शिखा इवादित्यमयूखपिङ्गलाः ।
जटा विधुन्वन् बलिताः समन्ततः समीरणैरात्मरयेण सम्भृतैः ॥३०॥

प्रभुर्भृगूणां जगदे जगत्सृजः परोऽवतारो ज्वलनं वितन्वता ।
हसेन धुन्वन्नथ तद्बलं बली प्ररुध्य रामेण रुषावृता गिरः ॥३१॥

न राम रामं युधि जेतुमुद्यमो विधीयतामन्यमिव क्षितिक्षितम् ।
सरित्तटीपाटन पाटवस्पृशं न गोपतिं प्राप्य विशीर्यते नगः ॥३२॥

रघोरपत्ये जगतीपतिद्विषो वृथा तव स्यादिह विक्रमक्रमः ।
अलं विसारिग्रसनस्यपाटवो न दन्दशूकप्रभवे विहङ्गमः ॥३३॥

तव प्रयोगे धनुषोऽनुशासितुः शरासने भूधरधन्वनः परम् ।
इतः प्रवृत्तापि न नूनमागता विपत् त्वदीयश्रवणस्य गोचरम् ॥३४॥

निशम्य तस्यैतदितीरितं वचो जगाद शिष्यः स पुनः पिनाकिनः ।
परस्य वृद्धिं यशसो वितन्वती वृथा विधित्सन् धनुषो भिदामिदम् ॥३५॥

३०. सूर्य की किरणों के समान पिङ्गल वर्ण, तपस्या की अग्नि से निकली हुई धूमिल ज्वाला के सदृश, अपने जटाजूट को अपने ही तेज से निकली हुई वायु से, हिलाते हुए ।

३१. तब उस वीर को, जो भृगुवंश के प्रभु थे, जो जगत् के सृजन करने वाले ब्रह्मा के दूसरे अवतार थे और जो राम के बल को हँसी से झकझोर कर जल फैला रहे थे, रोक कर राम क्रोध से भरे वचन बोले ।

३२. हे परशुराम ! दशरथ के पुत्र इस राम को अन्य महीपति राजाओं की तरह युद्ध में जीतने का प्रयास न करो । नदी के किनारे को ढहाने में चतुर साँड़ पहाड़ को गिराने में समर्थ नहीं होता ।

३३. क्षत्रिय राजाओं के शत्रु, आपके विक्रम की परम्परा रघु के वंशज के प्रति निरर्थक होगी । एक पक्षी जिसमें केवल मछली के निगलने की शक्ति होती है वह सर्पराज के सामने नगण्य है ।

३४. तुम्हें धनुर्विद्या सिखलाने वाले शिव के धनुष पर जो यह विपत्ति आई है उसे मैंने जान बूझ कर किया है । लगता है यह बात तुम्हारे कान तक अवश्य ही नहीं पहुँची ।

३५. उनके (राम के) कहे हुए इस वाक्य को सुन कर, उस शिव के शिष्य ने राम से, जिनका यश धनुष के तोड़ने से बढ़ रहा था उसे वृथा करने की इच्छा से फिर यह कहा ।

नवेश्वर स्तब्धतरं धनुर्द्वयं विधाय वन्ध्येतरबाणपातनम्।
विशामधीशे किल विश्वकर्मणा पुरन्दराख्याय पुरा व्यतीर्यत ॥३६॥

विसृज्य पूर्वं दनुजारये धनुस्तयोरथादायि रथाङ्गधारिणे।
धनुस्तथैकं त्रिपुरं दिधिक्षते त्रिलोचनाय त्रिदशाधिपेन तत् ॥३७॥

विवित्सया तद्गतजन्यतेजसो व्यधत्त यत्नेन तथा मरुत्पतिः।
यथाऽऽहवो हव्यवहोग्रतेजसोरजय्यशक्त्योरजयोरजायत ॥३८॥

चकार चक्रादि विहाय देवयोर्युगं महेष्वासयुगेन संयुगम्।
दिशो दशापि प्रतिरुध्य पत्रिभिः समाः सहस्राणि समेतसाहसम् ॥३९॥

अथो विकृष्टं मृदुभूतमीश्वरः ससर्ज यच्चापमभेदि तत्त्वया।
अगादपीकाय वितीर्णमक्षतं क्रमेण हस्तं मम वैष्णवं धनुः ॥४०॥

गुणावुभावस्य तयोर्जगच्छ्रुतिं जहाति नैको दृढतेति विश्रुतः।
असंशयं ज्येतिनिरूढिमागतः परो ममैव श्रवणान्तगोचरः ॥४१॥

३६. हे नये राजा (अर्थात् अभी नये नये राजा हुए हो। तुम क्या जानो यह भाव है) प्राचीन समय में विश्वकर्मा ने दो विशिष्ट धनुष, जिनसे निकले हुए बाण कभी विफल नहीं होते, बनाकर, देवताओं के स्वामी को जिनका नाम पुरन्दर है, प्रदान किया था।

३७. तब देवताओं के स्वामी ने प्रथम धनुष, दनु दानव के शत्रु, एवं सुदर्शन चक्र के धारण करने वाले विष्णु को दिया और दूसरा, त्रिनेत्र भगवान् शिव को जो तीन नगरों को जलाना चाहते थे, दिया।

विशेष—तीन नगरों से अभिप्राय मय दानव से बनाये हुए उन सोना, चांदी और लोहे के नगरों से है जिन्हें शिव ने जलाया था।

३८. तब मरुतों के स्वामी, इन्द्र ने उसकी शक्ति को जानने की इच्छा से, यज्ञ में हव्य के अधिकारी, और उग्रतेज के धारण करने वाले, शिव, के जो दोनों अजेय और अजन्मा थे, बीच बड़े प्रयत्न से झगड़ा करा दिया।

३९. तब इन दोनो देवताओं ने चक्र और अन्य अस्त्रों का परित्याग कर, दोनों महान् शक्ति वाले धनुषों से बड़े साहस के साथ दसों दिशाओं को भी रोक कर सहस्र वर्ष तक युद्ध किया।

४०. तब शिव ने उस मुलायम धनुष का जिसे तुमने बहुत अधिक खींचने से तोड़ डाला है, परित्याग कर दिया और विष्णु का वह अक्षत धनुष जो ऋचीक को मिला था क्रमानुसार मेरे हाथों में आया।

४१. इस विष्णु के धनुष में दो गुण हैं। एक तो वह दृढ़ता के नाम से प्रसिद्ध है। वह जगत् की श्रुति (श्लेष, श्रुति=कान=ख्याति) को नहीं छोड़ती और दूसरा इसकी विख्यात प्रत्यञ्चा जो निश्चय ही केवल हमारे ही कान के अन्त तक जाती है।

अपाङ्गभागावधि चापपूरणं सुदुष्करं तिष्ठतु विष्णुगोचरम्।
गुणं यदि प्रापयसीह जिह्मतां वलोपपन्नेषु ततस्त्वमग्रणीः ॥४२॥

निधाय बाणं धनुषीह पूरिते वधः स्वहस्तेन तवैष सत्क्रिया।
इतीरयीत्वा तनयस्य भूपतेर्मुमोच हस्ते सशरं शरासनम् ॥४३॥

ततः स शून्यामिव मुष्टिमानयन्नपाङ्गदेशं दशकण्ठसूदनः।
बलादविज्ञातविकर्षणश्रमश्चकर्ष गुञ्जद्गुणबन्धनं धनुः ॥४४॥

स तेन मुक्तः किलसायको दिवः पदं तपस्यद्वृषभस्य वाञ्छतः।
द्वितीयवर्णस्य निहन्तुरात्मनो विधाय नीशारमथ व्यतिष्ठत ॥४५॥

रिपोरजय्यस्य जयेन मानवैः सभाज्यमानो बहुमानमंत्रणैः।
मनोज्ञवासे पथि मैथिलीसखः सुखेन नित्वा कतिचिद्दिनानि सः ॥४६॥

व्यपावृतद्वारमुखेन सन्ततं बलेन भूम्ना विशता कृतध्वनिम्।
पुरीमुदन्वन्तमुदग्रनिस्वनं तनुं पिबन्तीमिव कुम्भजन्मनः ॥४७॥

४२. इसको नेत्र के किनारे तक खींच लेना नितान्त दुष्कर है। उसे विष्णु ही कर सकते हैं। अगर तुम इसकी प्रत्यञ्चा ही को झुका दो तो वीर पुरुषों के तुम अग्रणी समझे जाओगे।

४६. इस धनुष पर बाण चढ़ा कर जब तुम इसे पूरी तरह खींच लोगे, तब मेरे हाथों से तुम्हारा वध ही तुम्हारा सत्कार होगा। यह कह कर (परशुराम ने) बाण सहित धनुष को राजपुत्र (राम) के हाथ मे दे दिया।

४४. रावण के मारने वाले राम ने अपनी मुट्ठी से उसे आँख के कोने तक खींच कर, जैसे उनकी मुट्ठी खाली हो और धनुष के खींचने में उन्हे कोई प्रयास न मालूम पड़ता हो, *उस धनुष को, जिसकी प्रत्यञ्चा झनझना रही थी, जबर्दस्ती खींचा।*

४५. तब राम से छोड़ा हुआ वह बाण, तपस्या करने वालों में श्रेष्ठ, क्षत्रिय वर्ण राम के वध की चेष्टा करने वाले और स्वर्ग में जाने के इच्छुक, परशुराम के सामने व्यवधान होकर खड़ा हो गया। (अर्थात् उनके स्वर्ग जाने का मार्ग रोक दिया)।

४६. सीता के साथ, अजेय शत्रु (परशुराम) को जीत कर, जनता के अनेक मानपत्रों से अभिनन्दित, राम ने उस मनोज्ञ मार्ग में थोड़े दिन रह कर।

विशेष—श्लोक ४६ से ५१ तक 'कुलक' है। ५१वें श्लोक में 'तां (पुरीं) विवेश' के साथ प्रत्येक श्लोक का अन्वय होता है। इन छः श्लोकों में नगर प्रवेश का वर्णन है।

४७. उस नगरी में जिसके खुले हुए फाटकों के मार्ग से, कोलाहल करती हुई, बहुत बड़ी सेना, घुस रही थी और जो गरजते हुए समुद्र को पीते हुए अगस्त्य के शरीर के समान लगती थी।

नरेन्द्ररथ्योभयभागचारितप्रसारिकालागरुधूपवासिताम् ।
तताममन्तैरुपरत्नतोरणं सपङ्कजाष्टापदकुम्भमण्डलैः ॥४८॥

परिक्वणत्काञ्चनकिङ्किणीगुणैः सुगन्धिना गन्धवहेन ताडितैः ।
भ्रमत्पताकानिकरैरुदर्चिषो वितन्वतीमुष्णघृणेः करच्छिदाम् ॥४९॥

मधुव्रतव्रातविरावकिङ्किणीरुतेन रम्यं मणितोरणस्रजाम् ।
चयं दधानामनिलस्य रंहसा धुतं पताकानुकृतानि बिभ्रतः ॥५०॥

विवेश तामञ्जलिबद्धसंपदा मुहुर्मुखेन्दोरुदयेन सर्वतः ।
नरेन्द्रसूनुर्मुकुलानि कल्पयन् जनस्य हस्तारुणपङ्कजानि सः ॥५१॥

गुरूनपृष्ट्वैव कुमारमीक्षितुं जवेन वातायनमीयुरङ्गनाः ।
न ता नसत्यो न च मूढवृत्तयस्तथाहि वंशस्य रघोर्विनीतता ॥५२॥

रराज वातायनसन्ततिर्वृता विलोलनेत्रैर्वनितामुखाम्बुजैः ।
तता विनीलोत्पलपत्रसम्पदा सरोजिनी तिर्यगिव व्यवस्थिता ॥५३॥

४८. जिसमें राजा की सवारी के दोनों ओर फैले हुए कालागरु धूप से सुवासित थी और जहाँ मणि के बने हुए तोरणों के समीप, कमलों से भरे हुए, अनन्त सुवर्ण कलशों के समूह पंक्ति के पंक्ति रखे थे ।

४९. (जो नगरी) सुगन्धित वायु के थपेड़े से लहराती हुई, और जिस सोने की घटियों की लड़ियाँ खनखना रही थी ऐसी पताकाओं से तपते हुए सूर्य की रश्मियों को काट रही थी ।

५०. जिस नगरी में मणि के बने तोरण, फूल की मालाओं के लटकने के कारण बड़े शोभायमान थे, जिन पर किङ्किणी के समान भृङ्गों के मँडराने से वे बड़े मनोहारी लगते थे और जो तेज वायु के थपेड़ों से लहराने के कारण, पताका की शोभा का अनुकरण करते थे ।

५१. तब राजपुत्र नगर के भीतर गये । और सब ओर जनता ने तत्क्षण अञ्जलिबद्ध हो कर उन्हें प्रणाम किया । ऐसा लगता था जैसे जनता के कमल के समान हाथ उनके मुखचन्द्र के उदय होने से मुकुलित हो गये हों ।

५२. राजकुमार को देखने के लिये स्त्रियाँ अपने गुरुजनों से बिना पूछे ही झरोखे पर दौड़ गईं । ऐसी बात नहीं थी कि वे सती नहीं थीं और न यही था कि वे फूहड़ थीं । रघुकुल की शालीनता ही ऐसी थी ।

५३ झरोखों की पंक्ति जो स्त्रियों के कमल के समान मुखों से भरी थी, और जिनकी आँखें इधर से उधर बराबर घूम रही थीं ऐसी शोभायमान हुई जैसे सरसी में कमलों की एक आड़ी पथारी हो जिसमें बहुत सी नीलवर्ण की पत्तियाँ हों ।

दधौ द्युतिं जालगवाक्षसङ्गिनी नितम्बिनीनां चलदृष्टिसन्ततिः ।
ततेव पङ्केरुहनालजालके परिस्फुरन्ती शफरीपरम्परा ॥५४॥

पदं पुरन्ध्रयामविशुष्कयावकं समर्पयन्त्यामविलम्बिविक्रमम् ।
वभूव सोपानविमर्दसंभवः स्वराग एवांघ्रितलस्य यावकः ॥५५॥

कयाचिदालोकपथं मुखाकुलं समेत्य घर्मस्रुतपत्रलेखया ।
सखीकपोलाहितगण्डभागया कृतस्तदीयेऽपि मुखे विशेषकः ॥५६॥

प्रसाधनव्यापृतयाऽपि रामया प्रदेशिनीपर्वविकृष्टकर्णया ।
उपाययै वामकरस्थपत्रया रयेण वातायनजालमन्यया ॥५७॥

द्रुतप्रयाणश्लथकेशबन्धना सघर्मवारिस्रुति बिभ्रती मुखम् ।
श्रमातुरोरुद्वयमन्थराऽपरा ययौ सपत्न्या परिशङ्कनीयताम् ॥५८॥

नितान्तमेकीकृतगण्डभागयोर्मृशाल्पवातायनयातमन्ययोः ।
सुभासुरं कुण्डलमेकमेव तद् मुखद्वयं मण्डयति स्म रामयोः ॥५९॥

५४. सुन्दर नितम्ब वाली स्त्रियों की, खिड़की की जाली से लगी हुई चञ्चल आँखों की पंक्ति ऐसी लगती थी जैसे कमल नाल के जाल के पास इधर से उधर फुर्ती से फिरती हुई मछलियों की पाँत हो ।

५५. एक स्त्री जिसके पैर का महावर अभी नहीं सूखा था, जब थोड़ी दूर दौड़ी तो उसके निज का रंग सीढ़ियों पर रगड़ खाने के कारण, उसके पैर के तलुओं में महावर के समान हो गया ।

५६. जब एक स्त्री देखने के रास्ते से झरोखे पर पहुँची तो वहाँ बहुत से राम का मुख देखने के लिये आकुल थे । तो इसके (घुसमुस कर) देखने के प्रयास में उसके गालों पर की गई चित्रकारी पसीने के कारण उसकी सखी के कपोल पर लग गई ।

५७. एक दूसरी स्त्री जो अपने को सँवारने में व्यस्त थी अपने को तर्जनी से खींच कर, बाँयें हाथ में पत्री लिये (जिससे वह अपने को सँवार रही थी) बड़ी तेजी से झरोखे की जाली की ओर भागी ।

५८. एक स्त्री को जिसके बाल का जूड़ा दौड़ कर चलने के कारण ढीला पड़ गया था, मुँह पर पसीना बहने लगा था और जो जाँघों के थक जाने से धीरे-धीरे चल रही थी, देख कर उसकी सौत शंका करने लगी ।

५९. एक छोटे से झरोखे से कपोलों को सटा कर देखने के कारण एक ही चमकते हुए कुण्डल ने दोनों स्त्रियों के मुखों को सजा दिया ।

विधाय काचित्प्रथमं तु लज्जया प्रियोपभुक्ताधरमर्धलक्षितम् ।
प्रयातिदूरं नृपतौ दिदृक्षया चकार वातायनबाह्यमाननम् ॥६०॥

अतिष्ठदेका कुचयुग्मसंपदा निरुध्य वातायनमुन्नतस्तनी ।
सखीजनो यत्कृशमध्यभागतः पताकिनीमन्तरमाप वीक्षितुम् ॥६१॥

निधाय काचित्तनयं तनूदरी प्रसह्य वातायनदेहलीतले ।
अकारयत्पङ्कजकोशकोमलं महीभुजे बालकमञ्जलिं बलात् ॥६२॥

नृपः सुमित्रातनयो वधूरिति प्रियाजने निर्दिशति स्वयं करैः ।
तलप्रभापाटलभागभागिनो नखांशुजाला अपि चेरुरम्बरे ॥६३॥

अशक्नुवन् वर्धयितुं नृपात्मजं वधूजनोऽधृष्टतया जयेन तम् ।
पदं विधत्स्वाविधवाजनोचिते पथीति पत्न्यै गिरिमाशिषं जगौ ॥६४॥

नरेन्द्रसेना विविशुः समुद्रगाः विवृद्धतोया इव यत्समन्ततः ।
महार्णवस्येव न तस्य तत्कृतो बभूव पूरश्च न चातिरिक्तता ॥६५॥

६०. एक स्त्री पहिले तो अपने मुख को जिसके ओंठ को उसके प्रेमी ने काट लिया था लज्जा से आधा छिपाये थी, पर नृप को दूर जाते देख कर उसने अपने सम्पूर्ण मुख को झरोखे के बाहर कर दिया।

६१. एक स्त्री अपने दोनों उठे हुए स्तनों से झरोखे को छेक कर बैठी थी पर उसकी सखी ने उन दोनों स्तनो के बीच के पतले अन्तर से सेना देखने का मार्ग निकाल लिया।

६२. एक पतले उदर वाली स्त्री ने अपने छोटे बच्चे को विशाल झरोखे की देहरी पर बिठा दिया और राजा को प्रणाम करने के लिये उसके कमल के गर्भ के समान कोमल हाथों की जबरदस्ती अंजुली बँधा दी।

६३. 'ये राजा है, ये सुमित्रा के पुत्र हैं, यह बहू हैं,' जब प्रिय सखियां अपने हाथों से दिखा रही थीं तो उनके नखों से निकली हुई प्रभा, उनकी हथेलियों की लाल ज्योति से मिल कर आकाश में फिरने लगी।

६४. विनयशीलता के कारण, राजकुमार की जयजयकार करने में असमर्थ, स्त्रियों ने उनकी पत्नी को यह कह कर आशीर्वाद दिया कि तुम सौभाग्यवती स्त्रियों के लिये (निर्दिष्ट) उचित मार्ग पर चलो।

६५. राजा की सेना सब ओर से, नगर के भीतर घुसी, जैसे बाढ़ की नदियां समुद्र में जाती है। उससे समुद्र की भांति, वह नगर न तो भर गया और न वह उबल ही उठा।

द्विधागतं द्वारमुपेत्य तद्बलं नृपाङ्गनस्योभयभागसंश्रितम्।
निवध्यमानाञ्जलि शासिता भुवो दृशानुगृह्णन् स विवेश मन्दिरम् ॥६६॥

देशं युधाजिति जितं तनुजे तपोऽर्थी
विन्यस्य केकयपतिर्विपिनं विविक्षुः।
दूतेन तेन तनयं दुहितुर्दिदृक्षुः
कालस्य कस्यचिदथेन्द्रसखं ययाचे ॥ ६७ ॥

अथ स युधाजिति स्वविषयं सति नीतवति
प्रथितगुणे गुणप्रचयलाभरतं भरतम्।
इतरसुताहितप्रियशताहततद्विरह–
प्रभवशुचोऽनयन्नयशुचिर्दिवसान् नृपतिः ॥ ६८ ॥

इति नवमः सर्गः।

६६. पृथ्वी के शासन करने वाले राजा तब राजमहल के प्राङ्गण के द्वार पर पहुँच कर, जहाँ पर दो भागों में विभक्त सेना को जो उनके दोनों ओर करबद्ध खडी थी, अपनी दृष्टि से अनुगृहित करते हुए राजमहल में घुसे।

६७. केकय देश के अधिपति (अश्वपति) ने, (बाहुबल से) जीते हुए देश को अपने पुत्र युधाजित को सौंप कर तप करने के लिये वन में जाने की इच्छा प्रकट की और अपने पुत्र (युधाजित) को अपना दूत बना कर, इन्द्र के सखा (दशरथ) के पास अपने भाञ्जे को जिसे उन्होंने बहुत दिनों से नहीं देखा था, लिवा लाने के लिये भेजा।

६८ जब यशस्वी युधाजित, सर्वगुण सम्पन्न, भरत को अपने देश ले गये तब, अकलुषित नीति वाले, राजा दशरथ के, भरत के विरह से जनित शोक को, उनके अन्य पुत्रों ने, उनकी प्रसन्नता के लिये, सैकड़ों प्रिय बातें कर दूर कर दिया, तब वे (दशरथ सुख पूर्वक) दिन व्यतीत करने लगे।

नवाँ सर्ग समाप्त।

दशमः सर्गः

ततो नयेन ग्रयतो राज्यं राजीवचक्षुषः ।
तस्य शक्रसमानस्य समानामयुतं ययौ ॥ १ ॥

अथालक्ष्यत तद्देहे काठिन्यरहितत्वचि ।
पलितं विस्रसावल्लीपुष्पहास इव क्वचित् ॥ २ ॥

पलितच्छद्मना दोषा सर्वकालसमुन्नते ।
जरसा शिरसि स्पृष्टे न विषेहे महारथः ॥ ३ ॥

आरोप्यान्यतरेद्युः स्वमङ्कं नाथो भुवो बली ।
समासीनः समज्यायां ज्यायांसं सुतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

मामियं प्राणनिर्याणवैजयन्ती पुरःसरी ।
रक्ताक्षवाहनादेशदूती संसेवते जरा ॥ ५ ॥

१. तब इन्द्र के समान, कमल नयन, उनको (महाराज दशरथ को) नीति कुशलता से राज्य करते, हजारों वर्ष बीत गये ।

विशेष—पृथिवीं शासतस्य पाकशासन तेजसः ।
किञ्चिदूनमनूनर्द्धे शरदामयुतं ययौ ।—रघुवंश, १०–१, कालिदास ।

२. तब (कालक्रमानुसार) उनके शरीर के ढीले चमड़े पर पुरानी लता के पुष्पहास के समान कहीं कहीं पर सफेद बाल दिखाई पड़ने लगे ।

३. वह महारथी जिसका सर सब काल में उन्नत रहता था, उसे, बुढ़ापा, सफेद बाल के बहाने छुए यह सह्य नहीं था ।

४. एक दिन जनसभा में, उस कर्तव्यनिष्ठ पृथ्वी के स्वामी ने अपने बड़े लड़के (राम) को अपनी गोद में बिठा कर कहा—

५. यह वृद्धावस्था, जो प्राण के ले जाने की पताका की अग्रणी है और जो यमराज की, जिसके वाहन (भैंसे) की लाल-लाल आँखें हैं, उसकी आज्ञा का पालन करने की दूती है। मेरे पास आई है ।

जरसा तात नोङ्गान्नि स्पृहा कामेषु निर्विदा ।
शैथिल्यमुपनीतानि तुल्यमेव शनैः शनैः ॥ ६ ॥

कालेन शिरसि न्यस्तैः श्वेतकेशशिताङ्कुशैः ।
निवर्तन्ते हि कामेभ्यो भद्रा राघवदन्तिनः ॥ ७ ॥

उभे वक्षसि वंश्यानां तिष्ठतो रक्त कर्कशे ।
यौवने वनिता वल्कसन्ततिर्वार्धके च नः ॥ ८ ॥

न जिष्णुः कृतशस्त्रो यो यश्चाढयो यज्ञनिस्पृहः ।
कामी यश्च जरन्नेते क्षत्रवंशेषु कत्रयः ॥ ९ ॥

पादशेषेऽपि वैराग्यं न यस्य पुरुषायुषे ।
कीदृशी लक्ष्यते तस्य जनस्य हृदयालुता ॥१०॥

नातिविस्तसया भिन्ने देहे ना तप्यते तपः ।
इतरत्र चिरं जीर्णे तपस्यायां हृता गतिः ॥११॥

९. हे पुत्र ! वृद्धावस्था के कारण हमारे अङ्गों मे, कामलिप्सा एवं उसके प्रति (आसक्त होने से) उदासीनता, दोनो ने मिल कर शिथिलता ला दी है।

७. समय आने पर रघुकुल के हाथी (राजे) सर पर सफेद बालों के तीक्ष्ण अंकुश (के आघात) से सांसारिक सुख से मुंह मोड़ लेते हैं।

८. हमारे वंशजों के कड़े वक्ष पर केवल दो ही चीजें रहती हैं । युवावस्था मे पत्नी और बुढ़ापे मे वल्कल के वस्त्रों की परम्परा ।

९. अस्त्रों के रहते जिसे विजय करने की अभिलाषा न हो, लक्ष्मी सम्पन्न होते हुए जिसे यज्ञ करने की इच्छा न हो, वृद्धावस्था मे जिसमें कामवासना हो, ये तीनों क्षत्रिय के लिये कुत्सित कहे गये हैं ।

१०. मनुष्य की पूरी आयु के चौथे भाग मे जिसे वैराग्य नहीं होता उसमें किस प्रकार की हृदयालुता होती होगी ।

११. मनुष्य तभी तक तपस्या कर सकता है जब तक उसका शरीर बहुत बुढ़ापे से जर्जर नहीं हो जाता । इसके प्रतिकूल शरीर के बहुत काल तक जीर्ण रहने से तपस्या का मार्ग बन्द हो जाता है ।

मन्दशक्तीन्द्रियश्च्योतल्लालाविच्छुरिताधरः ।
अस्फुटस्मृतिचेष्टाभिबालव्रतमिवाचरन् ॥१२॥

मृणालवलयच्छेदतन्तुजालसमत्विषः ।
यौवनोद्दाहभस्मेव दधानः पलितच्छटाः ॥१३॥

जीविते जीर्णवयसः प्रत्याशा मे मुमूर्षतः ।
तिर्यग्विकम्पितैर्मूर्ध्नो नास्तीति प्रथयन्निव ॥१४॥

दन्तकुन्तशतैरुग्रैर्मृत्योः संकटमाननम् ।
प्रवेष्टुमिव बिभ्राणः कायसंकोचखर्वताम् ॥१५॥

बिभ्रदातङ्कनिर्मांसव्यक्तलक्ष्यसमुद्गमाः ।
वीचीरिव जरानद्याः पर्शुकास्थिपरम्पराः ॥१६॥

निर्दन्तत्वादसंस्कारं मोहन्मुष्टिन्वयो यथा ।
मियोऽशंसितमस्पष्टं वदन्नम्बूकृतं वचः ॥१७॥

१२. जिसकी इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ गई है, जिसके अधर बहते हुए लार से लिप्त रहते हैं, जो क्षीण स्मृति-शक्ति के कारण बालकों की तरह आचरण करता है।

विशेष—श्लोक १२ से १९ तक 'कुलक' है। १९वें श्लोक के 'तपः कीदृक् विधास्यति' के साथ प्रत्येक श्लोक का अन्वय होगा। इन आठ श्लोकों में बुढ़ापे का वर्णन है।
'कुलक' की व्याख्या—२—२।

१३. जिसके उलझे हुए कमल नाल के टुकड़ों की जाल की तरह चमकती हुई सफेद बालों की लटें,यौवन जल जाने पर (बची हुई) राख की तरह लगती हैं।

१४. "बुढ़ापे से जीर्ण हो जाने के कारण मेरे मरने का समय आ गया है, मेरे अधिक जीने की कोई आशा नहीं है" जो यह सब, इधर उधर सर हिलाने से जैसे घोषणा कर रहा हो।

१५. बरछी के समान सैकड़ों, बड़े-बड़े तीखे दाँतों वाले यमराज के मुँह में, जैसे घुसने के लिये, जो शरीर झुक जाने के कारण नाटा हो गया है।

१६. जिसकी बीमारी से, मांस रहित शरीर हो जाने के कारण उभरी हुई पसलियों की पंक्ति, वृद्धावस्था रूपी नदी की लहरियों के समान दिखलाई पड़ती है।

१७. जो दाँत न रह जाने के कारण, अशुद्ध, मोह से एक दूसरे में लिपटे हुए, अस्पष्ट और लार से युक्त, बिना कुछ पूछे हुए शब्द बोलता रहता है।

भिन्नभ्रुवमुदस्ताश्रां किञ्चित्कम्पितमस्तकाम् ।
नम्रो गद्गदितालापामनुनेतुं जरामिव ॥१८॥

वार्धक्ये धर्मतो मूढः स्वदेहवहनेऽपि सः ।
विधित्सन्नप्यशक्तिष्ठस्तपः कीदृग्विधास्यति ॥१६॥

यतो यातुस्तपस्यायामरण्ये वसति त्वया ।
मा जन्यश्रुप्रवर्षेण प्रत्यूहो मे विरागिणः ॥२०॥

अनुशिष्टिः प्रकृत्यैव भद्रे भवति कीदृशी ।
मनसः प्रीतये स्नेहकातरस्य निगद्यते ॥२१॥

औदासीन्यं यतः शत्रुरुदासीनश्च मित्रताम् ।
मित्रं भक्तौ दृढत्वं च याति तद्वक्तुमर्हसि ॥२२॥

यो येन वाञ्छति ख्याति लोकसंग्रहकामिना ।
न तस्य निन्दनीयं तच्छत्रुतामप्यनिच्छता ॥२३॥

वृत्तिः शुभकरी साम्नो नये स्वपररञ्जनी ।
अयःशूलिकतेत्याहुर्न तां निष्णातवुद्धयः ॥२४॥

१८. जो भौहों को संकुचित कर, आँखों से पानी बहाता हुआ, थोड़ा काँपते हुए मस्तक से, नत हो कर जैसे वृद्धावस्था से अनुनय कर रहा हो ।

१६. वृद्धावस्था में मनुष्य स्वभावतः मूढ हो जाता है । अपना शरीर ही उठाना दूभर हो जाता है । इच्छा होते हुए भी, शक्ति न होने के कारण वह तप कैसे कर सकेगा ।

२०. इसलिये तुम आँसू बहा कर, मुझ विरागी के, तपस्या करने के हेतु वन में रहने के लिये जाने में बाधक न हो ।

२१. तुम्हारे ऐसे साधु प्रकृति व्यक्ति को हम क्या उपदेश दें ? केवल तुम्हारे स्नेह से कातर हो कर अपने मन की शान्ति के लिये कहते हैं ।

२२. जिससे शत्रु उदासीन एवं तटस्थ हो जाता, उदासीन और तटस्थ मित्र हो जाता है और मित्र की भक्ति दृढ हो जाती है, उसे तो बतलाना उचित ही होगा ।

२३. जो मनुष्य सब लोगों को प्रसन्न करना चाहता है और उनको शत्रु नहीं बनाना चाहता, उसे चाहिये कि जिस से कोई मनुष्य ख्याति चाहता है उसकी निन्दा न करे ।

२४. राजनीति में, अपने और दूसरे, दोनों को प्रसन्न करने वाले व्यवहार को जिसे साम कहते हैं, कल्याणकारी होना है । बुद्धिमान् नीतिज्ञ उसे लोहे के शूल की नीति नहीं कहते ।

जिंघासुभिरपि प्राज्ञैः प्रयोक्तुं साम साम्प्रतम् ।
रञ्जयन्ति मृगान् गीतैर्विभित्सन्तो मृगाविधः ॥२५॥

साम शाठ्यं जनो वेत्ति दानादत्यन्तवर्जितम् ।
तत् सामौशनसं साधु युक्तं दानस्य मात्रया ॥२६॥

मा दा रहितसम्मानं त्यक्त्वा सत्कारसामनी ।
वित्तं विश्राणितं नीतौ कृतिनो दूषितं विदुः ॥२७॥

शत्रुगृह्येण दुर्धर्षं शत्रुं नेता निहन्ति हि ।
घनेनेव स्फुलिङ्गार्चिःप्रावृतं पिण्डमायसम् ॥२८॥

उपजापहृतस्वामिस्नेहसीम्नि पराश्रयम् ।
मौले वाञ्छति मेदिन्याः पत्युः पातो न संशयः ॥२९॥

इतरोपायदुःसाध्ये चण्डदण्डो महीपतिः ।
अदुष्टायत्यसौ नीतेरश्नाति विपुलं फलम् ॥३०॥

२५. मारने की इच्छा रखते हुए भी, कुशल नीतिज्ञ साम का प्रयोग करता है। मृगों को मारने की इच्छा करने वाला शिकारी मृगों को गीत वाद्य से रिझा कर फँसाता है।

२६. लोगों को दान देकर शान्त करना अत्यन्त वर्जित एवं शठता पूर्ण कहा गया है। शुक्राचार्य का कहना है कि वह साम (शान्ति स्थापित करने की नीति) जिसमें थोड़ा सा दान दिया जाय, अच्छा है।

२७. असम्मान के साथ दान कभी न देना। राजनीति में नीतिज्ञों ने सत्कार एवं साम को छोड़ कर, दान देना बुरा कहा है।

२८. नेतृत्व करने वाला राजा, अपने शत्रु को, उसी के, ऊपर से मिले हुए, मित्रों के द्वारा मारता है। जैसे घन (भारी हथौड़ा) चिनगारियों से घिरे हुए, लोहे के टुकड़े को पीटता है।

२९. जब राजा के अत्यन्त स्नेहपात्र मंत्री के कानों में (विरुद्ध) बातें फूंक कर ऐसा कर देता है कि उसको उसका (शत्रु का) आश्रय लेना पड़े (अर्थात् उसे अपनी ओर मिला लेता है) तो राजा का पतन होता है, इसमें संशय नहीं है।

३०. जब सभी राजनीतिक साधन असफल हो जाते हैं तब राजा प्रचण्ड दण्डनीति का व्यवहार करता है और इस नीति का अनुसरण कर महान् फल का भागी होता है।

अव्याहृति न शक्या गौर्विना दण्डेन रक्षितुम्।
इति प्रत्येति मुग्धोऽपि वल्लवः किमु राजकम् ॥३१॥

क्षोणीपतिः पतत्याशु जराक्रान्त इव ध्रुवम्।
त्यक्तदण्डः पदं वाञ्छन्नगृहीतजगत्करः ॥३२॥

इत्थं युक्तिमुपायानां कुर्वाणस्य चतुष्टयीम्।
व्रजतीन्दुप्रभागौरं परैरक्षय्यतां यशः ॥३३॥

शूरं पुरुषसारज्ञं नीतौ पटुमलम्पटम्।
सम्यक् संरक्षिताः कोशैर्वर्द्धयन्ति नृपं प्रजाः ॥३४॥

नोच्चैः पदं लम्भनीयो गुण्योऽप्यन्वयवर्जितः।
रत्नाढ्यमपि कुर्वीतमूर्ध्निकः पादमण्डनम् ॥३५॥

मूर्खो वर्ज्यः कुलीनोऽपि मातङ्ग इव भूभुजा।
गुणैः कैरप्यविख्यातो वंशेनैव विभावितः ॥३६॥

३१. जब एक मूर्ख ग्वाला तक यह जानता है कि बिना डंडे के गौम्रो की निर्बाध रक्षा नही हो सकती तब कितनी अधिक यह (दंडनीति) राजाओं पर लागू होती है।

३२. वह पृथ्वीपति तो दण्डनीति का आश्रय नही लेता, (अर्थात् सेना को हटा देता है) और लोगों पर कर नही लगाता, वह अपने श्रेष्ठ पद की इच्छा रखते हुए भी, निश्चय ही, बुढ़ापे से जर्जर मनुष्य की भाँति तुरन्त गिर जाता है।

३३. जो राजा इस तरह से इन चारों प्रकार की नीतियों का व्यवहार करता है उसके चांदनी के समान उज्ज्वल यश का शत्रु नाश नहीं कर सकते ।

३४. अच्छी तरह से रक्षित प्रजा, वीर पुरुष की शक्ति जानने वाले, राजनीति में चतुर और शुद्ध चरित्र राजा के कोश की अभिवृद्धि करती है।

३५. चाहे मनुष्य गुणी भी हो, पर यदि वह शुद्ध वंश का नही है तो उसे कोई ऊँचा पद न देना चाहिये। कौन ऐसा (मूर्ख) होगा जो पैर के गहने को चाहे वह रत्नो से भरा हुआ क्यों न हो, सर पर चढ़ावेगा।

३६. ऐसे मूर्ख को, जिसमे और कोई गुण नहीं है, सिवाय इसके कि वह अपने वंश से विख्यात है, कुलीन होते हुए भी राजा को चाहिए कि चाण्डाल की तरह उसका परित्याग कर दे।

तद्युक्तमुपधाशुद्धमन्वयेन गुणेन च ।
साचिव्यं लम्भयन् मौलं न प्रमाद्यति भूपतिः ॥३७॥

यस्मिन्कृत्यानुरोधेन सौहृदं वितनोति यः ।
स तं त्यजति कृत्यान्ते तीर्णतोय इव प्लवम् ॥३८॥

यौ तु निष्कारणामुक्तस्नेहपाशौ सुहृत्तरौ ।
मृत्युनैव तयोर्भेदो देहजीवितयोरिव ॥३९॥

दण्डद्रविणदुर्गैकसङ्गी रक्षति भूपतिः ।
आत्मानमेव सततं किमु रक्षत्यसौ जगत् ॥४०॥

इति प्रकृतिवर्गादिनिर्णयेषु नयाश्रयः ।
क्षपितान्तर्बहिः शत्रुश्शाधि साधु वसुन्धराम् ॥४१॥

इत्थंवादिनि राजेन्द्रे रामो मौनमधिश्रितः ।
ववर्ष हृदयं बाष्पैः शोकेन हृदयाविधा ॥४२॥

३७. शुद्ध वंश वाला, गुणों से युक्त, उपधा से परिशुद्ध (उपधा=ईमानदारी, राजभक्ति, निस्वार्थता, इन्द्रियनिग्रह, साहस) ऐसे श्रेष्ठ मंत्री को पाकर राजा अपने कर्तव्य में प्रमाद नहीं करता ।

३८. जो (राजा) किसी कार्य साधन करने के लिये किसी से मित्रता करता है और कार्य हो जाने पर उसे छोड़ देता है वह उस मनुष्य के समान है जो नदी पार कर लेने पर नौका छोड़ देता है ।

३९. परन्तु बिना किसी कारण के जिन्होंने मित्रता का बन्धन नहीं तोड़ा है, ऐसे दो श्रेष्ठ सुहृदों की मैत्री, शरीर और प्राण के समान केवल मृत्यु से छूटती है ।

४०. वह राजा जिसके पास सेना, धन और दुर्ग हैं वह निरन्तर अपनी (अर्थात् अपने राज्य की) रक्षा कर सकता है ।

४१. इस प्रकार अपनी प्रजा का वर्गीकरण का निश्चय कर, राजनीति का आश्रय लेकर अपने शरीर के भीतर और बाहर के शत्रुओं का दमन कर पृथ्वी का धर्मपूर्वक शासन करो ।

४२. जब राजाओं के अग्रणी (महाराज दशरथ) यह कह चुके तो राम ने, जो तब तक चुपचाप थे, तीव्र शोक से सन्तप्त अपने हृदय के उद्गार को आँसुओं से सींच कर व्यक्त किया ।

तततो वज्रासने भद्रं स निधाय निधिः श्रियः ।
निर्भरीकृतसंभारः प्राभिषिक्तो महीपतिः ॥४३॥

रुरुधे पृष्ठसंविष्टग्रन्थिमन्थरयातया ।
स्मारयित्वा वरौ वीरं राज्यं मन्थरया तया ॥४४॥

आदिदेश ततो वस्तुं वनेषु वनजेक्षणम् ।
चतुर्दश दशग्रीवशत्रुमिन्द्रसमः समाः ॥४५॥

अनिन्द्यजानिनाऽऽरूढो निर्जगाम रथः पुरः ।
कृतप्रस्थानसौमित्रिः स्फुरत्केतुरथो पुरः ॥४६॥

अश्रुभिर्हृदयं सीता निजमेव न केवलम् ।
चकारार्द्रं जनस्यापि प्रेक्षितस्य वनाध्वनि ॥४७॥

जगन्नेत्राभिरामस्य रामस्य रहितागसः ।
शक्तस्य त्यागिनं देवं घृणयेवासवो जहुः ॥४८॥

४३-४४. तब उस लक्ष्मी के भण्डार (महाराज दशरथ) ने बड़े ठाट-बाट से आयोजन कर राज्याभिषेक के लिये अपने सुन्दर पुत्र (राम) को सिंहासन पर बैठाया। उस समय, पीठ पर कूबड़ के कारण मंथर गति से चलने वाली मंथरा ने (केकयी को दिये हुए) दो वरों का उस वीर को स्मरण दिला कर राज्यभिषेक को रोक दिया।

४५. लाचार हो कर, इन्द्र के समान पराक्रमी (महाराज दशरथ) ने कमल के समान नेत्र वाले, रावण के शत्रु, अपने पुत्र को वन में चौदह वर्ष रहने का आदेश दिया।

४६. अपनी निष्कलुष पत्नी (सीता) के साथ, राम, फहराती हुई ध्वजा से युक्त रथ पर जिसमें सामने सुमित्रानन्दन (लक्ष्मण) बैठे थे, चढ़े और रथ सामने से आगे बढ़ा।

४७. सीता ने अश्रुओं से केवल अपना ही हृदय नहीं सींचा, बल्कि उन सब लोगों का भी जिन्होंने उन्हें वन के मार्ग में जाते हुए देखा।

४८. संसार के नेत्रों को सुख देने वाले, मधुरभाषी, निरपराध, राम का त्याग करने वाले महाराज (दशरथ) को उनके प्राण वायु ने जैसे उन पर तरस खाकर छोड़ दिया।

न्यवर्तत परित्यज्य क्षत्ताथ क्षत्रियत्रयम् ।
ऊढाश्रु वलितग्रीवं चिरं तेनैव वीक्षितः ॥४९॥

द्वित्राण्येव रथं त्यक्त्वा पदान्याधाय निस्सहा ।
येयमन्यत्कियद्दूरमिति पप्रच्छ मैथिली ॥५०॥

रामहस्तस्थशाखाग्रकल्पितातपवारणम् ।
प्रस्थानमभवत्तस्यास्तदग्रेसरलक्ष्मणम् ॥५१॥

इक्षुशाकटशालेयक्षेत्रानुत्तरकोशलान् ।
ययुर्भागीरथीतीरं पश्यन्तः सोत्पलाम्भसः ॥५२॥

अथानासाद्य कालिन्दीमुल्लङ्घ्य सरितं दिवः ।
भारद्वाजाश्रमं पुण्यं चित्रकूटस्य चाध्वनः ॥५४॥

चिह्नं नदनदीदेशैरुक्त्वा वृक्षक्षमाधरैः ।
राजन्यभोगिने याते राघवोऽपि गुहे गृहम् ॥५४॥

सपत्न्यौ सरितां पत्युः सुमित्रात्मजधीवरैः ।
चित्रकूटमकूटज्ञः प्रीतः प्रोत्तारितो ययौ ॥५५॥

४९. तब सारथी ने उन तीनों क्षत्रियों को रथ पर से उतार दिया । वे तीनों आँसू बहाते हुए पीछे की ओर गर्दन कर (जाते हुए रथ को) देखते रहे और वह लौट गया ।

५०. सीता रथ को छोड़ कर दो ही तीन पग चली थी कि अशक्त होने के कारण उन्होंने पूछा कि अब और कितनी दूर चलना है ?

५१. उसके (सीता के) आगे लक्ष्मण चल रहे थे । और उसे (सीता को) धूप से बचाने के लिये, शाखाओं की फुनगियों से बनाये हुए छाते को लगाये पीछे राम चल रहे थे । इस प्रकार सीता चलीं ।

५२. तब वे कमलों से भरे तड़ाग से सुशोभित, ईख और शालि चावल के खेतों से युक्त उत्तर कोसल को देखते हुए भागीरथी के तट पर आये ।

५३. बिना यमुना की ओर गये सुर सरिता (गङ्गा) को पार कर,पुनीत भारद्वाज आश्रम को देखते हुए, जब गुह उन्हें, नद और नदियों के प्रदेशों एवं वृक्षों और पहाड़ों के चिह्नों से चित्रकूट का मार्ग, राज्य भोगने के योग्य, राम को बता कर घर चला गया और जब मल्लाहों के सहित लक्ष्मण ने नदियों के पति (समुद्र) की दो पत्नियों (नदियों) को पार करा दिया तो सत्य के जानने वाले राम भी प्रसन्न हो कर चित्रकूट को गये ।

विशेष—श्लोक ५३ से ५५ तक 'विशेषक' है । विशेषक="त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्"

ततः सीतामुखाम्भोजभ्रमरत्वे कृतस्पृहम् ।
नष्टैकदृष्टिमस्त्रेण वलिपुष्टं चकार सः ॥५६॥

ततः प्रतीक संघाटो वीरः केकयवंशयजः ।
विभ्रच्छोकद्विगुणितं श्रमं रामाश्रमं ययौ ॥५७॥

राजघो निर्घृणः कश्चित् संप्राप्त इति साधवे ।
कथ्यतामिति तद्वाक्यं द्वारि शुश्राव राघवः ॥५८॥

अनुज्ञातोऽनुजस्तेन पर्णशालामथाविशत् ।
द्वारबन्धातिरिक्तेन किञ्चित्तिर्यक्कृतोरसा ॥५९॥

भरतः शोकसन्तप्तो राममादाय पादयोः ।
आर्येत्युक्त्वा सकृद्दीनः पुनर्नोवाच किञ्चन ॥६०॥

ततः श्रुत्वा गुरोरन्तं स दुःखेन हृदिस्पृशा ।
साभिषेकमिवाश्रेण चक्रे कर्मौर्ध्वदेहिकम् ॥६१॥

५६. तब उन्होंने (राम ने) सीता के कमल के समान मुख पर भ्रमर के समान लुब्ध कौए की आँख वाण से फोड़ डाली ।

५७. तब ब्रह्मर्षियों और मंत्रियों को साथ लेकर केकय वंश के वीर (भरत) जिनका श्रम, शोक के कारण दुगना हो गया था, राम के आश्रम में आये ।

५८. तब राम ने किसी के कहे गये, ये वाक्य सुने "जाकर उन साधु (राम) से सूचित कर दो कि राजा का मारने वाला एक नृशंस व्यक्ति आपके दरवाज़े पर आया है ।"

५९. तब उनसे अनुमति पाकर राम के छोटे भाई (भरत) अपना वक्ष दरवाजे से अधिक चौड़ा होने के कारण, तनिक तिरछे होकर कुटी में घुसे ।

६०. शोक से व्यथित भरत ने, राम के चरणों को पकड़ कर केवल एक बार 'आर्य' कहा और कातर होने के कारण और कुछ न बोल सके ।

विशेष—दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।
उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन ॥
—अयोध्याकाण्ड, ९९—३९, वाल्मीकि ।

६१. तब पिता की मृत्यु का समाचार सुन कर राम ने हृदय विदारक शोक से आँसू बहा कर जैसे उनकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी हो ।

शपमानामथ स्वस्मै कैकेयीं भूतिनिस्पृहाम् ।
गर्हन्तं भरतं वक्तुं रामस्तत्र प्रचक्रमे ॥६२॥

न स्मरामि गुरोराज्ञां ज्ञात्वा जातु विलङ्घिताम् ।
न सद्क्षं हि नो हन्तुं तातस्य समयं यतः ॥६३॥

समयस्य गुरोरिन्द्रलोकस्थस्य विलङ्घने ।
बुद्धिश्च निर्विशङ्कैवं पुनर्मा जनि तावकी ॥६४॥

पूजनीया च ते देवी पत्युः सत्यानुपालिनी ।
दूषयिष्यति पूज्येषु पूजावैमुख्यमायतिम् ॥६५॥

स्वयं कृतेन दोषेण येन यो लज्जते गुरुः ।
तेन तत्सन्निधौ तद्वानन्योऽपि न च निन्द्यताम् ॥६६॥

इति व्याहृत्य नम्राय ददौ दीनाय पादुके ।
घर्मे मर्माविधि मरौ वारि वारीप्यते यथा ॥६७॥

६२. (निराश होने कारण) अपने अभ्युदय के प्रति कोई इच्छा न होने से जो स्वयं अपने को कोस रही थी, ऐसी कैकेयी को भला-बुरा कहते हुए भरत से राम ने कहना आरम्भ किया—

६३. मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने कभी पिता की आज्ञा जान-बूझ कर उसका उल्लंघन किया हो। यह किसी प्रकार उचित नहीं है कि पिता के दिये हुए वचन की अवहेलना की जाय।

६४. इन्द्रलोक में रहने (अर्थात् मरे हुए) पिता के दिये हुये वचन को निःशंक हो कर तोड़ने का ख्याल अब कदापि न करना चाहिए।

विशेष—पिता तो मर गये, अब उनके वचन को तोड़ने में कोई हानि नहीं है ऐसा न सोचना चाहिए, यह भाव है।

६५. अपने पति के सत्य का पालन करने वाली (कैकेयी) तुम्हारी श्रद्धा का पात्र है। जो पूजनीय है उसकी पूजा से मुंह फेरने मे अमङ्गल होगा।

विशेष—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्य पूज्य व्यतिक्रमः'—रघुवंश—१—६९, कालिदास।

६६. जब स्वयं किसी गुरुजन को अपने किये हुए काम से लज्जा होती है तो उसके सामने वैसा ही दोषयुक्त काम करने वाले किसी अन्य पुरुष की भी निन्दा न करनी चाहिये।

६७. इतना कह कर उन्होंने अपने कातर नतमस्तक भाई को अपनी दोनों खड़ाऊं देदी जैसे मरुभूमि की मर्मभेदी धूप में पानी मांगने वाले को कोई पानी दे दे।

द्विधाकारमिव ज्यायान् भरतं हृदयं चिरम् ।
दर्शयन्तं परिष्वङ्गप्राप्तसान्त्वं व्यसर्जयत् ॥६८॥

ततस्तं त्यज्यता शैलं विराधो रावणारिणा ।
दृष्टस्तनूनपादर्चिर्बभ्रुः पञ्चवटीपथे ॥६९॥

हरन्तमथ वैदेहीं विनिहत्य निशाचरम् ।
भविष्यदिव संक्षिप्य कथाया वस्त्वदर्शयत् ॥७०॥

पञ्चवट्याश्रमे रम्ये रङ्क्तुसारङ्गशावकैः ।
वृतेऽथ ववृते तस्य वासो वासववर्चसः ॥७१॥

अथ रामं वृषस्यन्ती प्रपेदे नैकसीसुता ।
इव चिन्ता दरिद्रस्य स्थूललक्षं नरेश्वरम् ॥७२॥

चकर्त नासिकां क्रुद्धः सीताविद्रवणादथ ।
लक्ष्मणस्तन्मुखाम्भोज कर्णिकां कृपया समम् ॥७३॥

आतृद्वये तदाहूते क्षुरप्रप्रकरं बलम् ।
शस्त्रैर्वर्षयति क्षिप्रमपावरिष्ट राघवौ ॥७४॥

६८. तब बड़े भाई (राम) ने, भरत को आलिङ्गन कर उनके बड़ी देर से द्विधा में पड़े हुए मन को शान्ति देते हुए उन्हें विदा कर दिया।

६९. जब वे (राम) उस पर्वत (प्रस्रवण) को छोड़ कर आगे बढ़े तो रावण के शत्रु (राम) ने पञ्चवटी के रास्ते में अग्नि की ज्वाला के समान शरीरधारी विराध नामक (राक्षस) को देखा।

७०. तब उन्होंने उस निशाचर को जो वैदेही को लिये जा रहा था, मार कर, आगे होने वाली घटना को संक्षेप में दिखला दिया।

७१. तब वे (राम) जो इन्द्र के समान पराक्रमी थे, पञ्चवटी के एक रमणीक आश्रम में रहने लगे, जो चीतल के द्रुतगामी बच्चों से भरा था।

७२. जिस प्रकार एक दरिद्र की चिन्ता (अर्थचिन्ता) दानी राजा के पास जाती है उसी प्रकार काम की भूखी, नैकसी की पुत्री, (शूर्पणखा) राम के पास गई।

७३. (उसे देख कर) सीता के भयभीत हो जाने से, उस पर तरस खाकर लक्ष्मण ने उसकी नाक को जो उसके कमल के समान मुख पर छिलके के समान थी, काट डाला।

७४. उसके (शूर्पणखा के) गोहार पर आये हुए उसके दोनों भाई (खर और दूषण) ने छुरे के समान तीक्ष्ण बाणों की उन पर वर्षा की और उनकी सेना ने राम और लक्ष्मण को तुरन्त घेर लिया।

अदीधपत गृध्राणां व्रातमेकधनुर्धरः ।
सत्यव्रतोऽसृजो धारां खरदूषणयोर्युधि ॥७५॥

दम्भाजीवकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम् ।
कञ्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम् ॥७६॥

मृगव्याहृतराजन्यो वर्णलिङ्गी निशाचरः ।
उग्ररूपो निजं घोरं रूपं प्रादुरबीभवत् ॥७७॥

दशानामस्य शिरसा मुग्रतेजस्कमाश्रयम् ।
पश्यन्ती मैथिली भीत्या रूपधेयमकम्पत ॥७८॥

प्रदीपमिव तं द्रष्टुं नात्यासन्नं शशाक सा ।
असोढमरुतं तेजः परिष्कृतदशाननम् ॥७९॥

रामारत्नमसौ रामनामाक्रन्ददिदं वचः ।
जगाद जगदीशस्य क्षेपदुष्टं क्षपाचरः ॥८०॥

७५. तब अपने व्रत के पक्के, धनुर्धरों में श्रेष्ठ, राम ने खर और दूषण की रुधिर धारा को गिद्धों को पिलाया, अर्थात् उन्हें मार डाला और उनके रुधिर को गिद्धों ने खूब छक कर पिया ।

७६. तब सीता ने एक भिक्षुक को, जिसका मस्तक लम्बी जटा से परिवेष्टित, और दम्भ ही जिसके जीविका का साधन था, आश्रम में आया हुआ देखा ।

७७. उस निशाचर ने, जिसने द्विज का रूप बना रखा था, और जिसने अपनी कपट चाल से राम को मृग के पीछे अन्यत्र भेज दिया था, अपने भयङ्कर रूप को धारण किया ।

७८. मैथिली उसके भयङ्कर तेज युक्त रूप को जिसमें दस सिर थे, देख कर भय से थर-थर कांपने लगी ।

७९. उसके (रावण के) बहुत निकट आ जाने से, एवं उसके दसों सिरों के चारो ओर भयङ्कर प्रकाश होने से, उन देवताओं को न सह सकने वाले (राक्षस) को प्रदीप के समान न देख सकी ।

विशेष—'असोढ मारुतं'; रावण के पक्ष में=जो देवताओं को सहन नहीं कर सकता था। प्रदीप के सम्बन्ध में=जो पवन को नहीं सहन कर सकता था (२) 'तेजः परिष्कृत दशाननं'; रावण के सम्बन्ध में=जिसके दसो सिर तेज से व्याप्त थे। प्रदीप के सम्बन्ध में=जिसकी बत्ती की शिखा प्रकाश से परिवेष्टित थी।

८०. वह निशाचर, राम का नाम लेकर कलपती हुई, स्त्रियों में रत्न सीता से, जगत के स्वामी (राम) के प्रति बुरे शब्द कहते हुए यह वचन बोला ।

सारङ्गाक्षि शरस्तस्य केवलं तु खरे खरः ।
दूषणे दूषणो भद्रे न त्रिलोक्या विभौ रणे ॥८१॥

लब्धामया बलनिरीक्षण दोहदेन
द्वारे स्थिता निजपुरप्रवरस्य सिद्धाः ।
दृष्टा मया सुरपुरं व्रजता कटाक्षै-
रैरावणद्विपगतेन सहासगर्वम् ॥८२॥

अन्यायितोऽहमहमप्यनुवृत्य सेवां
निर्जीविको मम हृतं भवनं पिशाचैः ।
इत्युन्नदन् सुरगणः सह लोकपालैः
राजाङ्गने भ्रमति मत्प्रतिहारमेत्य ॥८३॥

स्पष्टोत्पिष्टबृहत्त्रिविष्टपबलं बाहुं बहुक्षोभित-
क्ष्मापातालतलं तलेन दलितश्वेताचलेन्द्रं मम ।
नो वाञ्छत्युपधानभूतमबले धन्या सुरस्त्रीषु का
तल्पेऽनल्पविकल्पजल्पमधुरक्रीडारसे सेवितुम् ॥८४॥

८१. हे मृगनयनी ! उसके (राम के) बाण, युद्ध में, केवल खर (राक्षस) के लिये खर अर्थात् तीक्ष्ण हैं और दूषण (राक्षस) के लिये दूषण अर्थात् मारने वाले हैं । परन्तु मुझ त्रैलोक्य के स्वामी के लिये वे ऐसे नहीं हैं ।

८२. भयभीत सिद्ध लोग, मेरे बल का निरीक्षण करने की प्रबल इच्छा से अपने-अपने घरों के द्वार पर आड़ में खड़े थे, तब मैंने, इन्द्र के हाथी ऐरावत पर चढ़ कर सुरपुर में जाते समय, बड़े गर्व से उनकी ओर घृणा भरी तिरछी चितवन से देखा था ।

८३. "मेरे साथ अन्याय किया गया है, मुझसे बेगार सेवा ली जाती है, अतः मेरी जीविका का कोई साधन नहीं रह गया, मेरे मकान को पिशाचों ने लूट लिया है ।" इस प्रकार का रोना रोते हुए, देवता लोग, लोकपालों के साथ, मेरे फाटक पर आकर महल के प्रांगण में घूमते-फिरते हैं ।

८४. हे अबले ! (सीते) स्वर्ग की अप्सराओं में कौन ऐसी भाग्यवती है जो मेरे ऐसे व्यक्ति की जिसने देवताओं की सेना को अच्छी तरह से चूर-चूर कर डाला है, जिसने पृथिवी एवं पाताल के तल को झकझोर दिया है और जिसने हिमगिरि (कैलाश) को चीर डाला है, ऐसे मेरे पलंग पर जहां, क्रीड़ा के समय, निर्बाध गति से प्रेमालाप होता रहता है, मेरे बाहुओं की तकिया लगाने की इच्छुक न रहती हो, अर्थात् सभी इच्छुक रहती हैं ।

उर्वश्या परिवीजनेषु मधुरं नृत्यं यथा लीलया
तन्वन्त्या जितशारदेन्दुकिरणच्छायोल्लसच्चामरम् ।
आसज्य स्वयमङ्गदस्य शिखरे निर्मोकयन्त्या पुनः
स्नेहस्विन्नविवेपमानकरया सोऽयं भुजः स्पृश्यते ॥८५॥

एकस्मिन्शयने मया मयसुतामालिङ्ग्य निद्रालया-
मुन्निद्रं शयितेन मच्चरणयोः संवाहनव्यापृता ।
पादाग्रेण तिलोत्तमा स्तनतटे सस्नेहमापिड्ता
हर्षावेशसमर्पितानि पुलकान्यद्यापि नो मुञ्चति ॥८६॥

अक्षान् दीव्यति दानवेन्द्र सुतया सार्धं स्मरार्त्ते मयि-
क्रीड़ायत्नपरिश्रमः पण इति श्रुत्वा गता सह्यताम् ।
मत्तो मन्मथवस्तुसंहितविधौ वृद्धौ विवृद्धस्पृहा
द्यूतं कारयति प्रयोगचतुरा रम्भोरु रम्भाह्वया ॥८७॥

सर्वस्वर्गवराङ्गनाधृतिहृति प्रेमप्रधानं मयि-
त्रैलोक्याधिपतौ निधाय हृदयं याया जगत्पूज्यताम् ।
नारीमाश्रय संपदेव नयति श्रेयस्करीमुन्नति
मान्या मानिनि कस्य धूर्जटिजटाजुष्टा न जह्नोः सुता ॥८८॥

८५. उर्वशी, जिसने अपने बाजूबंद पहिले हाथ के उपर सरका लिये थे, और बाद मे उतार कर रख दिया था, ऐसा पंखा लेकर, जो शरद् ऋतु के चन्द्र किरणों की छाया से अधिक चमचमाता था, बड़े हावभाव से, नाचती-सी पंखे को झलती हुई कामोद्वेग से पसीजे और कँपते हुए हाथ से मेरे बाहु को छू देती है ।

८६. तिलोत्तमा, जो मेरे चरणों को उस समय दबाने में व्यस्त थी, जब एक पलंग पर मैं निद्रा मे निमग्न, मय दानव की पुत्री (मन्दोदरी) के आलिङ्गन पाश में जकड़ा हुआ पड़ा था और अपने चरण के अग्रभाग से उसके (तिलोत्तमा के) स्तन के किनारे पर कुरेद रहा था । आनन्दातिरेक से जनित उसका वह पुलक अब तक उसे नहीं छोड़ता ।

८७. हे कदली के समान जाँघ वाली सीते ! (एक दिन) जब मैं मन्दोदरी के साथ जुआ खेल रहा था तो इस बाजी को सुन कर कि (जीतने वाले को) सम्भोग का श्रम उठाना पड़ेगा रम्भा को सहन न हो सका । वह मुझ पर बहुत कामासक्त थी और कामकेलि के साधनो मे बड़ी चतुर एवं जुआ खेलने में दक्ष थी, उसने मेरे साथ जुआ खेला ।

८८. मेरे मे, जिसने स्वर्ग की सभी सुन्दर शरीर वाली स्त्रियों का धैर्य हर लिया है, और जो तीनों लोक का स्वामी है, अपने प्रेम-प्रधान हृदय को लगा कर, सम्पूर्ण जगत् की वन्द-नीया बनो । स्त्रियो की मङ्गलकारिणी समुन्नति उनके आश्रयदाता के उत्कर्ष पर निर्भर रहती है । हे मानिनि ! कौन ऐसा है जो शङ्कर के जटाजूट का आश्रय लेने वाली, जन्हु की पुत्री (गङ्गा) का मान नहीं करता ?

हस्तौ पल्लवकोमलौ करयुगेनादाय वासः शनै-
रन्येन व्यपनीय पाणियुगलेनामृश्य काञ्च्यास्पदम्।
मध्यालिङ्गति बाहुभिः सुबहुभिः शेषैर्विलक्षस्मित-
ज्योत्स्नासेकमनोहराधरपुटं वक्त्रं स्वयं दास्यसि ॥८९॥

इत्युक्त्वाऽऽदाय रक्षःपतिरवनिसुतामुत्प्लुतो मीनजालै-
श्चित्रं व्योमाम्बुराशिं घनपवनरयास्फालगुञ्जद्घनोर्मिम्।
पोतेनेव प्रकम्पध्वनिनिवहमसौ बिभ्रता पुष्पकेण
स्फूर्जत्सीतेन यात्रामनुपहतजवव्यापिनीमाललम्बे ॥९०॥

इति दशमः सर्गः।

८९. जब तुम्हारे नव पल्लव के समान सुकोमल हाथों को अपने दो हाथों में पकड़ कर और दूसरे दो हाथों से तुम्हारे वस्त्र धीरे-धीरे उतार कर, अपने और सब हाथों से तुम्हारे कटि प्रदेश को छुऊँगा और तुम्हें आलिङ्गन करूँगा तो तुम स्वयं अपना मुख, जिसमें मुस्कराने की आभा के बिखर जाने से मनोहर, अधर पुट हैं, (चुम्बन के लिये) मुझे दे दोगी।

९०. इतना कह कर, राक्षसों का स्वामी (रावण), पृथिवी की पुत्री (सीता) को उठा कर, मछलियों की जाल की तरह चित्रित, समुद्र रूपी आकाश में उड़ गया जहाँ तेज वायु के थपेड़ों से लहरों के समान बादल की पंक्ति, गरज रही थी। और उसे (सीता को) जहाज के समान, पुष्पक विमान में बिठा कर, जिसमें काँपती हुई ध्वनि की हिलोरें भनभना रही थी, बड़ी तेज और अबाधगति से यात्रा करने लगा।

दसवाँ सर्ग समाप्त।

एकादशः सर्गः

अथ विकम्पितपक्षसमीरणप्रसभनर्तितदीधितिमालिना ।
विदिततद्गमनेन जटायुना सरभसं समराय समुत्प्लुतम् ॥१॥

जनकराजसुतामपकर्षतः सुररिपोः पथि गृध्रसमागमः ।
अवनिमित्तमवेकयदस्य तं नृपवधूहरणप्रभवं वधम् ॥२॥

पतगपक्षपराहतनर्त्तितस्वभवनोदरमध्यपरिच्युतः ।
उभयभित्तिविताड़ितमस्तक श्चिरमकम्पत विश्रवसः सुतः ॥३॥

विहगनाथवितीर्णपराभव प्रभवकोपविकम्पितचेतसा ।
सपदि पङ्क्तिमुखेन समाददे शरवितानकृतावरणो रणः ॥४॥

क्षणमतिष्ठदुपाहितमण्डलस्थितिमनोहरविग्रहबन्धुरः ।
विपुलपक्षपुटद्वयकल्पितप्रहरणावरणः स विहङ्गमः ॥५॥

१. जब सीता के अपहरण का हाल पता चला तो जटायु, जिसके फड़फड़ाते हुए पंखों की हवा से उसकी शारीरिक शक्ति सहसा (उसके चारो ओर) नाचती हुई मालाकार हो गई थी, युद्ध के लिए उछल पड़ा।

२. राजा जनक की.पुत्री के अपहरण करने वाले, देवताओं के शत्रु (रावण) के मार्ग में, गृध्रराज (जटायु) के आगमन ने, (जैसे) राजवधू (सीता) के हरण करने से जनित, उसके वध की अमङ्गल-सूचक घोषणा की ।

३. विश्रवा का पुत्र (रावण) जटायु के आक्रमण से क्रीड़िया कर अपने रथ के मध्य भाग में गिर पड़ा और (अपने) मस्तक के दोनों ओर आघात से, देर तक कांपता रहा।

४. विहङ्गों के स्वामी, (जटायु) से पराभूत होने से, जिसका हृदय मारे गुस्से के कांप रहा था, ऐसे रावण ने, फुर्ती से, अपने शरीर को बाणों के वितान से ढँक कर, अपने मुखों की पंक्ति से युद्ध किया ।

५. क्षण भर के लिये, वह जटायु, जिसका शरीर, मण्डल के बीच में स्थित होने से मनोज्ञ एवं सुन्दर लगता था, दोनों भारी पंखों के सम्पुट रूप शस्त्र से अपने को ढँक कर खड़ा रहा ।

पथि विहङ्गनिशाचरशासिनोः प्रववृते धृतिसंहरणो रणः ।
विधुतपक्षधनुर्गुणसंहति ध्वनिनिनादितभूधरकन्दरः ॥६॥

अथ खगेश्वरपक्षसमीरणप्रबलवेगनिर्वात्तितपातितैः ।
अपि निजैरतिवेगिभिरायुधैर्दृढमहन्यत संयति रावणः ॥७॥

प्रतिदिगन्तरदृष्टतनुः समं दशमुखं परितः स विहङ्गमः ।
नभसि मण्डलयन्नतिरंहसा स्ववपुषा परिवेषमिवादधे ॥८॥

गगनसागरभोगधराङ्गना विसलता हरिपादसरोरुहः ।
पतगपक्षसमीरणरंहसा सुरसरिद् विससर्प दिशो दश ॥९॥

खगपतिर्निजपक्षसमूहितो पहितवारिदरुद्धदृशो मुहुः ।
शिरसि चञ्चुमदृष्टसमागमो दशमुखस्य सवेगमपातयत् ॥१०॥

शिरसि तं प्रणिहत्य स मुष्टिना भुवि निपातयति स्म निशाचरः ।
द्विजपतिः पुनरेव स वेगवानुपरि कन्दुकवद् ददृशे रिपोः ॥११॥

६. मार्ग में विहङ्गराज (जटायु) और राक्षसराज (रावण) के बीच, धैर्य वाला युद्ध हुआ। (जटायु के) पंख और (रावण के) धनुष की प्रत्यञ्चा से निकले हुए सम्मिलित निर्घोष से पर्वत की गुफायें प्रतिध्वनित हो गईं।

७. तब रावण ने अपने ही द्रुतगामी बाणों से, जिन्हें जटायु के पंख से, वेग से निकले हुए वायु ने लौटा कर गिरा दिया था, युद्ध में बड़ी दृढ़ता से आघात किया।

८. जटायु ने, जिसका शरीर, समान रूप से दिशाओं के अन्त तक, दिखलाई नहीं पड़ता था, रावण के चारो ओर, आकाश में बड़े वेग से, चक्कर काटते हुए, अपने शरीर का घेरा डाल दिया।

९. आकाशरूपी सागर का उपभोग करने वाली स्त्री, जो शङ्कर के चरण कमल की नाल थी, ऐसी सुर-नदी, जटायु के पंखों से निकली हुई हवा से दशों दिशाओं में सरक गई।

१०. तब जटायु अपने पंखों के सिकोड़ने से बादलो को समेट कर अदृश्य हो गया। और इस प्रकार अदृष्ट होने से पास आकर, रावण के सिर पर, बार-बार चोंच से, बड़े वेग से आघात करने लगा।

११. तब निशाचर (रावण) ने उसे (जटायु को) घूंसा मार कर पृथ्वी पर गिरा दिया। परन्तु वह फुर्तीला पक्षिराज, फिर शत्रु के सिर पर गेंद की तरह दिखलाई पड़ा।

नख शिखाशितकुन्तनिपातनस्फुटितरत्नपिशङ्गितदिङ्मुखम् ।
रिपुशिरश्चरणेन रणे रणन्मुकुटकोटि जघान विहङ्गमः ॥१२॥

अथ स कुन्तमुखेन शकुन्तपं तमभयः समरे समदारयत् ।
द्विजवरोऽपि ततो नखरैः खरैरपघनं घनमस्य जघान सः ॥१३॥

हृदि समर्पितकुन्तमुखं मुहुर्विततपक्षनिरुद्धनभस्तलम् ।
खगपतेः समरोचत तद्वपुर्निहितदण्डमिवातपवारणम् ॥१४॥

युधि रयादपहाय तदायुधं चपलतुण्डविखण्डितमण्डनम् ।
विबुधशत्रुशिरस्तरसा रसन्नभिनिपत्य जघान पतत्पतिः ॥१५॥

नखशिखाङ्कुशकोटिषु मस्तके निपतितासु दशाननदिग्गजः ।
अभिननाद भृशं दशभिर्मुखैः प्रबलनादनिनादितदिङ्मुखः ॥१६॥

नखमुखोपहितायुधकर्म्मणस्तनुतनुच्छदसन्ततिवर्म्मणः ।
रणमवेक्ष्य विहङ्गपतेर्जगुः सपदि साधुवचः सुरकिन्नराः ॥१७॥

१२. भाले के समान पैने नख और शिखा की चोट से दिशायें, फूटे माणिक्य की तरह पिशङ्ग हो गईं। उस युद्ध में नाद करते हुए पक्षिराज ने, शत्रु के सिर पर, किरीट के किनारे आघात किया।

१३. उसने (रावण ने) युद्ध में भाले की नोक से उस पक्षिराज को छेद दिया। तब पक्षियों में श्रेष्ठ (जटायु) ने भी उसके (रावण के) दृढ़ शरीर पर, मेघों को विदीर्ण करते हुए अपने नखों से गहरा आघात किया।

१४. पक्षिराज (जटायु) के हृदय में भाले की नोक के बार-बार घुस जाने से, उसका शरीर, जिसके फैले हुए पंख आकाश को घेरे थे, ऐसा शोभायमान हुआ जैसे दंड लगा हुआ छाता हो।

१५. युद्ध में बड़े वेग से उसके शस्त्र को छीन कर, पक्षियों के स्वामी (जटायु) ने (अपनी) चोंच से, उसके (रावण के) शृङ्गार को तहस-नहस कर दिया। और नाद करते हुए, फुर्ती से उस देवताओं के शत्रु (रावण) के सिर पर टूट कर, आघात किया।

१६. अंकुश के समान, नख और शिखा की नोक, सिर पर पड़ने से, उस दिग्गज रावण ने (अपने) दसो मुखों से ऐसा भयङ्कर नाद किया कि उस घोर नाद से दिशायें गूंज उठीं।

१७. नख और चोंच से ही, शस्त्र का कार्य करते हुए, शरीर ढँकने वाले पंखों से ही, कवचों की कतार बनाये, पक्षिराज (जटायु) को युद्ध करते देखे, देवता और किन्नर तुरन्त साधुवाद करने लगे।

टिप्पणी—साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन्। अरण्यकाण्ड, ५१-२१, वाल्मीकि।

अथ विदर्शितपूर्वपुरन्दरद्विरदकुम्भविपाटनपाटवम् ।
असिमसावसितोत्पलसप्रभं सुररिपुः समराय समाददे ॥१८॥

सपदि मातुमिवास्य दिगन्तरं विततपक्षयुगस्य पतत्रिणः ।
पृथुवितानमिवामरवर्त्मनो विपुलमंसपुटं निजघान सः ॥१६॥

द्विजवरस्य तनुः कृतवेदिनः सुरवधूनयनोदकसन्ततिः ।
कुसुमवृष्टिरिति त्रितयं ततः समपतत्सममेव नभस्तलात् ॥२०॥

विधिवशेन वशी समुपस्थितो निजगदे शिथिलीभवदुष्मणा ।
रघुपतिः प्रभुणाथ पतत्रिणां दशमुखेन कलत्रमपोहितम् ॥२१॥

समरशक्तिरियं ममतावती दशमुखो हरति स्म वधूमिति ।
दशरथाय यथा गदितुं स्वयं द्विजवरोऽधिरुरोह सुरालयम् ॥२२॥

नृपसुतः पवनात्मजलोभितः फलितवृक्षवनं वनजेक्षणः ।
अगमदृष्य पदादिमगोत्तमं सपदि मूकममूकविहङ्गमम् ॥२३॥

१८. जो पहिले ही इन्द्र के गज के कपोलों के विदारण में पटुता प्रदर्शित कर चुकी थी, उस नील कमल के समान प्रभा वाली तलवार को उस देवताओं के शत्रु (रावण) ने युद्ध के लिये ग्रहण किया।

१६. तब उसने (रावण ने) जटायु के फैले हुए दोनों पंखो पर, जो ऐसे लगते थे मानो दिशाओं के अन्तर (अथवा अन्तरिक्ष) को नाप रहे हों,जो देवताओं के मार्ग में विस्तृत वितान के सदृश थे और जो लम्बे-चौड़े और खुले हुए थे, फुर्ती से आघात किया।

२०. तब कृतज्ञ पक्षिश्रेष्ठ का शरीर, देवताओं की स्त्रियों के नयनाश्रु की धारा और देवताओं के द्वारा की गई पुष्पवृष्टि—ये तीनों ही साथ-साथ आकाश से गिरे।

२१. भाग्य से, इन्द्रियजित राम के उपस्थित होने पर, पक्षिराज (जटायु) ने जिसकी उष्णता शिथिल हो रही थी, रावण के द्वारा जानकी के हरण का वृत्तान्त कहा।

२२. "मेरी इस युद्ध करने की शक्ति को और वहू (सीता) को रावण ने हर लिया", ऐसे दशरथ से यह कहने के लिये वह पक्षिश्रेष्ठ स्वर्ग में चला गया।

२३. तब कमल के समान नेत्र वाले राम, पवन के पुत्र हनुमान की लालच से, फले हुए वृक्षों से भरे, जहाँ चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, ऐसे सुन्दर ऋष्यमूक पर्वत पर तुरन्त गये।

कपिरजर्य्यमचिन्तितलम्भितं तदनुभूय विरोचनसम्भवः ।
रिपुमयाचत कौशिकवैरिणां निहतये न न दुन्दुभिविद्विषः ॥२४॥

उपकपीश्वरवास गुहामुखं समधिगम्य रघूद्वहचोदितः ।
प्रतिनिनादवतो जगतीधरान् गुरु जगर्ज्ज हरिः परिकम्पयन् ॥२५॥

अभिपपात रुषारुणिताननः कपिपतिः कपिलद्युतिमण्डनः ।
नव विरोचनमण्डलमुद्वहन् गिरिवरः शिरसेव हिरण्मयः ॥२६॥

अथ रणो ववृते धरणीभृतां शिखरखण्डमहीरुहमण्डलैः ।
हरिहरिद्वयनन्दननर्द्दितप्रतिनिनादितभीमदरीमुखः ॥२७॥

पतितभूरुहभूरिभरस्फुटत्कठिनविग्रहविग्रहतेजितौ ।
अचरतामचिरेण परस्परच्छलनिरूपणविक्षणवीक्षणौ ॥२८॥

शिरसि पातितभिन्नगिरिद्रुमक्षणनिरासलघूकृतहस्तयोः ।
अधरदंशपरिप्लुतशोणितं बलितमुष्टि जवादुपसर्प्पतोः ॥२९॥

२४. अप्रत्याशित रूप से प्राप्त मैत्री का अनुभव कर, सूर्यपुत्र, कपि सुग्रीव ने, विश्वामित्र के शत्रुओं के रिपु (राम) से दुन्दुभी नामक असुर के शत्रु (बालि) के वध के लिये, याचना न की हो—ऐसा नहीं, अर्थात् याचना की ।

२५. उस गुफ़ा के द्वार के पास, जहाँ वानरों के स्वामी रहते थे, पहुँचे हुए राम से उत्साहित सुग्रीव, पर्वतों को कम्पायमान और प्रतिध्वनित करते हुए, बड़े ज़ोर से गरजे ।

२६. (तब) क्रोध से जिनका मुख लाल हो गया था, जो कपिलवर्ण कान्ति से शोभित थे, जिनके चारो ओर नवोदित सूर्य के मण्डल के समान प्रभा थी, जो अपने शिरोभाग से सुवर्णमय पर्वत के समान लगते थे, ऐसे वानरों के स्वामी (सुग्रीव) युद्ध के लिये उद्यत हो गये ।

२७. सूर्य और इन्द्र के पुत्र, सुग्रीव और बालि ने अपने गर्जन से कन्दराओं के द्वार को प्रतिध्वनित कर, शिखर-खण्डों और वृक्षों के समूह से युद्ध किया ।

२८. अपने ऊपर पड़ते पर्वतों के अतिशय भार से, कठिन शरीर के फूटने के कारण, युद्ध को तीव्र कर देने वाले, उन दोनों ने शीघ्र ही माया के प्रयोग से क्षणिक दर्शन का आश्रय लिया ।

२९. गिर पर फेंके गये, छिन्न-भिन्न होते, वृक्षों और पर्वतों को क्षण भर रोकने के लिये, हाथ टेढ़ा किये हुए, अपने अधर काट कर रक्त बहाते हुए, मुट्ठी बाँध, वेग से दौड़ते (उन दोनों का) युद्ध हुआ ।

सरभसं रिपुवक्षसि वक्षसा समभिहत्य सहूकृति वल्गतोः ।
ललितमुक्तपटान्तमनोहर प्रचलपुच्छगुणद्वयशोभिनोः ॥३०॥

रविपुरन्दरनन्दनमल्लयोरथ बभूव भुजैः सुमहाहवः ।
करणदन्धनबद्धसमुच्छ्वसज्जठरमुक्तमुखागतशोणितः ॥३१॥

नभसि किं क्षिपतः कुलपर्व्वतानुत भुजेन विवर्त्तयतो महीम् ।
इति विवेश वितर्कमथैतयोर्नृपसुतः क्षिपतोरितरेतरम् ॥३२॥

वलपरीक्षण तत्क्षणकर्षणप्रसभतानितहुङ्कृतिगर्ज्जितः ।
हरिगुरुं हरिदश्वसुतो मुहुर्विनमयन् निजनाम समाददे ॥३३॥

अथ निवर्त्तितनिश्वसितातुरं ग्रहणनिर्गतनिश्चललोचनम् ।
भुजभुजङ्गमबन्धनबन्धुरं स्रवदसृग्रसरञ्जितकन्धरम् ॥३४॥

भ्रमितपादयुगाहतपातितद्रुमशतं द्रुतमुक्तरवं रवेः ।
सुतवरं वरविक्रममम्बरे भ्रमयति स्म सुराधिपसम्भवः ॥३५॥

३०. शत्रु के वक्ष पर प्रचण्ड आघात करते हुए और हुंकार से शरीर को हिलाते हुए, सुन्दर, लहराते वस्त्राञ्चल की भाँति हिलती पूँछों से (उन दोनों का युद्ध हुआ।)

३१. रविनन्दन (सुग्रीव) और पुरन्दर नन्दन (वालि), दोनों पहलवानों में भुजाओं से भयङ्कर युद्ध हुआ। दाँव बांध कर कर कसने के कारण उदर से रुधिर निकल कर मुख में आ गया।

३२. एक दूसरे को पटकते हुए देख कर, राजपुत्र (राम) ने यह तर्क किया कि क्या आकाश में 'कुलाचल' फेंका जा रहा है अथवा भुजाओं से पृथ्वी हिलाई जा रही है।

विशेष—कुलाचल प्रसिद्ध सात पर्वतों में से कोई—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र।

३३. तत्क्षण वल की परीक्षा करते हुए, जोर से खींच कर गरजते हुए हरिदश्व पुत्र (सुग्रीव) ने हरिगुरु (वालि) को बार-बार झुका कर अपना नाम बताया।

३४. जो उलटी सांस चलने के कारण व्यथित था, जिसकी आँखें पथरा कर बाहर निकल पड़ी थीं, जो सर्प के समान भुजाओं की जकड़ से अकड़ गया था और जिसकी गरदन बहते हुए रुधिर के रस से लाल हो गई थी,

३५. इन्द्र के पुत्र (वालि) ने सूर्य के बली पुत्र (सुग्रीव) को, जो घूमते हुए दोनों पैरों से सैकड़ों वृक्षों को उखाड़ कर गिरा रहा था, जो तेजी से गर्जन कर रहा था, आकाश में नचाया।

इति पपात वितन्वति पौरुषं रिपुदृढाङ्गविदालिनि बालिनि ।
परुषवह्निशिखोद्गमनिष्ठुरः क्षितिपनन्दनबाणमहाशनिः ॥३६॥

अकृतबाणनिकृत्ततनुः कृती चिरविनिन्दितराघवलाघवः ।
पदमधिक्षयमक्षयसम्पदः सुरपुरस्य पुरन्दरनन्दनः ॥३७॥

सदनुजे दनुजेशरिपौ नगे स्थितवतीतवतीन्द्रसुते दिवम् ।
स्तुतनये तनयेऽशिशिरद्युतेर्निपतितां पतितां पुनरास्थिते ॥३८॥

ऋतुरतारतभास्वदिरम्मदारुचिपिशङ्गितवारिदमण्डलः ।
प्रचलवातविधूतपरिभ्रमत्सितविहङ्गमदन्तुरदिङ्मुखः ॥३९॥

उदितसारवसारवदम्बुदः पथिकरोदकरोदकशीकरः ।
उपययौ वनयौवनसम्पदः प्रजनकोमलकोमलकन्दलः ॥४०॥

जलधरः पवनेन वितानितः क्षितिपनन्दनविक्रमदन्तिनः ।
मुखपटः समराय गमिष्यतस्तपनमण्डलकेशरिपञ्जरः ॥४१॥

३६. उसी समय अपने पौरुष का विस्तार करने वाले और शत्रु (सुग्रीव) के दृढ अङ्ग को विदीर्ण करने वाले, वालि पर, प्रचण्ड अग्नि की लपलपाती ज्वाला के सदृश कठोर, महाशनि के समान, पृथ्वीपति (राम) का बाण गिरा।

३७. उस भाग्यवान, इन्द्र के पुत्र (बालि) ने, जिसका शरीर बाण से काट डाला गया था, और जिसके कारण राम के हल्केपन की बहुत दिनों तक निन्दा हुई, अक्षय सम्पत्तिवान, स्वर्ग में, अमर-पद को प्राप्त किया।

३८. अपने श्रेष्ठ, छोटे भाई (लक्ष्मण) के सहित पर्वत पर आसीन होने पर, और इन्द्र के पुत्र (बालि) के मरणोपरान्त स्वर्ग में चले जाने पर, और राजनीति के लिये प्रशंसित, सूर्य के पुत्र (सुग्रीव) के गिरे हुए स्वामित्व के पुनः प्राप्त कर लेने पर,

३९. ऋतु के समाप्त होने पर, चमकती विद्युत की प्रभा से पिशङ्गवर्ण बादलों के समूह युक्त, दिग्प्रान्त, में बहती हुई हवा के झकोरे से मंडराते हुए श्वेत पक्षियों से लहरियादार हो गया।

४०. मनोहर और मृदु अंकुरों का जनक, पथिक जनों को रुलाने वाले जलबिन्दुओं से युक्त उमड़ा हुआ, गरजता हुआ, जल से भरा बादल, वन की यौवन-सम्पत्ति को प्राप्त हुआ।

४१. पवन से फैलाया हुआ बादल, सूर्य मण्डल रूपी, सिंह के पिंजड़े जैसा, समर के लिये जाते, राजहर्षकारी जय गज का मुखपट सा प्रतीत हुआ।

मलय-मन्दर-विन्ध्य-महीभृतां शिखरयष्टिसमर्प्पितमायतम् ।
प्रततशीकरशुक्तिजमण्डनं जगति मेघवितानमरोचत ॥४२॥

भुवनतापनघर्म्मजयोत्सवः समुदितः परिनृत्यत वर्हिणः ।
इति जघान यथा समयस्तड़ित्कनकदण्डशतैर्घनदुन्दुभिम् ॥४३॥

प्रथममश्रुमुखीमपहाय तां पथिक ! सम्प्रति किं परितप्यसे ।
इति यथा विजहास वनस्थली प्रविकसद्दलकन्दलशोभिनी ॥४४॥

अतनुना तनुना घनदारुभिः स्मरहितं रहितं प्रदिधक्षुणा ।
रुचिरभा चिरभासितवर्त्मना प्रखचिता खचिताननदीपिता ॥४५॥

जलदकालविवर्द्धिततेजसः शुशुभिरे कुलिशायुधगोपकाः ।
मनसिजस्य शरव्यथितात्मनां विरहिणामिव शोणितबिन्दवः ॥४६॥

४२. ससार के ऊपर, मेघों का बड़ा-सा छत्र, जिसमें मलय, मन्दर, एवं विन्ध्य पर्वतों के डंडे लगे थे और जो मोती के समान विस्तृत जलकणों से अलंकृत था, बड़ा शोभायमान् लगता था।

४३. आह्लाद से नाचते हुये मयूरों ने, अवसर आने पर बादल रूपी नगाड़े को, बिजली रूपी सैकड़ों सोने के डंडों से पीटा । जैसे संसार में ग्रीष्म ऋतु की तपन पर विजय पाने का उत्सव मनाया जा रहा हो।

४४. 'हे पथिक ! पहिले तो तुमने रोती हुई प्रेयसी को छोड़ दिया और अब उसका परिताप करते हो।' यह कह कर निकले हुए पत्तियो और कोपलों से वनस्थली जैसे हँसी।

४५. प्रबल कामदेव ने, काम रहित जनों को कामाग्नि से दग्ध करने की इच्छा से, लपलपाती बिजली की अग्नि से, घन-रूपी काष्ठ समूह से रचित आकाश रूपी चिता को न प्रज्ज्वलित किया हो, ऐसा नही है। अर्थात् अवश्य ही प्रज्ज्वलित किया।

टिप्पणी—रूपक कुछ इस प्रकार है —

वर्षा ऋतु है। आकाश में बादल छाये हैं। उनके बीच में बिजली लपलपा उठती है और वे बादल जल से उठते हैं। ऐसा लगता है कि मानो बादल रूपी काष्ठसमूह से संजोई हुई आकाश रूपी चिता को कामदेव, बिजली रूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित कर देता है और इस प्रकार साधारणतः काम-रहित जनो के भी हृदय में कामोद्दीपन करता है।

४६. वर्षा ऋतु के कारण जिनका तेज बढ़ गया है, ऐसे विद्युत को धारण करने वाले (बादल) ऐसे शोभायमान् हुए जैसे कामदेव के बाणों से पीड़ित-हृदय विरही जनों के रुधिर की बूंद हो।

घनपरिस्रवणा गिरयो बभुः सतड़िदम्बुदसन्ततिसंवृताः ।
कनकचित्रकुथावृतमूर्त्तयः स्रुतमदाइव दानवदन्तिनः ॥४७॥

मुरजनादगभीरमनोहरैः प्रमुदितेन पयोधरनिस्स्वनैः ।
उपरिवृष्टिभयादिव तानितः प्रचलपिच्छचयो विशदभ्रुवा ॥४८॥

मुहुरुदग्रपयोदमतङ्गजश्रवणचामरभावमुपेतया ।
गगनं सागरशङ्खवपुःश्रिया प्रचरितं प्रमदेन बलाकया ॥४९॥

कमलिनी मलिनीकृतकन्ततिः सकलहं कलहंसगणं जहौ ।
अविकलं विकलङ्कतनुच्छदं समदनम्मदनम्रतनुश्रियम् ॥५०॥

दिशि बभौ नववारिदसञ्चयस्त्रिदशनाथशरासनरञ्जितः ।
जलनिधिर्बहुवर्णमणिद्युतिप्रकरवानिव तिर्य्यगवस्थितः ॥५१॥

जलधरस्य तटे तड़ितो बभुर्ग्रहगणग्रसनानि वितन्वतः ।
उदरमाशु विभिद्य विनिर्गता रविकरा इव काञ्चनरोचिषः ॥५२॥

४७. विद्युत से युक्त बादलों की परम्परा से घिरे हुए घनघोर जल के बहने से पवित्र, उन राक्षसों के हाथियों के समान लगते थे, जिनके शरीर पर सुवर्ण-चित्रित झूल पड़ी थी और जिनसे मत बह रहा था।

४८. बादलों के, मृदङ्ग के समान, हृदय को हरने वाले, गम्भीर नाद से आह्लादित, चमकीली भौं वाले मयूरों ने, वृष्टि के भय से, अपने ऊपर हिलती हुई पूंछ के समूह का चँदोवा कर लिया।

४९. प्रमत्त बगुलों की पंक्ति, जो सागर रूपी आकाश के शंख के समान शुभ्रवदना थी और जो बारम्बार उमड़ते हुए, हाथी के समान, बादलों के कान रूपी चँवर के सदृश लगती थी, घूमने लगी।

५०. मलिन पत्तों वाली कमलिनी ने उन कलहंसों को छोड़ दिया जो आपस में कलह करते थे, जिनके पंख पूर्ण रूप से कलङ्क-रहित थे और जिन मतवालों के शरीर की शोभा मद से नम्र हो गई थी।

५१. दिशा में देवराज इन्द्र के धनुष से रञ्जित मेघ समूह उठ आये जैसे विविध मणियों के कान्ति-समूह से युक्त जलनिधि आकाश में उठ आया हो।

५२. बादल के किनारे पर सुवर्ण के समान चमकती हुई बिजली, तारागणों को निगलती हुई, सूर्य के किरणों के समभ्रम, उदर को चीर कर निकलती हुई, बड़ी शोभायमान लगती-थी।

विमलवारि निपीय नदीशतं सलिलभारनिरन्तरितोदरः ।
क्रममिवाभिवहन्नतिपानजं गिरितटे निपसाद पयोधरः ॥५३॥

विरहिणीभिरलक्ष्यत मन्युना सलिलविच्युततैलसमप्रभम् ।
प्रतिनवोदितमस्फुटमम्बुदे विबुधनाथशरासनखण्डकम् ॥५४॥

न न चकार ततारततारका भरितसर्वनदा वनदावली ।
मदमयूरवरं रवरंहसा प्रमदसारमितं रमितं गिरौ ॥५५॥

वनदमण्डलदन्तपदश्चिरं समभिहत्य रयेण हृतेऽग्रतः ।
जलधरे पवनेन हरिद्व्रजः क्वचिदतिष्ठदुपागतसम्भ्रमः ॥५६॥

पिहितविष्णुपथस्य पयोमुचः पटलरन्ध्रविभावितमण्डलः ।
दिनकरः क्वचिदन्वगमद्रुचा जलनिधौ वड़वानलसंहतिम् ॥५७॥

जलधिवारि निपीतवतो भृशं वनमुचो रुधिरस्रवलोहिताः ।
अतिभरस्फुटितोदरनिर्गता बभुरिवान्त्रलता दिवि विद्युतः ॥५८॥

५३. बहुत सी नदियों के स्वच्छ जल को पीकर और अपने उदर में जल के भार को रख कर, अधिक पानी पी जाने के कारण, थकावट से (वह) बादल गिरि के किनारे विश्राम करने लगा ।

वेशेष—समुद्वहन्तं सलिलातिभारं, बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।
महत्सु शृंगेषु महीधराणां, विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ —किष्किन्धा काण्ड, २८-२२ वाल्मीकि ।

५४. विरहिणी स्त्रियों ने बादल में, नवोदित अस्पष्ट इन्द्रधनुष के खंड को, जो जल में गिरे हुए तेल के समान चमक रहा था, क्रोध से देखा ।

५५. जिसमें विस्तृत तारिकाएँ ढकी हुई थी, जिसने सारे नदों को भर दिया था ऐसी जलदावली ने, मतवाले मयूरों को अपने भयङ्कर गर्जन से अत्यधिक मस्त कर मुदित न किया हो, ऐसा नहीं ।

५६. जलद-मण्डल (नायक) के दन्तक्षत से युक्त, दिशा (नायिका) का समूह, पवन द्वारा आघात करके, वेग से बादलों के उड़ा देने पर कहीं-कहीं देर तक सम्भ्रमित रहा ।

५७. बादलों से आकाश के घिर जाने पर, सूर्य जिसका मण्डल (बीच-बीच में) रन्ध्र-राशि से विभासित था, अपनी किरणों के सहित, समुद्र के बाडवाग्नि में कहीं पर समा गया ।

५८. समुद्र का जल अत्यधिक पी जाने के कारण, बोझ से पेट फट जाने से, बाहर निकल पड़ी हुई, बहते रुधिर के समान, लाल अंतड़ियों के सदृश, बिजलियाँ आकाश में फैल गईं ।

रविकरानुपरुध्य कृतं मया भुवनदृष्टिनिरोधि तमस्तड़ित् ।
विलसितेन निहन्ति मुहुर्मुहुर्घन इतीव ररास रुषा घनः ॥५९॥

दिशि निवेशितताम्रविलोचना नवघनानिलकम्पितकुन्तलाः ।
नयनवारि चिरं पथिकाङ्गना विससृजुः सह वारिदशीकरैः ॥६०॥

विततपावनके वनकेतकीसुरभिगन्धवहे धव ! हे ! पथि ।
इति रवैरुदिता रुदिताः स्त्रियः शिखिगिरं सहसे सहसेरितम् ॥६१॥

नभसि नूतनकन्धरजृम्भितस्थगिततिग्मकरद्युतिसम्पदि ।
व्यपगतेन पदं शुचितेजसा हृदि वियोगवतामिव सन्दधे ॥६२॥

शिशिरशीकरवाहिनि मारुते चरति शीतभयादिव सत्वरः ।
मनसिजः प्रविवेश वियोगिनीहृदयमाहितशोकहुताशनम् ॥६३॥

प्रथमपीतजलाहितमेचकप्रभमनङ्गकृपाणमिवाम्बुदम् ।
विमलधारमुदीक्ष्य समुद्गतं विरहिणीहृदयं न न विव्यथे ॥६४॥

५९. सूर्य के किरणों को रोक कर, संसार की दृष्टि को विफल करने वाला अन्धकार तो मैंने किया पर यह बिजली बार-बार चमक कर अन्धकार को नष्ट कर देती है, यह विचार कर क्रोध से बादल जोर से गरजा।

६०. पथिकों की स्त्रियां, जिनके केश नयी और घनी वायु से हिल रहे थे, बादलों की बूंदों के साथ-साथ, अपने ताम्र वर्ण नेत्रों से दिशाओं को निहारती हुई, आंसू बहाती थीं।

६१. 'हे प्रिय ! जल से भरे वन केवड़े से सुरभित वायु से युक्त मार्ग पर तुम, सहसा उच्चरित मयूर की बोली को कैसे सहन करते हो ?' यह कहते हुए स्त्रियां रो-रो पड़ती हैं।

६२. आकाश में, सूर्य, जिसकी प्रखर किरणों की आभा, नये बादलों के गर्जन से रुद्ध हो गई थी, अपने विशुद्ध तेज से च्युत होने के कारण, विरागियों के पद को धारण करने लगा।

६३. जब शीतल जल-कण वहन करने वाली वायु बहने लगी तो, ठंड के भय से, कामदेव, विरहिणी स्त्रियों के हृदय में, जहां शोकाग्नि जल रही थी, घुस गया।

विशेष--शीतार्तं बलवदुपैपुपेव नीरैरासेकाच्छिशिरसमीरकम्पितेन ।
रामाणामभिनवयौवनोष्मभाजोराश्लेषिस्तनतटयोर्नवांशुकेन ॥ —माघ ८–३२।

६४. पहिले पिये हुए जल से, जिसमें काली प्रभा छा गई थी, और जो कामदेव की तलवार के समान था, ऐसे बादल की विमल धारा को निकलते हुए देख कर, क्या विरहिणी के हृदय में व्यथा नहीं हुई ?

विततमेघतमिस्रवृता दिशः समवलोक्य निशागमशङ्कया ।
विरहभीतिमहन्यपि निर्विशन् मृदु रराव रथाङ्गसमाह्वयः ॥६५॥

पथिकमानसमानसमुन्नतिस्थितिबहिष्कृतबर्हिकलापिनि ।
जगति वाशितरासितवारिदप्रसृतकन्धृतिकन्धृतिराश्रिता ॥६६॥

नवपयोधरकुञ्जरमस्तके तड़िदसौ पतिते परितश्च्युतः ।
स्फटिकभङ्गरुचो जलबिन्दवो विससृपुः प्रकरा इव मौक्तिकाः ॥६७॥

जलधरेण कृता रवितारका नभसि देवनगोलकवृत्तयः ।
वलनिपूदनजालविदा यथा ग्रसननिर्वमणक्षयन्त्रिताः ॥६८॥

अधिरयेण समीरणवाहिता विबुधवर्त्मनि वारिददन्तिनः ।
अविरलं मुमुचुर्जलशीकराञ्छ्रमकृतानिव घर्म्मपयःकणान् ॥६९॥

जलदशाखिनि लोलतड़िल्लताक्रकचपत्रनिपातविदारिते ।
प्रवितता इव चूर्णचया बभुः पवनवेगवृता जलरेणवः ॥७०॥

६५. फैले हुए मेघों से जनित अन्धकार से दिशाओं को व्याप्त देखकर, रात के आगमन की शंका से, दिन में भी (चकई के) विरह के डर से, चक्रवाक ने धीरे से चक्रवाकी को बुलाने का शब्द किया ।

६६. वर्षा काल के कारण पथिक-वनिताओं के मन में मान-वृत्ति इतनी ऊँची उठी कि उसने मयूरों की (नृत्य काल में) ऊपर उठी पूंछ की ऊँचाई को मात कर दिया और गरजते एवं बरसते बादलों की गर्दन का सहारा लिया ।

६७. नये बादल के समान, हाथी के मस्तक पर, बिजली के गिरने से, फूटे हुए स्फटिक के समान चमकीले जलबिन्दु के समूह के सदृश, मोती चारों ओर गिर कर बहने लगे ।

६८. आकाश में मेघों के कारण सूर्य-बिम्ब, क्रीड़ा-कन्दुक के समान दिखने लगा । मानो उसे इन्द्र की माया को जानने वाले कृष्ण ने गोवर्धन धारण करने के समय उसे निगलने और उगलने के क्षण में नियंत्रित कर दिया हो ।

६९. हाथी के समान बादल, तेज़ी से चलती हुई वायु में मिले हुए जलकणों से देवताओं के मार्ग को निरन्तर सींच रहे थे । ऐसा लगता था जैसे वे (जलकण) परिश्रम के कारण निकली हुई, पसीने की बूंदें हों ।

७०. आरे की धार के समान लपलपाती, बिजली के आघात से रेती हुई, बादल की शाखाओं से गिरी हुई, जल की फुहार, बादल के चूर के समान, वायु के वेग से फैल गई ।

महिषधूसरितस्सरितस्तटः परिगतो विपदा विपदाचितः ।
धुतमहाककुभः ककुभः पतत्रकृत भीमरुता मरुताकुलाः ॥७१॥

रविकराहिततेजसि भूतले हविषि वृष्टिमये बलशत्रुणा ।
उपहिते समरोचत लाङ्गली समुदितेव कृशानुशिखावली ॥७२॥

नवविबोधमनोहरकेतकीकुसुमगर्भगतः सह कान्तया ।
अविदितानिलवृष्टिभयागमः सुखमशेत चिराय शिलीमुखः ॥७३॥

अभिविसृज्य वनानि कृतावना मनुजलोकसमीपनिषेविणः ।
तड़िदलातशतैरभिताड़िता वनगजा इव सस्वनुरम्बुदः ॥७४॥

समयवृष्टिहतेऽपि दवानले भ्रमरधूमभृता नवलाङ्गलीः ।
समभिवीक्ष्य कृशानुसमप्रभा मुमुचेरेव भयं न मृगाङ्गनाः ॥७५॥

कमलधामहतो महतोऽनिशं विविधहंससहितः सहितः खगैः ।
प्रविदधौ कमलं कमलं रुजन्निपतितः सरसस्सरसस्तटः ॥७६॥

७१. भैंसे से धूसरित, एवं पक्षियों से भरे, गिरते हुए नदी के तट ने (इस प्रकार) विपत्ति से घिर कर, बड़े-बड़े पर्वत शृंगों को कम्पायमान करते हुए, वायु से आकुल दिशाओं को भयङ्कर ध्वनि से भर दिया ।

७२. सूर्य की किरणों से सन्तप्त पृथ्वी पर, इन्द्र से डाले हुए, जलमय हवि से, नारियल के वृक्ष ऐसे लगते थे जैसे अग्नि-ज्वाला की परम्परा हो ।

टिप्पणी—हवन कुंड में हवि डालने से जैसे अग्नि की शिखा उठती है उसी प्रकार सन्तप्त भूमि पर वृष्टि होने से नारियल के वृक्ष अग्नि-शिखा के समान लगते थे। उत्प्रेक्षालंकार।

७३. नव-विकसित केतकी के सुन्दर फूल के भीतर घुसा हुआ और वृष्टि के आगमन के भय से अनभिज्ञ, भ्रमर, अपनी पत्नी (भ्रमरी) के साथ, बहुत देर तक सुख से सोता रहा ।

७४. वन को छोड़ कर, आदमियों की बस्ती के निकट रहने वाले बनैले हाथी के समान बादल, बिजली की जलती हुई सैकड़ों लुआठियों से जैसे ताड़ित होकर गरजने लगे ।

७५. उपयुक्त समय से वृष्टि हो जाने से, यद्यपि जङ्गल की आग बुझ गई थी, फिर भी अग्नि के समान चमकने वाले और धुंएं के समान भौंरों से घिरे हुए, नये नारियल के वृक्षों को देखकर, हरिणियों ने भय का त्याग नहीं किया, अर्थात् डर रही थी ।

७६ पक्षियों के सहित, विशाल एवं सुन्दर, गिरते हुए सरोवर के तट ने, जिसमें कमलों का सौंदर्य नष्ट हो गया था, जहाँ नाना-प्रकार के हंस रहते थे, लगातार कमल को टुकड़े-टुकड़े करता हुआ, जल की मलिनता को धारण किया। अर्थात् वहाँ का जल गदला हो गया ।

प्रवितता नु पुरन्दरगोपका विविधवर्णरसेन विधातरि।
रचयतीन्द्रधनुश्चलतूलिका गलितधातु जलस्य नु विन्दवः ॥७७॥

रजत रज्जुशताकृतिरायता पतति वृष्टिरियं नु निरन्तरम्।
जलधरस्य पतद्भुवि मण्डलं स्फटिकदण्डशतैर्नु विधारितम् ॥७८॥

रचयतः समयस्य सुरायुधं करशतं नु सधातुरसारुणम्।
विगलितं नु ततः शकलं तडिल्लसितशस्त्रनिपातनलक्षितात् ॥७६॥

समुदयो नु विकाशकृतद्युतेर्विततवह्नि शिखाकुसुमश्रियः।
इति नृणामभवज्जलदोदये ग्रथितभूरिवितर्कपरं मनः ॥८०॥

अथ सुवाहुरिपुः सुबहु स्पृशन् स्मरधनञ्जयजय्यतनुः शुचम्।
हरिशरासन लक्ष्मणि वारिदे निहितदृष्टिरवोचत लक्ष्मणम् ॥८१॥

विधुतनीपवनैः पवनैस्ततं मदनविभ्रमदं भ्रमदम्बुदम्।
जलविकासमयं समयं भवान् धृतिगुणे सहते सहते कथम् ॥८२॥

७. क्या ये (वृष्टि जल की बूंदें) वीरबहूटियां तो फैली हुई नहीं हैं। अथवा विविध प्रकार के रंगों से, इन्द्रधनुष के बनाने के समय, ब्रह्मा की कूंची के हिल जाने से गिरी हुई उन धातुओं के जल की बूंदें तो नहीं हैं।

८. सैकड़ों चाँदी की लम्बी रस्सियों की आकृति की यह निरन्तर गिरती हुई वृष्टि ऐसी लगती थी जैसे पृथ्वी पर गिरते हुए मेघ-मण्डल को सैकड़ों, स्फटिकमणि के डंडों से वह धारण किये हो अर्थात् सम्हाले हो।

६. क्या धातुओं के रस से अरुणित इन्द्रधनुष के बनाने के समय ये उसके सैकड़ों हाथ *(नोक) तो नहीं हैं। अथवा (बनाने के समय) विद्युत् से प्रवाहित लोहे के हथौड़े की* चोट से टूक-टूक हुए उसके (इन्द्र-धनुष के) टुकड़े तो नहीं गिर रहे हैं।

०. क्या अग्नि-शिखा के समान, प्रकाश करने वाले सूर्य की प्रभा की कुसुम-सम्पत्ति का उदय तो नहीं हो रहा है। ऐसे उठे हुए बादल को देख कर, लोगों के मन में वितर्क की भारी गुत्थी पड़ गई।

१. तब सुबाहु राक्षस के शत्रु (राम) जिन्हें कामाग्नि नहीं जीत सकी थी, बहुत शोकाकुल होकर, इन्द्र-धनुष से सुशोभित बादल की ओर देखते हुए लक्ष्मण से बोले।

२. झकोरा खाते हुए साल-वन के पवन से व्याप्त, कामोद्दीपन करने वाले मंडराते हुए वारिधरों से युक्त, चारों ओर जल के विस्तार से भरे हुए, समय को, आप धैर्यवान् होते हुए भी, कैसे सहते हैं?

गिरितटे लुठनेन पयोमुचि प्रणिहिता इव धातुरजश्चयाः ।
त्रिदशनाथशरासनकान्तयः प्रवितरन्ति परं नयनोत्सवम् ॥८३॥

वनकृशानुशिखा निहता वपुस्त्वयि तदीयमिदं प्रतिपाद्यते ।
जलमितीव विमुञ्चति लाङ्गलीकुसुमहस्ततले जलदोदयः ॥८४॥

दिशि लसन्ति खरानिलरंहसि क्षिपतिमेघमहीधरसंहतिम् ।
ततपरस्परघातसमुद्भवज्वलितवह्निशिखा इव विद्युतः ॥८५॥

तरुतले विषमारुतमारुतक्षततनुर्नलतावति तावति ।
विरतिरब्जरसं प्रति सम्प्रति स्वमलिसंहतिरक्षति रक्षति ॥८६॥

धावन्नकाण्डविहितध्वनिरम्बरस्य त्यागं विधाय निकटे विलसज्जनस्य ।
निघ्नञ्छिलाभिरुदकेन जगन्निषिञ्चन्नुन्मत्तवद्भ्रमति वायुवशः पयोदः ॥८७॥

वारिप्रवाहपरिलङ्घितभूमिपृष्ठं धारान्धकारहृतदिक्प्रविभागभित्ति ।
मेघप्रतानपिहिताद्रि घनागमेन ग्रस्तं समस्तमिव भाति जगत् समन्तात् ॥८८॥

८३. पर्वत के किनारे मँडराते हुए बादलों से मानो फैलाया हुआ, इन्द्र-धनुष के समान कान्ति-मान, धातुओं के कणों का समूह नेत्रों को बड़ा आनन्दित करता है।

८४. 'दावानल से झुलसा हुआ तुम्हारा शरीर है, उसके लिये उसी का जल मैं तुम्हें समर्पण करता हूँ' इस प्रकार उमड़ा हुआ बादल, नारियल के फूल के करतल पर जल छोड़ता है।

८५. प्रचण्ड वायु से फेंके हुए, पर्वताकार बादलों के समूह के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न, जलती हुई अग्नि की ज्वाला के समान, बिजली दिशा में लपलपा रही है।

८६. नरकुल के वृक्ष की छाया में भयङ्कर ध्वनि करती हुई हवा के झपेटे से घायल हो जाने वाला भ्रमर-समूह अब वर्षा-काल में कमल के प्रति विरक्ति के कारण अपनी सकुशल रक्षा कर लेता है।

८७. आकाश में निरर्थक गड़गड़ा कर दौड़ते हुए, विलासीजनों के पास से हट कर, शिलाओं पर जल से आघात करते और पृथ्वी को जल से सींचते, वायु के वश में होकर, बादल, उन्मत्त की भाँति (इधर-उधर) घूमते थे।

८८. जल के प्रवाह से जो पृथ्वी के तल को लाँघ गया है, जिसने अपनी धारजनित अन्ध-कार से दिशाओं की सीमाओं को मिटा दिया है, जिसने मेघों के प्रतान से पहाड़ों को छिपा दिया है, ऐसा लगता है जैसे मेघ के आगमन ने सम्पूर्ण जगत को समूचा निगल लिया हो।

एतानि भान्ति हरिगोपकमण्डलानि प्रावृट्छ्रियो जगति सम्प्रति सञ्चरन्त्याः ।
भूमौ पदानि रचितानि यथोदबिन्दुस्पर्शद्रुतोपहितयावकमण्डनानि ॥८९॥

स्वादूनि सिन्धुसलिलानि निपीय कामं
गर्ज्जन्नसौ गिरितटे विहितोपवेशः ।
अत्यन्तभूरिजलभारगुरूदरत्वा-
दुद्गारनादमिव मुञ्चति वारिवाहः ॥९०॥

निरस्तगृहसङ्गति भ्रमत एव तन्व्यास्तव
स्तनद्वयमियद्वपुः पथिक ! जातमुद्यौवनम् ।
इतीव वदति स्फुटत्कुसुमहस्तमुद्यम्य सा
भ्रमद्भ्रमरमण्डलक्वणितपेशला लाङ्गली ॥९१॥

प्रणाशो मित्रस्य प्रसभरचितज्येष्ठविरहः
प्रवृत्तः शोकादित्यधिकतरतारं निनदतः ।
निराशस्योत्कस्य स्फुटति नवमेघस्य हृदये
रयादुद्यद्धारा असृजइव निर्मान्ति तडितः ॥९२॥

८९. बीर बहूटियों के मण्डल ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे संसार में घूमती हुई वर्षा ऋतु रूपी सुन्दरी नायिका के पद-चिह्न, जल बिन्दु के स्पर्श से तुरन्त लगे हुए महावर से मण्डित भूमि पर रच गये हों।

टिप्पणी—हरिगोपक=बीरबहूटी

९०. नदियों के स्वादिष्ट जल को मनमाना पी कर, गरजते हुए, पर्वत के किनारे विश्राम कर, वह बादल, जिसका पेट, अत्यधिक जल पी जाने के बोझ से भारी हो गया था, जैसे डकार रहा है।

९१. "हे पथिक ! तुम घर में उसका साहचर्य छोड़ कर (मारे-मारे) घूम रहे हो। उस सुकुमाराङ्गी के स्तन यौवन से भर कर बड़े हो गये हैं," इस प्रकार वह नारियल (का वृक्ष), जो उस पर भनभनाते हुए भ्रमरों के समूह के मँडराने से बड़ा सुन्दर लगता है, अपने नव प्रस्फुटित पुष्पों से भरे हुए हाथ को उठा कर कहता है।

टिप्पणी—लाङ्गली='नारिकेलस्तु लाङ्गली'—इत्यमरः।

९२. सूर्य का विनाश हो गया। बरजोरी ज्येष्ठ मास से विरह हो गया (अर्थात् ज्येष्ठ मास समाप्त हो गया) बिखरे हुए, निराश एवं अनमने, नये मेघों के वक्ष पर तेजी से अपनी धार उठाये हुए, बिजली, रुधिर के समान लगती है।

नभोवारीरुद्धं सुरपतिधनुर्धातुनिकरैः
कृताभिज्ञानं यन्नवजलदवन्यद्विपकुलम् ।
नदत्युच्चैरेतत्कृतवनपरित्यागचपलं
स्फुरद्विद्युच्चक्रग्रहणविधिपाशे निपतति ॥६३॥

अम्भोभिः सह पद्मरागसरणिर्ग्रासीकृता वारिधे-
रुद्वान्ता पुनरिन्द्रगोपककुलव्याजेन मेघैरिह ।
तेनैषामुदरेषु रत्नविततिर्वान्तावशिष्टानव-
प्रोद्यद्भासुरवृत्रसूदनधनुर्व्याजेन संलक्ष्यते ॥६४॥

अनुत्तारं भूम्ना तिमिरचितमक्षय्यसलिलं
निशीथं कालेऽस्मिन्नहि मकर सञ्चारविभवम् ।
तरेयं सिन्धूनां पतिमिव यदि व्यायततरं
लभेयाहं देव्याः कुचकलससङ्घाटमुडुपम् ॥६५॥

६३. वायु मण्डल रूपी साँकल से अवरुद्ध इन्द्रधनुष के धातुओं के समूह से जो पहिचाना जाता था, ऐसा, वनैले हाथियों के झुंड के समान नया बादल, जोर से गड़गड़ाता हुआ और जो जल के निकल जाने के कारण हलका हो जाने से चपल हो गया था, लपलपाती हुई विजली के चक्र की पकड़ में फँस गया।

विशेष—वारी='वारीतु गजबन्धनी'—इत्यमरः=हाथी बाँधने की रस्सी या साकल।
'कृत वन परित्याग', श्लेष । वन=जंगल=जल-"पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्'—इत्यमरः ।
इस श्लेष में रूपक और श्लेष दोनों ही है ।

६४. समुद्र के जल के साथ, पद्मराग मणि के समूह को, मेघ निगल गये, फिर वीर बहूटी के बहाने उन्होंने उसे उगल दिया । अब उनके (मेघों के) उदर में जो वमन से बचा हुआ रत्न समूह था वह नये उगे हुए, चमकते इन्द्र धनुष के रूप में दिखाई पड़ता था।

टिप्पणी—इन्द्र गोपक=वीर बहूटी। एक लाल कीड़ा जो बरसात में पैदा होता है।

६५. इस समय कठिनता से कटने वाली, समुद्र के समान लम्बी रात को, जो घने अन्धकार से व्याप्त है, जहाँ अंधाधुंध पानी बरस रहा है और जहाँ मकर की आकृति के मेघ बहुतायत से घूम रहे हैं, उसे मैं पार कर सकता हूँ यदि कलश के समान स्तनों से समद्ध सीता रूपी भारी नाव मुझे मिल जाय।

टिप्पणी—इस श्लोक में श्लेष है : अहि=मेघ=सर्प–समुद्र के सम्बन्ध में (१) अनुत्तार=जिसका पार करना कठिन है (२) भूम्ना=विशाल। (३) तिमिरचित—भीमकाय मत्स्य से अलंकृत है। (४) 'अक्षय्य सलिलं'=जिसके जल का कभी क्षय नहीं होता (५) 'अहिमकर सञ्चारविभवं'=जिसमें सर्प और मकर का खूब सञ्चार है।

एवं सस्मरमन्तराकृतगिरं तुङ्गं गिरिं गौरव-
व्यालम्बाम्बुदशक्रनीलकलसोद्वान्ताम्बुधौतोपलम् ।
रामस्यावसतस्सतस्स्रुतपयः पातकणन्निर्झरं
कालः कालपयोदगर्जितजिताम्भोधिध्वनिर्निर्ययौ ॥६६॥

इति एकादशः सर्गः ।

६६. उस ऊँचे पर्वत पर, जहाँ (पानी के) बोझ से लटकते हुए बादलों के इन्द्रनील मणि के कलशों से उगले हुए पानी से चट्टान स्वच्छ हो गई थी, जहाँ बहते हुए जल के प्रपात से झरने झङ्कार कर रहे थे, वहाँ राम को रहते हुए और (सीता सम्बन्धी) आसक्ति की बातें करते-करते, वह वर्षा ऋतु जिसके प्रलय के समान मेघों ने गड़गड़ाहट से समुद्र के गर्जन को जीत लिया था, चली गई। (अर्थात् वर्षा ऋतु व्यतीत हो गई।)

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त।

अथ द्वादशः सर्गः

वनेऽथ लब्धावसरेऽवसेवितुं स्मरावहे राजसुताविनाकृतम् ।
अफुल्लपङ्केरुहकर्कशस्तनी शरत् प्रपेदे नृपवासवात्मजम् ॥१॥

सहस्ररश्मेरुपरोधनिर्गमान्नभस्य नाकुञ्चितरश्मिसम्पदः ।
ययुः खुरग्राहकमेघ कर्दमव्यपायनिस्सङ्गसुखं तुरङ्गमाः ॥२॥

दिशो यदि स्वं प्रथमोचितं वपुः पयोदनिर्म्मोकमुदस्य भेजिरे ।
जहौ किमिन्द्रायुधरत्नरञ्जितभ्रमत्तडिन्मण्डलमण्डनं नभः ॥३॥

घनव्यपायेन सुदूरमुत्सृताः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिभूषणाः ।
बभूवुरुत्तारमनोहरा दिशः समुद्रकान्ता इव निर्म्मलप्रभाः ॥४॥

१. तब अवसर प्राप्त होने पर, (अर्थात् वर्षा ऋतु के बीत जाने पर) कमल की कली के समान कड़े स्तन वाली, शरद् ऋतु उस कामोत्तेजक वन में, नृपों में इन्द्र के समान (दशरथ) के पुत्र (राम), जिनसे राजपुत्री (सीता) हर ली गई थी, के पास, सेवा के हेतु गई ।

टिप्पणी—गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है 'वर्षा विगत शरद् ऋतु आई'। पिछला सर्ग (११वाँ) वर्षा ऋतु के अन्त होने पर समाप्त होता है और यह सर्ग (१२वाँ) शरद ऋतु के आगमन से आरम्भ होता है।

२. रुकावट के निकल जाने से (अर्थात् बादल का अवरोध हट जाने से) आकाश में फैली हुई सूर्य की किरण-सम्पत्ति के कारण, खुरों के पकड़ने वाले कीचड़ के सूख जाने से, घोड़े निर्बाध चलने लगे ।

३. यदि दिशाओं ने बादल के केंचुल को फेंक कर, अपना पूर्ववत् शरीर धारण कर लिया तो क्या आकाश ने भी, इन्द्रधनुष के रत्नों से रञ्जित लपलपाती विजली के चक्र के अलङ्करण को त्याग दिया !

४. बादलों के चले जाने से दिशायें, जो बहुत दूर खिसक गई थीं, जो नाद करते हुए सारसों की पंक्ति से विभूषित थीं और जिनकी कान्ति निर्मल थी, वे बहुत ही मनोहर हो गईं ।

विशेष—'परिक्वणत्सारसपंक्ति मेखलैः'—किरातार्जुनीय, ८–९ —भारवि ।

प्रपेदिरे शोषमशेषमम्भसः क्षयेण केदारतलेषु शालयः ।
तपन्ति पादाश्रयिणामसंशयं विपत्तयो हि स्पृशतस्सशूकताम् ॥५॥

निजेक्षणस्पर्द्धि निकृत्य पङ्कजं दधुः शिरोभिः कमलस्य पालिकाः ।
विपक्षमुद्धृत्य नयन्ति यत्नतः पदं विशेषेण सदैव साधवः ॥६॥

सितच्छदे गायति तत्त्ववर्त्तिना लयेन कालस्य कुशेशयाकरः ।
सरोजपाणावनुपूर्व्वमुल्लसद्दलाङ्गुलीभिः कलनामिवाददे ॥७॥

सहैव वृष्ट्या पतितं महीतले सरो नभःखण्डमिव व्यराजत ।
प्रचण्डवातापगमेन निश्चलं प्रसन्नमन्तर्ज्जलदृष्टतारकम् ॥८॥

मणिप्रभेषु प्रतिबिम्बशोभया निमग्नया बालमृगाङ्कलेखया ।
विचिच्छिदे वारिषु वञ्चितात्मना न राजहंसेन पुनर्बिसाङ्कुरः ॥९॥

निपीड्य चञ्चवा कमलस्य कुड्मलं निबोधयामास बलेन सारसः ।
सुगन्धिगर्भं मुकुलीकृतं ह्रिया पतिः प्रयत्नादिव कन्यकामुखम् ॥१०॥

५. पर्वत के नीचे, पान के नितान्त अभाव से चावल के खेत सूख गये और वह पैदल चलने वालों के लिये एक विपत्ति थी। वे छू जाने पर काँटे की समानता करते हुए निस्सन्देह बड़ा क्लेश देते थे।

विशेष—'शूकोऽस्त्री श्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रे,' इत्यमरः ।

६. अपनी आँखों की स्पर्धा करने वाले कमल को तोड़ कर कमलवन की ओर टकटकी लगा कर देखने वाली स्त्रियों ने उसको सर पर रख लिया । सत्पुरुष लोग शत्रुओं का नाश कर उन्हें उचित पद विशेष देकर उनका उपयोग करते हैं ।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार ।

७. सरोवर ने, हंस गान के समय (शास्त्र) मतानुसार, लय के साथ, अपने कमल-हस्त की चमकती हुई पल्लवागुलियों से, मानो समपरिमित ताल दिया ।

८. वह सरोवर, वृष्टि के साथ गिरा हुआ, आकाश का एक खण्ड-सा लगता था, जो प्रचण्ड वायु के बन्द हो जाने से निश्चल था और जिसके स्वच्छ जल के भीतर तारिकायें दिखलाई पड़ती थीं ।

९. स्फटिक मणि के समान स्वच्छ जल में निमग्न बाल चन्द्र के प्रतिबिम्ब की शोभा से वञ्चित होकर राजहंस ने फिर कमल नाल के अँखुवा को नहीं कुतरा ।

१०. सारस ने अपनी चोंच से पीड़ित कर, कमल की कली को बल पूर्वक खोला । जैसे लज्जा से ढाँके हुए, कम उम्र वाली पत्नी के सुगंधित मुख को, पति बड़े यत्न से खोलता है ।

ततस्ततं धाम निरीक्ष्य शारदं कृतस्मरोद्दीप्ति महीभुजस्सुता ।
ऋतोरिदं वैभवशंसि हारिणश्चकार लक्षीकृतलक्ष्मणं वचः ॥११॥

पयोदकालस्य गतस्य विस्रसां घनच्छलेन प्रथितेषु सर्वतः ।
शिरोरुहेषु स्फटिकप्रभामुषः फलन्ति पालित्यकृता इव त्विषः ॥१२॥

प्रवासमालम्ब्य घनागमश्रियः पयोधरस्पर्शं वियोगनिस्पृहः ।
महीधरः स्वं शिखरावसङ्गिनं त्यजत्यसौ मत्तशिखण्डिशेखरम् ॥१३॥

विभान्त्यमी बालमृणालपाण्डुरा विसृष्टधाराः शरदभ्रसञ्चयाः ।
सुरेन्द्रचापेन विधूय सञ्चिता दिगङ्गनानामिव तूलराशयः ॥१४॥

११. काम को उद्दीप्त करने वाले, शरद् ऋतु के विस्तार को देख कर, राजपुत्री सीता लक्ष्मण की ओर लक्ष्य कर उस मनोहर ऋतु के वैभव की प्रशंसा करते हुए ये वचन बोलीं।

१२. वर्षा काल का बुढ़ापा आ जाने पर, चारों ओर फैले हुए, स्फटिक के समान श्वेत आभा को चुराने वाले, पलित केश् के सदृश, बादल, चारों ओर व्याप्त हो रहे हैं।

१३. बादलों की सम्पत्ति अब चली गई यह समझ कर, और उनसे बादलों से वियोग हो जाने के कारण अभिलाष-हीन, उस पर्वत ने, अपने शिखर के साथी (अर्थात् शिखर पर विचरने वाले) मद-मत्त मयूर का परित्याग कर दिया।

विशेष—श्लेष—पयोधरः=स्तन=बादल
इस श्लोक में समासोक्ति अलंकार है॥

"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंग विशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥

महीधर नायक है। उसे घनागमश्री नायिका का वियोग हो गया है। जैसे वियोग में, अभिलाषहीन नायक अपना शिरोभूषण, विक्षिप्तता में फेंक देता है वैसे ही महीधर नायक ने शिरोभूषण मयूर को त्याग दिया। शरद् ऋतु में मयूर की बेकदरी होती है और हंस का बोलबाला होता है।

"समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृत स्वरमयूर मयूरमणीयताम् ॥—माघ

१४. नये कमल नाल के समान श्वेत, शरद् ऋतु में धारा प्रवाह के समान फेंका हुआ, बादलों का समूह, ऐसा लगता था, जैसे इन्द्र धनुष से धुनका हुआ दिगाङ्गनाओं का रूई का ढेर हो।

श्रसौ नभस्सागरवीचिसन्ततिः प्रसन्नदिक्काननराजिलाङ्गली ।
प्रभाभिराम्रेड़ितशक्रकार्मुका तनोति तोपं जगतः शुकावली ॥१५॥

श्रमी समीराश्रयदूरपातिनः सरोजगन्धेन विकृष्टचेतसः ।
भ्रमन्ति हंसा हिमरश्मिरोचिपः सिताभ्रखण्डा इव मारुतेरिताः ॥१६॥

तनोति हासं विहतो विवस्वतो यदेप पादेन सरोरुहाकरः ।
जगत्प्रभावेण महद्भिरायतं कृतंपरीभावमपि प्रशंसति ॥१७॥

श्रमीपु वप्रस्य विपाण्डु बिभ्रतः शुचेव शोचिः सलिलेपु शालयः ।
श्रलङ्घ्यमागामि शुकाननाद्भयं विचिन्तयन्तीव विनम्रमस्तकाः ॥१८॥

सरोजमेकं प्रथमं समुद्गतं विभाति पद्माकर नाशनो घनः ।
गतो न वेतीक्षितुमम्बुजैः परै रुदेतुकामैः कृतमग्रतो यथा ॥१९॥

१५. यह शुकों की पंक्ति जो श्रपनी प्रभा से इन्द्रधनुप की प्रतिरूपता करती है, जो निर्मल दिशाश्रों की वनश्री नारियल के वृक्ष के स्वरूप है श्रौर जो श्राकाश रूपी सागर की लहरों की परम्परा के समान है, संसार मे श्रानन्द का संचार कर रही है ।

विशेप—"नारिकेलस्तु लाङ्गली"—इत्यमरः ।

१६. ये हंस, जो वायु के सहारे दूर-दूर तक फैले हैं, जिनका हृदय कमलों की सुगंधि से प्रलुब्ध हो गया है श्रौर जो चन्द्र-रश्मि के समान कान्तिमान हैं, वे वायु से प्रेरित, श्वेत बादल के खण्ड के समान लगते हैं ।

१७. यह कमलों का समूह सूर्य से पादाहत (श्लेप—पैर=रश्मि) होकर भी वायु के प्रभाव से सौंदर्य एवं सुगंधि का विस्तार करता है । बड़े लोगो से बहुत श्रपमानित होने पर भी प्रशंसा होती है।

विशेप—माटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ।
यत् पिपतामपि नृणां पिष्टोपि तनोपि परिमलैः पुष्टिम् ।

—पण्डितराज जगन्नाथ ।

१८. इस नदी तट पर जल में धान के पौधे जैसे सोच के मारे पीले पड़ गये हैं श्रौर श्राने वाले, दुर्निवार तोतों के मुख के भय से, जैसे चिन्ता से उनके मस्तक (श्रग्रभाग) झुक गये हैं ।

विशेप—तीनों फ़सल के लिये आपत्ति होते हैं । ईति=आपत्ति—

अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूपका : शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः पडेता ईतयः *स्मृताः ॥

१९. पहिले (जल के बाहर) एक कमल निकल कर खिला, जैसे बाहर निकलने की इच्छा करने वाले, श्रन्य कमलों ने उसे इस हेतु श्रागे कर दिया हो कि वह देख ले कि कमलों का नाश करने वाले बादल चले गये या नहीं ।

समुल्लसन्त्यो निजपत्रसञ्चयं शरद्घनासारनिषेकशीतलम् ।
सरोजमालास्तरुणार्करश्मिभिः प्रसारयन्तीव विशोषवाञ्छया ॥२०॥

न केवलं स्वं निरुणद्धि लुम्पतः स्वनेन शस्यं कमलस्य पालिका ।
इह प्रणुन्नान् पशुपक्षिणो गुणैर्विपाकभाजो हृदि शालिसम्पदः ॥२१॥

कृशस्य मध्यस्य भिदामुपाहरन्नियम्य हारेण वृहत्कुचद्वयम् ।
प्रमाणमुल्लङ्घ्य वपुर्विधित्सती विलोचने च श्रवणस्य सम्पदा ॥२२॥

विपाण्डुनो धामनि रोचिषः शुभे वलित्रये सङ्गतरोमसन्ततिम् ।
विवर्द्धमानेन च दूरमेष्यतीं कुचद्वयेनाभिनिपीड़ितान्तरम् ॥२३॥

मृणालनालाधिकमार्द्दवे भृशं प्रसह्य जङ्घे विपुलं पराभवत् ।
तटं नितम्बस्य च मेखलागुणैर्निबद्ध्य पीनोरुशुभं निषेधति ॥२४॥

२०. चमकती हुई कमलों की पंक्ति ने शरद् घन के जल पड़ने से शीतल, अपने पत्तों के समूह को तरुण सूर्य की किरणों से जैसे सुखाने के लिये फैला दिया है।

२१. वह खेतों की रखवाली करने वाली, चिल्ला-चिल्ला कर, न केवल अपने शस्य-धन को चुराने वालों को रोकती है वल्कि, भीतर से पकी हुई शालि-सम्पत्ति के गुणों से आकृष्ट, पशु-पक्षियों को भी दूर रखती है।

२२. दुबली-पतली कमर को टूटने से बचाने के लिये, (वह स्त्री) (अपने) विशाल स्तनों को हार से बांध कर रोकती है और दोनों आँखों को जो सीमा का उल्लंघन कर आगे बढ़ती जा रही थी अपनी कर्ण-सम्पत्ति से रोकती है।

विशेष—श्लोक २२, २३ और २४ विशेषक हैं। २४वें श्लोक के 'निषेधति' से इन श्लोकों का अन्वय होता है। विशेषक की व्याख्या २–१ में।

२३. गोरी और चमकती हुई त्रिवली से संलग्न रोम-रेखा को जो दूर तक (ऊपर) बढ़ती जा रही थी उसे भरते हुए अपने दोनों स्तनों से, जो आपस के संघर्ष से अन्तर को पीड़ित कर रहे थे, रोकती है।

२४. (वह स्त्री अपने) मोटे, विशाल एवं सुन्दर नितम्ब के किनारे को, जो कमल-नाल भी अधिक चिकनी जाँघ को बरबस दावे जा रहे थे (उसे) मेखला से बांध कर रोकती है।

अमी निरस्ता युवतीभिरग्रतः शुका विपन्नश्रियमप्यधिश्रिताः ।
वसन्तगम्यं गमयन्ति किंशुकं सपल्लवं कुड्मलमण्डितं वपुः ॥२५॥

वपुर्वहन्त्या शितिकण्ठसन्निभं त्रिकोपकण्ठे शरपाण्डुरत्विषि ।
इयं कवर्य्याऽसितपक्ष्मसंहतिव्युदस्तवन्धुच्युतया शिखण्डिनीम् ॥२६॥

प्रसर्पतः स्तम्बकरैर्निरन्तरं निगूढ़जानि कमलस्य कानने ।
रथाङ्गनामानमुदस्तवाससा कुचेन तत्प्राणसमानुकारिणा ॥२७॥

अनुव्रजन्त्या वकुलं विपक्वकं समस्तबद्धारुणिमाधरश्रिया ।
शुकं प्रसक्तश्रवणेन शिक्षितस्वयूथनिर्वासनवर्णसंहतिम् ॥२८॥

कुरङ्गशावं नवपल्लवश्रियं तरोरशोकस्य करेण बिभ्रता ।
विलोभयन्ती निजशस्यसम्पदः शनैरुदस्यत्यपरा पराभवम् ॥२९॥

नखेन कृत्वा नवचन्द्रसन्निभं निधाय बन्धूकदलं कपोलयोः ।
प्रियाय गोपी नखमार्गशङ्किने परस्यकोपं समुपाहरत्यसौ ॥३०॥

२५. खेत ताकने वाली युवतियों से आगे भगाये हुए ये तोते, (ऋतु के कारण) विपन्नावस्था को प्राप्त किंशुक वृक्ष पर बैठ कर ऐसा पल्लवित और पुष्पों से अलङ्कृत (सा) कर देते हैं जैसा वह वसन्त ऋतु में रहता था ।

२६. यह स्त्री जिसके नरकुल के समान गौर नितम्ब पर मयूर की आभा के समान, खुले हुए बाल बिखरे थे मयूरी का तिरस्कार करती है ।

२७. (एक स्त्री) शालिकानन के गुच्छ में निरन्तर घूमती हुई अदृश्य चकवी को उसके सदृश अपने खुले हुए स्तन से अनुकरण करती हुई चकवा की याद दिलाती है ।

२८. एक स्त्री जिसके लाल अधर विकसित मौलसिरी के फूल के समान लाल थे वह एक तोते को, जो बार-बार सुनने से अपने झुंड के तोतों को भगाने में शिक्षित था, अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी ।

२९. एक दूसरी स्त्री, मृग के बच्चे को, अशोक के कोमल पल्लव के समान सुन्दर हाथों से धीरे-धीरे ललचा कर अनाज के खेतों को खाये जाने से बचा रही थी ।

३०. नवोदित चन्द्रमा के समान चमकती हुई गुलदुपहरिया की पँखुरी को अपने नखों से तोड़, अपने गालों पर चपका कर, यह स्त्री अपने प्रिय को शठ नायक का कोपभाजन बनाती है ।

टिप्पणी—एक स्त्री के दो प्रेमी हैं। स्त्री ने गुलदुपहरिया के लाल फूल को काट कर गालों पर चपका लिया, जिससे नखक्षत का भ्रम होता था । एक नायक ने उसे देखा और दूसरे नायक ने नखक्षत किया है ऐसा समझ कर उस पर 'ईर्ष्या' से क्रुद्ध हुआ । यह भाव है ।

लिखन् खुरेण क्षितिमुग्रनर्दितः पतिर्गवामेष जयस्य शङ्कया ।
करोति रेखा नु विधित्सुराहवं द्विपद्वृषानाह्वयते नु संज्ञया ॥३१॥

असौ चरन्ती विसमास्यनिःसृतैस्तदङ्कुरैः कल्पितदन्तनिर्गमा ।
वराहधेनुस्तनयेन दूरतः समीक्ष्यते मत्तवराहशङ्कया ॥३२॥

उपेक्षते यः समरोद्यमक्षमां श्रियं प्रवृत्तामिति साधु शारदीम् ।
स यातु हन्ता समयस्य वानरः प्रबोधमित्थं प्रहतो वचश्शरैः ॥३३॥

विधाय संग्राहनिपातचूर्णितं रणे शिरस्त्वां तनुजो मरुत्वतः ।
नयन् करं दण्डधरस्य पातितो मया किमेतत्फलमस्य कर्म्मणः ॥३४॥

श्रियोपगूढः समये पयोमुचां विधाय भोगे महति स्थितिं चिरम् ।
न विप्रबोधं शरदोऽपि सङ्गमे भवानपूर्व्वः खलु सेवते हरिः ॥३५॥

३१. क्या यह साँड़ की शङ्का से, घोर नाद करता हुआ, खुर से पृथ्वी को कुरेद रहा है अथवा युद्ध की इच्छा करता हुआ वह (इस) इशारे से प्रतिद्वन्दी साँड़ों को बुला रहा है (चुनौती दे रहा है ?)

३२. कमल-नाल को चरती हुई, इस सुअरी के मुख से निकले हुए, उसके (कमल-नाल के) अँकुवा को, निकला हुआ दाँत समझ कर उसका (उस सुअरीका) बच्चा उसे दूर से मत्त सुअर समझ रहा है ।

३३. जो वानर, युद्ध की तय्यारी के लिये उपयुक्त शरद् ऋतु की सम्पत्ति के उपस्थित होने पर, उसकी उपेक्षा करता है वह अवश्य ही अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है । उसे जाग जाना चाहिये । निम्नलिखित बाण सदृश वचनों से उस पर (सुग्रीव पर) प्रहार किया गया ।

३४. तुम्हें युद्ध में लेजाकर और बालि के सिर को घूँसे से चूर-चूर करवा कर जो यमराज का हाथ उस पर गिरा है क्या वह उसके कर्म का फल है ?

विशेष—यह बालि के कर्म का फल नहीं है। यह मैंने किया है। यह भाव है।

३५. वर्षा ऋतु में चिरकाल तक, ऐश्वर्य में डूबे और खूब भोग विलास में फँसे आप अब शरद् ऋतु के आने पर भी नहीं जागते । (अतएव) आप अवश्य ही अपूर्व हरि हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में श्लेष है :—हरि=विष्णु=बन्दर। श्रिया=ऐश्वर्य से=लक्ष्मी से। भोगे=भोग विलास में=शेष नाग पर। पयोमुचां=वर्षा ऋतु में=क्षीर सागर में। क्षीर सागर में लक्ष्मी से सेवित, विष्णु तो शेष नाग पर केवल देवशयिनी एकादशी से देवोत्थान एकादशी तक सोकर उठ जाते हैं, आप अपूर्व हरि (वानर) है कि तब भी सोते रहते हैं ।

पदं नवैश्वर्य्यबलेन लम्भितं विसृज्य पूर्व्वं समयो विमृश्यताम् ।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धतिर्नवालिनैवाहिततृप्तिरन्तकः ॥३६॥

कृतं गुणेपु स्पृहया गुणव्रतैरवस्तुभावं गमयन्नसज्जनः ।
असंशयं व्यर्थपरिश्रमाहितप्रकोपदुष्टैः पुनरेव हन्यते ॥३७॥

गिरीन्द्रसारस्य गरीयसी गिरं ततः समाकर्ण्य नतस्समाहितः ।
कृतव्यलीकस्य वलीमुखप्रभोर्य्ययौ नयज्ञो भवनाय लक्ष्मणः ॥३८॥

अथ प्रमार्ज्जन्निपुधि महीभुजः सुतस्य संदेशमशेपमुद्धतः ।
दहन्नमर्पामलधूमरेखया स तं भ्रुकुट्या निजगौ कपीश्वरम् ॥३९॥

ततः स नीतावितिवृत्तविक्रियं प्रसाद्य रामस्य नमस्ययाऽनुजम् ।
कपिः स्व मेवं विनिनिन्द गर्वतो विनाशयन्तं समयं स्वयं कृतम् ॥४०॥

क्षमस्व वीरप्रवरातिकातरे शरासनाकर्पणकर्म्मणा किमु ।
भुजो भुजङ्गाधिपभोगसन्निभो जयत्ययन्ते भुवि भीतभीतिहृत् ॥४१॥

३६. नये ऐश्वर्य के तल से प्राप्त पाद को छोड़ कर पहिले की प्रतिज्ञा का स्मरण कीजिये। (समझ लीजिये कि) संसार को मारने की आतुरता जिसका क्रम है ऐसे यमराज को, केवल बालि को मार कर तृप्ति नहीं होगी। अर्थात् वह आपको भी मारेगा।

३७. गुण की स्पृहा से, गुणवान् पुरुषों से किये हुए उपकार को जो असज्जन पुरुष तुच्छ समझता है, वह व्यर्थ किये हुए परिश्रम-जनित कोप से निस्सन्देह मारा जाता है।

३८. हिमालय के समान पौरुष वाले (राम) की सार-गर्भित बात, नतमस्तक एवं एकाग्रचित्त होकर, नीति को जानने वाले लक्ष्मण, उस झूठे वानरों के स्वामी (सुग्रीव) के द्वार गये।

३९. तब वह उद्धत लक्ष्मण ने तरकश एवं अस्त्रों को चमका कर (उनसे लैस होकर) उस वानरों के स्वामी (सुग्रीव) से, जलते हुए क्रोध की स्वच्छ धूम रेखा के समान भृकुटी चढ़ा कर, राजपुत्र (राम) के सम्पूर्ण सन्देश को कहा।

४०. तब उस वानर (सुग्रीव) ने राम के छोटे भाई (लक्ष्मण) को जिनके साथ उसने दुर्व्यवहार किया था, पूजा के द्वारा प्रसन्न कर, स्वयं ही गर्व के कारण अपने किये हुए प्रतिज्ञा-भङ्ग की निन्दा की।

४१. हे वीरों में श्रेष्ठ ! क्षमा कीजिये। आपको धनुष खींचने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपकी सर्पराज के समान चमकती हुई भुजायें तो संसार के भय से कातर मनुष्यों का भय दूर करने के लिये हैं।

विलुप्तदुःखस्य तवाङ्घ्रिसेवया तवैव बाहुप्रतिबद्धसम्पदः ।
अयं प्रमादो मम सम्पदा कृतः शशिप्रभं तानयतीव ते यशः ॥४२॥

कृतानभिज्ञेऽपि मयि त्वया कृतं विचिन्त्य हृद्भूय उपैति मार्द्दवम् ।
अवैति नो वर्द्धयितारमङ्घ्रिपस्तथापि तं वर्धयिताऽनुकम्पते ॥४३॥

वदन्ति विद्यापरिशुद्धबुद्धयो यदादिमत् तन्नियतं विनाशवत् ।
अपि क्षणं जातमहो भवादृशो जनस्य शंसन्त्यविनाशिसङ्गमम् ॥४४॥

इहाधिपत्यं तव पादसेवया मयाऽनुभूतं च न चेह विस्मयः ।
वने वृकेणापि मृगेन्द्रसेविते न दुर्लभं हि द्विपराजशोणितम् ॥४५॥

मयि स्म मासीदवनेरधीशितुस्सुतेन तस्योपकृतस्य निष्क्रयः ।
जनो विपत्तौ भजते हि शक्तिभिर्विना कृतः प्रत्युपकारमन्यतः ॥४६॥

तनोति साधुः फलवन्धिलिप्सया विनैव पादाश्रयिणामुपक्रियाम् ।
क्षपाकराः किं कुमुदानि बोधयन् फलं ततो वाञ्छति किञ्चिदात्मनः ॥४७॥

४२. तुम्हारे चरणों की सेवा से मेरा दुःख दूर हुआ है। तुम्हारे ही भुजाओं पर मेरी सम्पत्ति निर्भर है। अपने ऐश्वर्य के कारण जो मुझसे प्रमाद बन पड़ा है वह तुम्हारे चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान यश का विस्तार करेगा।

४३. आपने मुझ ऐसे अकृतज्ञ व्यक्ति के साथ जो (उपकार) किया है उसे सोचकर फिर से हृदय गद्गद हो जाता है। वृक्ष अपनी वृद्धि करने वाले को नहीं जानता फिर भी वृद्धि करने वाला उस पर दया करता है।

४४. ज्ञान से परिशुद्ध बुद्धि वाले कहते हैं कि जिसका आदि है उसका अन्त निश्चित है। परन्तु उनका कहना यह भी है कि आप ऐसे व्यक्ति के साथ क्षण भर का भी मेल अविनाशी है।

४५. आपकी चरण-सेवा से इस संसार में मुझे राजत्व का अनुभव हुआ है, यह कोई विस्मय की बात नहीं है। जिस वन में सिंह रहता है उसमें शृगाल को भी हस्तिराज के रुधिर को पा जाना दुर्लभ नहीं है।

४६. पृथ्वीपति के पुत्र (राम) ने जो मेरे साथ उपकार किया है उसका बदला सम्भव नहीं है। परन्तु विपत्ति में शक्ति क्षीण हो जाने पर मनुष्य प्रत्युपकार का आश्रय लेता है।

४७. साधु पुरुष, अपने चरणों के आश्रित जनों का फल के प्रतिबन्ध की इच्छा के बिना ही उपकार करते हैं। चन्द्रमा जो कुमुदों को विकसित करता है वह क्या किसी फल की इच्छा से करता है?

स्थितो जनस्तेजसि तादृगात्मनो वृणोति कृत्ये न परं सहायकम् ।
तामिस्रभेदाय दिशः परिभ्रमन् नहि प्रदीपं भजति प्रभाकरः ॥४८॥

विचिन्त्यमाने गुणदोषमिश्रता न वै न सर्व्वत्र जने विभाव्यते ।
गुणापराधेषु जनस्य योऽधिकः स एव सद्भिः परिगृह्यते ततः ॥४६॥

अनन्यभक्तित्वमनिन्द्यसङ्गतं गुणं मदीयं विगणय्य दुस्त्यजम् ।
वसन्निहैवागमयस्व यावता पतन्ति कालेन वने वनौकसः ॥५०॥

इति प्रयुक्तैरनुनीय नीतिभिः सुतं नरेन्द्रस्य वचोभिरुद्धतम् ।
चचाल यूथाधिपतिर्वनौकसां गतेषु यूथेन दिनेषु केषुचित् ॥५१॥

पतिः कपीनामभि राममानतो नुनोद कोपं हृदि तस्य दुश्छिदम् ।
जनस्य चेतो दधतः समुन्नतं रुषः प्रणीवाकविधिः प्रतिक्रिया ॥५२॥

४८. अपने तेज में स्थित अर्थात् तेजस्वी पुरुष, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी की सहायता का आश्रय नहीं लेता । अन्धकार का नाश करने के लिये दिशाओं में भ्रमण करता हुआ सूर्य, प्रदीप की सहायता नहीं लेता ।

विशेष—"क्रिया सिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे" यह भाव है ।

४६. विचार कर देखने से मालूम होगा कि (मनुष्य में) गुण और दोष, दोनों का सम्मिश्रण रहता है (अतएव) सज्जन लोग मनुष्य में गुण अथवा दोष, जिसकी अधिकता होती है उसीको स्वीकार करते हैं ।

५०. मेरी अनन्य भक्ति एवं कभी न छुटने वाली, अनिंद्य मैत्री का जो मुझमें गुण है उसी को स्वीकार कर, यहीं ही रहते हुए तब तक प्रतीक्षा करें जब तक, वन के रहने वाले वानर, रीछ इत्यादि सब के सब इस वन में न एकत्र हो जायें ।

५१. इस प्रकार नीति से भरे वाक्यों का प्रयोग कर, उद्धत राजपुत्र (लक्ष्मण) से अनुनय कर वह वनौकसों के यूथ का स्वामी, कुछ दिनों के बाद (सबों के एकत्र हो जाने पर) अपनी सेना के साथ चल पड़ा ।

५२. वानरों के स्वामी (सुग्रीव) के राम के सम्मुख इस प्रकार नतमस्तक होने से, उनके हृदय का तीव्र कोप चला गया । उन्नत चेता के सामने नतमस्तक होना ही कोप का परिलोप होता है ।

विशेष—'प्रणिपात प्रतीकारः संरम्भोहि महात्मनाम्' यह भाव है । इस श्लोक के चतुर्थचरण में 'प्रणीवाक' के स्थान में 'प्रणीपात' ठीक लगता है ।

गयगवयगवाक्षनीलधूम्रान् पनसदरीमुखभीमवक्त्रतारान् ।
शरभवृषभकेशरीन्द्रजानून् नलकुमुदाङ्गदगन्धमादनाद्यान् ॥५३॥

इतरदपि कपिः कपीश्वराणां समुपनमय्य कुलं कुलन्दधानः ।
स्वयमपि निगदन्ननाम नाम क्षितिपसुताय सुतः समीरणस्य ॥५४॥

शतवलिविनतौ भिषक्-समीरप्रवरसुतौ स दिशः ससर्ज्ज गुप्ताः ।
घनविबुधपयः परेतनाथैर्जनकसुताविचयाय वानरेन्द्रः ॥५५॥

निरुद्धदशदिङ्मुखं दशमुखस्य वेत्तुं गतिं
कपिप्रभुविसर्ज्जितं जितमृगेन्द्र विस्फूर्ज्जितम् ।
चचार जनकात्मजासमुपलब्धिचिन्ताकुलं
कुलं तरलवीक्षणं क्षितिधरौकसां तत्क्षणम् ॥५६॥

इति द्वादशः सर्गः ।

५३-५४ गय, नर नीलगाय, गवाक्ष, नील धूम्र, पनस, दरीमुख, शूकर, भैंसे और सिंह के समान घुटने वाले, नल, कुमुद, अङ्गद और गन्धमादन आदि वानरों को, कुलपति पवनसुत हनुमान ने अन्य वानरों को ले जाकर और नाम बतला कर स्वयं भी प्रणाम किया ।

५५. वानर श्रेष्ठ सुग्रीव ने दिक्पालों से रक्षित दिशाओं में शतवलि को, उत्तर दिशा में, विनत को पूर्व दिशा में, सुषेण को पश्चिम दिशा में और हनुमान को दक्षिण दिशा में जनक सुता (सीता) को ढूँढने के लिये भेजा ।

विशेष—(१) 'घन नाथ' उत्तर दिशा अर्थात् धनाधिप कुबेर की दिशा । (२) विबुध नाथ = पूर्व दिशा अर्थात् इन्द्र की दिशा (३) 'पयःनाथ=पश्चिम दिशा अर्थात् वरुण की दिशा । (४) 'परेतनाथ'=दक्षिण दिशा अर्थात् यमराज की दिशा ।

५६. रावण की गति-विधि को जानने के लिये, दशों दिशाओं के द्वार को बन्द कर, उसी क्षण, वानरों के स्वामी (सुग्रीव) के भेजे हुए, वानरों के झुंड, जिन्होंने स्फूर्ति मे सिंह को जीत लिया था, जिनकी आँखें चौकन्नी थी और जो जनकसुता (सीता) को ढूँढ निकालने के लिये आकुल थे, घूमने लगे ।

बारहवाँ सर्ग समाप्त ।

अथ त्रयोदशः सर्गः

अथ तत्र भूधरशिरस्यधिकां समनुव्रजन् मनुकुलप्रभवः ।
विरहानलक्षततनुस्तनुतां गमयाम्बभूव निवसन्दिवसान् ॥१॥

अनिमीलितायतदृशोऽस्य चिरं कतरः प्रहार इति चोदयतः ।
स्फुटतारकेन्दुकुमुदाभरणाः शतयामिका इव निशा विगताः ॥२॥

नृपनन्दनेन मदनो विजितः प्रथमं मनोहररुचा वपुषा ।
दयितावियोगजनितेऽवसरे स तदाऽवधीदनुशयादिव तम् ॥३॥

परिशुष्यतः प्रववृते सलिलं नयनाद्दशाननरिपोरधिकम् ।
हृदयं विलोचनपयस्ततिभिः स्नपितं न तापमपि तद्विजहौ ॥४॥

न ददर्श मारुतिगतामुदिते नयनस्य वारिणि दिशं नृहरिः ।
न चकार राजदुहितुश्च शुचा गुणकीर्त्तितानि विधृते वचने ॥५॥

१. तब वह, मनुकुल के वंशज (राम) जिनका (सीता के) विरह के आघात से शरीर पहिले ही से बहुत घायल था और अब अधिक दुबला हो गया, उनको (वानरों को) थोड़ी दूर पहुँचा कर उस पर्वत पर दिन बिताने लगे ।

२. बड़ी-बड़ी अनिमेष आँखों से, बहुत देर तक यह विचार करते हुए कि अब कौन-सा प्रहार किया जायगा, विकसित तारिकाओं, चन्द्र और कुमुद से अलंकृत रातें ऐसी बीती जैसे एक-एक रात सैकड़ों रातें हो गई हों ।

३. राजपुत्र (राम) ने तो पहिले अपने सुन्दर शरीर की कान्ति से कामदेव को जीत लिया था । अब सीता के वियोग की स्थिति में कामदेव ने मानो बदला लेने के लिये राम पर खूब प्रहार किया ।

४. रावण के शत्रु (राम) की कुम्हलाई हुई आँखो से बहुत आंसू निकले । उन नेत्रों से निकले हुए आँसुओं से वक्ष भीग गया पर हृदय का ताप नहीं गया ।

५. उस नरसिंह (राम) ने, आँखों में आँसू आ जाने के कारण उस दिशा को नहीं देखा जिधर हनुमान गये थे और वाणी अवरुद्ध हो जाने से राजपुत्री (सीता) का गुणानुवाद भी नहीं कर सके ।

जगतीपतेरथ सुतः प्रभुणा विपिनौकसामभि शुचो मनसः ।
प्रविणोदनाय दयिताविरहव्यसनातुरो वच इदं जगदे ॥६॥

हरिराजवंशवसतौ वसुभिः परिपूर्णकन्दरदरीविवरे ।
जगतीधरे निपततामिह वः सरसीरुहद्युतिमुषी नयने ॥७॥

उदितो नु लङ्घनभिया पतता सततं समुन्नतवतः शिरसः ।
उदितो नु वीक्षितुमयं तरसा हरिणोऽस्ति नेत्युपरि किं शशिनः ॥८॥

अधिकुञ्जमस्य निपतद्धरितामनुरञ्जितः शुकमुखद्युतिभिः ।
खुरधूतधातुकणिकानिकरैस्तरुणायते परिणतोऽपि रविः ॥९॥

इममातपे रविमणिप्रभवज्वलनाभिदीपिततनुं सकलम् ।
शशिकान्तरत्नविसृतैरजनी शिशिरीकरोति पयसां निकरैः ॥१०॥

प्रतिनाग इत्यवगतस्तरसा मदहस्तिहस्तहतजर्ज्जरितः ।
इह तत्प्रकोपहुतभुग्घतये सलिलानि मुञ्चति यथा जलदः ॥११॥

६. पृथ्वीपति (दशरथ) के पुत्र (राम) से, जिनका हृदय पत्नी के विरह से पीड़ित था, (उनके) मन का दुःख कम करने के लिये सुग्रीव ने ये वचन कहे ।

७. (हे राम) आप अपने इन कमलों से अधिक सुन्दर नेत्रों से हमारे इस पर्वत को देखिये जहाँ वानरों के वंश रहते हैं तथा तेज किरणों से जिसकी कन्दरायें, घाटी और विवर भरे हुए हैं ।

८. चन्द्रमा में जो यह मृग है वह क्या हमें देखने के लिये उदय हुआ है अथवा हर समय सिर ऊपर किये इसका उदय इसलिये हुआ है कि वह देखता रहे कि कहीं उछलते हुए (वानर) इसे जल्दी से लाँघ तो नहीं जाते ।

९. इसके (पर्वत के) कुञ्ज के ऊपर ढलता हुआ, तोते की चोंच के समान द्युतिमान हरित घोड़े के खुरों से फेंके हुए धातुओं के कण-समूह से अनुरञ्जित, सूर्य, डूबते समय भी अधिक तेजस्वी हो रहा है ।

१०. धूप में सूर्यकान्त मणि से निकलती हुई अग्नि से तपे हुए पर्वत के सम्पूर्ण शरीर को, रात्रि, चन्द्रकान्त मणि से निकले हुए जल के समूह से ठंडा कर देती है ।

११. वेग से लगाये हुए, मदमत्त हाथी के सूंड के प्रहार से चोट खाए प्रतिद्वन्दी हाथी अपनी क्रोधाग्नि को शान्त करने के लिये, मेघ के समान जल छोड़ता है ।

अवजित्य खर्ववपुषः शिखरैर्हसतीव सोऽयमितरानचलान्।
स्फुटधातुलोहितदरीवदनस्थितहंसपंक्ति दशनद्युतिभिः ॥१२॥

स्रुतधातुपङ्क्तिततनुर्द्धरणीधरणक्षमो हरिवराहरुचम्।
अयमुद्वहत्यभिमुखापतिते दशनाकृतौ हिमरुचः शकले ॥१३॥

इह धातुसानुषु निषण्णदृशः शिरसि स्थितासितघनावलिषु।
मृगयोषितो जहति मुग्धधियो दवकृष्णपद्धतिभयं न चिरम् ॥१४॥

अधिशृङ्गमस्य रुचिभिः स्फुरितग्रहवृन्दसक्तशिरसस्तरवः।
परिफुल्लनीपतरुखण्डरुचां जनयन्ति चेतसि मदं शिखिनाम् ॥१५॥

शिखरेषु पङ्कजमणिप्रकरद्युतिरञ्जितच्छदमृतो दधते।
इह भूरिभूरुहलताततयः समये गतेऽप्यरुणपल्लवताम् ॥१६॥

अयमेष सोदकदरीवदन स्रुतधातुधौतकटुकावयवः।
प्रविभात्यसृक्स्रवपिशङ्गितनुर्युधि दानवद्विप इव प्रहतः ॥१७॥

१२. यह पर्वत अपने शिखरों की ऊँचाई से अन्य बौने पर्वतों को हराकर जैसे हँस रहा है। (हँसने के समय) स्वच्छ धातु से रंजित इसके विवर के मुख पर बैठी हुई हंस-पंक्ति, दाँत के समान शोभायमान हो रही है।

१३. यह पर्वत, जिसका शरीर (गैरिकादिक) धातुओं से रञ्जित है, हरि के वराह अवतार की शोभा धारण करता है। इसके सम्मुख उदित चन्द्र खण्ड दाँत के समान लगता है।

१४. यहाँ धातुओं से भरे पहाड़ पर आँख गड़ाये और सिर के ऊपर काले बादलों की पंक्ति के कारण, सीधी सादी हरिणियाँ दावाग्नि के काले मार्ग के भय को नहीं छोड़तीं।

विशेष—धातुओं के कारण पहाड़ के अग्नि के समान चमचमाते और ऊपर धुएँ के समान काले बादलों के होने से उसे दावाग्नि समझ कर बेचारी हरिणियाँ डरती हैं। यह भाव है।

१५. इस पर्वत की चोटी पर के वृक्ष, जिनके ऊपरी भाग से संलग्न, प्रभा से चमकते तारों का समूह है, (वे) पुष्पित कदम्ब वृक्ष की डाल के लोभी मयूरों के हृदय में मद का सञ्चार करते हैं।

१६. यहाँ शिखरों पर, माणिक्य के समूह की प्रभा से रञ्जित, बहुत से वृक्षों तथा लताओं की पंक्ति, समय बीत जाने पर भी, लाल-लाल पत्तों से भरी मालूम पड़ती है।

१७. जल से भरी गुफा के मुख से बहते हुए धातुओं से धुली हुई यह कुछ की डाली, रुधिर के बहने से लाल, युद्ध में मारे हुए दानव-हाथी के समान लगती है।

अयमर्कतापिततनुः शशिनः परिपीय सामृतकणानचलः ।
पुनरुद्वहत्युरुदरीवदनस्रुतनिर्भरच्छलभृतः किरणान् ॥१८॥

भृशमस्य गोपतिमणिप्रभवज्वलदग्धिविपिने शिरसि ।
चलनादुपाहितमसीमलिनं वहतीव शीतकिरणः करणम् ॥१९॥

मदहप्तनीलगलसंहतिभिर्हतभीतपन्नगगुणं तदितः ।
शिखरान्महीधरपतेररुणो रविवाहनं गमयति त्वरितम् ॥२०॥

स्रुतधातुलोहितममी जलदा अमितं निपीय सलिलं सरितः ।
अथ कल्पयन्त्यरुणकान्तिभृतः स्थिरसन्ध्यया परिगतं गगनम् ॥२१॥

परिधावतः शिखरिणः शिखरे वनदन्तिनः प्रति रिपुद्विरदम् ।
पवनैरसावुपहितो वदने जलदः क्षणं मुखपटो भवति ॥२२॥

गजभिन्नगैरिकरसारुणिताः सितपङ्कजैरनुगताः सरितः ।
नवबद्धरक्तवसनाकृतयः प्रविभान्त्यमूर्गिरिनितम्बगताः ॥२३॥

१८. यह सूर्य से तपाया हुआ पर्वत, चन्द्रमा के अमृतकणों को पीकर, अपनी विशाल कन्दराओं के मोहाने से बहते हुए झरनों के रूप में चन्द्र किरणों को फिर धारण करता है ।

१९. इसकी चोटी पर जहाँ सूर्यमणि के प्रभाव से जलती हुई प्रचण्ड अग्नि से दग्ध जङ्गल है वहाँ चलने के कारण, चन्द्रमा का शरीर जैसे काजल के समान काला हो गया है ।

२०. मदोन्मत्त नील (वानर विशेष) की गरदन से टकराने के कारण सूर्य के रथ में घोड़ों की पूंछ से संलग्न सर्प डर गये हैं, इसलिये सारथी अरुण, रथ को शीघ्र पर्वतराज के शिखर से अन्यत्र ले गया ।

२१. (पर्वतों से) बहते हुए गैरिकादिक धातुओं से रञ्जित, नदियों के जल को अत्यधिक पीकर ये अरुण कान्ति धारण करने वाले बादल, थोड़ी देर तक लाल रहने वाली सन्ध्या को आकाश में बहुत देर तक लाल रखते हैं ।

२२. पर्वत की चोटी पर शत्रु के हाथी पर झपटते हुए वन के हाथी के मुख पर, वायु से उड़ाकर लाया गया बादल, क्षण भर के लिये उसका मुख-पट हो जाता है ।

२३. हाथियों से चूर्ण किये हुए, गेरू से रञ्जित और श्वेत कमलों से अलंकृत, ये नदियाँ पर्वत की ढलवान पर नई पहिनी हुई लाल साड़ी के समान लगती हैं ।

विशेष—श्लेष : नितम्ब=ढलवान=नितम्ब

शिखरैकभागनिरतः पवनैरुपनीयतेऽयमुदधिं जलदः।
अवगाहपानविधये समदः प्रविमुच्य वृक्षत इव द्विरदः ॥२४॥

रदनक्षतक्षितिधरक्षतजस्रवसन्निभैररुणिता रदिनः।
कटकेषु धातुभिरिमे दधते तरुणारुणावृतपयोदरुचः ॥२५॥

इति भास्वतः सुतवरे वदति न्यपतत् पयोधरपथादभितः।
मधुकाननं हृतमधुप्रसभं प्रविधाय वेदितधृतिर्हनुमान् ॥२६॥

अशिवस्य जल्पनभियानिभृते दुहितुर्भुवो वरकपिर्नृपतौ।
प्रथमं शिवं समनुवेद्य पुनः सहविस्तरं वचइदं विदधे ॥२७॥

भवदाज्ञया दिशि परेतपतेर्जनकात्मजाविचयनेऽस्य मम।
तृणपर्णिकानि च विवर्तयतो विगता शरच्छशधराभरणा ॥२८॥

रविदग्धपक्षतियुगं विहगं प्रतिपद्य रावणगमे विदिते।
मकराकरं सपदि लङ्घयितुं मलयादगामथ महेन्द्रमगम् ॥२९॥

२४. शिखर के एक भाग में स्थित बादल को वायु, समुद्र की ओर, उड़ा कर ले जा रहा है, जैसे मत्त हाथी को वृक्ष से खोलकर स्नान एवं जलपान के लिये, जलाशय की ओर ले जाया जाता है।

२५. बलवान पर हाथी के दाँत की चोट से उत्पन्न, पर्वत-रुधिर के समान, गैरिकादिक धातुओं से अरुणवर्ण हाथी, प्रातःकालीन अरुण की प्रभा से रञ्जित बादलों के समान दिखते हैं।

२६. कान्तिमान, सूर्यपुत्र सुग्रीव यह कही रहे थे कि बादलों के मार्ग (आकाश) के निकट से, मधु से भरे उस जङ्गल से जबर्दस्ती मधु का अपहरण कर, धैर्यवान हनुमान कूद कर आ पहुँचे।

२७. कपिश्रेष्ठ (हनुमान) नृपति राम से जो पृथ्वी की पुत्री (सीता) के सम्बन्ध में कोई अमङ्गल बात सुनने के डर से सन्न थे, तब (हनुमान ने) पहिले कुशल-मङ्गल वार्ता को निवेदन कर तदनन्तर विस्तार से ये वचन बोले।

२८. आपकी आज्ञा से, जनक पुत्री (सीता) को ढूंढ़ने में यमराज की दिशा (दक्षिण दिशा) मे गया। वहाँ पर्णशालाओं तक में परिभ्रमण करते, चन्द्रदेव से अलंकृत शरद् ऋतु व्यतीत हो गई।

२९. सूर्य के ताप से झुलसे हुए जिनके दोनों पक्ष हैं ऐसे पक्षी (जटायु) के पास पहुँच कर और रावण के जाने का मार्ग जान कर मैं तुरन्त समुद्र को लाँघने के हेतु, मलयागिरि से महेन्द्रगिरि पर गया।

मयिकुर्वति क्रममथो चरणद्वयपीड़िताग्रशिखरः स गिरिः ।
स्रुतगैरिकोदकगुहावदनो वमति स्म शोणितमिव व्यथितः ॥३०॥

समरुध्यत क्रमभरोपहते चलिते नगे मम समुत्पतनात् ।
इतरेतराहतदलच्छिखरप्रभवेण वारिदपथो रजसा ॥३१॥

चलताचलेन तरसोपचिताः सरितो भुवि क्रमगतीर्विधुताः ।
प्रविहाय सागरजले पतिता नभसो गुरुध्वनिहतश्रुतयः ॥३२॥

तनुजायमानवपुषं क्रमशस्तमपश्यमुत्पतितवानचलम् ।
क्रमलब्धपीड़ितबृहच्छिखरं प्रविशन्तमाशिव महीमखिलम् ॥३३॥

उपविष्टकुञ्जरनिभाः पतता प्रविलोकिता दिवि मया गिरयः ।
तरवस्तृणैरुपमिताकृतयो हलचर्म्मतुल्यवपुषः सरितः ॥३४॥

३०. उस पर्वत पर घूमते हुए मेरे दोनों चरणों से, जिसका शिखर पीड़ित हो गया था, (ऐसा वह पर्वत) व्यथित होकर अपने कन्दरा रूपी मुख से गेरुआ मानो उगलने लगा।

विशेष—'वहति स्म'—सम्भवतः 'वमति स्म' है।

३१. मेरे कूदने तथा चलने से वह पर्वत चलायमान हो गया और शृङ्गों के एक दूसरे से भिड़ने के कारण, चोटियों के टूटने से निकली हुई धूलि से बादलों का मार्ग रुक गया अर्थात् आकाश भर गया।

३२. पर्वत के चलायमान होने से पृथ्वी पर नदियों में बाढ़ आ गई और वे ताड़ित होकर, अपने मार्ग को छोड़, समुद्र के जल में गिर पड़ी, और आकाश में गूँजती हुई उनकी तीव्र ध्वनि से कुछ भी सुनना असम्भव हो गया।

३३ जिसका आकार क्रमशः छोटा होता जाता था, जिसके बड़े-बड़े शिखर उसके (पहाड़ के) चलायमान होने से पिड़ित हो रहे थे, उस पहाड़ को उछल कर जैसे समूचा-का-समूचा मैंने पृथ्वी में धँसते देखा।

३४. आकाश में पहुँचने पर मुझे पर्वत, बैठे हुए हाथियों के समान, वृक्ष, तिनकों की आकृति के समान और नदियाँ हराई की लीक के समान शरीर वाली दिखलाई पड़ीं।

विशेष—पण्डित हरिदास शास्त्री द्वारा सम्पादित जानकीहरण में 'हल चर्म्म' पाठ है। के० धर्माराम स्थविर द्वारा सम्पादित और सिंहल भाषा में मुद्रित जानकीहरण में भी 'हल-चर्म्म' ही पाठ है। परन्तु यह लेखक के प्रमाद के कारण हुआ लगता है। क्योंकि 'हलचर्म्म' का कोई अर्थ नहीं बैठता। अतः मैंने 'हल कर्म' को ही स्वीकार करने का साहस किया है।

विषमा महानदनदीगहनैः समतामलक्ष्यत गता वसुधा ।
पृथुकन्दरस्फुटवतां विततिर्द्धरणीभृतामवगता मसृणा ॥३५॥

अथ लङ्घने सुरसया जलधेः क्षणविघ्नितो विहिततद्विजयः ।
पतितोऽहमद्रिशिखरे नखरक्रकचावपाटितशिलानिकरः ॥३६॥

दशकन्धरस्य भवनोपवनं प्रविचिन्वता त्रिजटयाऽनुगता ।
सुचिरादलक्ष्यत मया विरहज्वलनाहुतिर्नृपसुता भवतः ॥३७॥

तदीयमरुणत्विषी सततचिन्तया विभ्रतं
मुखेन्दुमवलोकयन् विगलदश्रुणी लोचने ।
कपोललुठितालकं व्रजति मार्द्रवं चेतसि
क्षपाचरगणः श्रुतं सपदि शकमुत्प्रेक्षते ॥३८॥

विकल्परचितं स्वयं दिशि भवन्तमालोक्य सा
चिरेण कृत इत्ययं स्मृतिपथे जनो निर्घृणः ।
खलु प्रजहती मुहुर्विरचिताञ्जलिर्विष्टरं
करोति तव विद्विषश्चकितदृष्टिकृष्टायुधान् ॥३९॥

३५. महानद, नदियों और जङ्गलों की ऊँची-नीची भूमि समतल दिखाई पड़ने लगी और कन्दराओं की पंक्ति बिलकुल चिकनी लगने लगी।

३६. तदनन्तर समुद्र लाँघने में, सुरसा के क्षण भर के लिए विघ्न उपस्थित करने पर, उसको पराजित कर, शिलाओं के समूह को आरे के समान नखों से चीर कर पर्वत के ऊपर पहुँच गया।

३७. रावण के महल के उपवन में ढूँढ़ता हुआ मैंने त्रिजटा (एक राक्षसी) के साथ, राजपुत्री (सीता) को, जो बहुत दिनों से, आपकी विरहाग्नि में आहुति के समान थी, देखा।

३८. निरन्तर चिन्ता के कारण जिसका शरीर ताम्रवत हो गया था, जिसके नेत्रों से आँसू गिर रहे थे, और जिसके केश बिखर कर कपोलों पर आ गये थे, ऐसी सीता के मुखचन्द्र को देख, चित्त में दुखी होकर निशाचरों के समूह ने, असम्पूर्ण चन्द्र की उत्प्रेक्षा की।

टिप्पणी—शकल=शकल=टुकड़ा=असम्पूर्ण। कपोलों पर केशों के बिखरने और आँसुओं के बहने से सीता का मुखचन्द्र असम्पूर्ण चन्द्र था। यह भाव है।

३९. उस सीता ने आपको अपनी कल्पना से दिशाओं में देख कर यह विचार किया कि इस कठोर पुरुष (राम) ने इतने दिनों बाद याद किया। राक्षस लोग उसे (सीता को) बार-बार आसन छोड़ बद्धाञ्जलि होते देख, चकित होकर, आयुध खींच लेते हैं।

टिप्पणी—सीता, राम को कल्पना में देखती है और आसन छोड़ बद्धाञ्जलि होकर बार-बार उठ खड़ी होती है तो पहरेदार राक्षस चकित होकर तलवार खींच लेते हैं।

भविष्यति पुनस्तव प्रियसमागमात् सम्मदं
शुचं परमचिन्तया हृतरतिः स्म मैवं गमः ।
इतीव रशनागुणः पतति पादयोर्निस्वनन्
विहाय तव योषितः प्रतिपदं नितम्बस्थलीम् ॥४०॥

प्रयाति विरहाहितस्मरहुताशनेन व्यथा-
मिहोपरचितस्थितिः प्रियतमः पुरा तप्यते ।
इतीव हृदयं चिरस्तिमितलोचनान्तच्युतै-
स्तनोति नयनाम्बुभिः श्वसितभिन्नधाराकणैः ॥४१॥

४०. तुम्हारे प्रिय (राम) से फिर तुम्हारा हर्षपूर्वक समागम होगा। तुम परम चिन्ता के कारण उदास होकर सोच मत करो, इस प्रकार जैसे झनझनाता हुआ तुम्हारी पत्नी की मेखला प्रतिपद पर उसके नितम्ब स्थल से सरक कर उसके चरणों पर गिरती है।

टिप्पणी—राम के वियोग से सीता कृशांगी हो गई है। उसके नितम्ब दुबले पड़ गये हैं। अतः जब वह चलती है तो मेखला नितम्ब से सरक कर खन-खनाती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ती है। मानो यह कह रही हो कि फिर तुम्हारा राम से समागम होगा। सोच मत करो, यह भाव है।

(२) व्याकरण के अनुसार 'सम्मद' : होना चाहिये तभी श्लोक के अन्वय करने में 'सम्मदः' ठीक बैठता है

४१. "मेरा प्रियतम (राम) मेरे हृदय में पहिले से बैठा हुआ विरह के कारण, कामदेव से जनित, अग्नि में तप रहा है" यह समझ कर (सीता) बहुत देर से मुंदी हुई आंखों से गिरते हुए आंसुओं से, जिनका प्रवाह उसके उभर-उभर कर सांस लेने से जर्जर-कण हो हो गया है, हृदय को सींचती रहती है।

टिप्पणी—इसी भाव को निम्नलिखित श्लोक में देखिये—

अंगानि मे दहतु, कान्त वियोग वह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुवारि
धाराभिरुष्णमभिसिञ्चति हृद्यदेशम्॥

इति व्यथितचेतसं समनुनीय पृथ्वीसुतां
धृतोच्छिखशिखामणिर्मणितपूरिताशामुखान् ।
निहत्य तव विद्विषो गगनमुत्पतन् भोगिभि-
र्नियम्य हरिवैरिणा हुतभुजाहमादीपितः ॥४२॥

सतैलपटवेष्टिता चटचटं स्फुटन्ती मृशं
ममावयवमञ्जरी क्षणमदाहि सख्या गुरोः ।
समीरणरणच्छिखापटलपातपीतामृजा
स्वकर्म्मनिरते जने नहि मृगायते सङ्गतम् ॥४३॥

४२. इस प्रकार व्यथितहृदया, पृथ्वीसुता (सीता) को आश्वासन देकर, मैं उसकी दी हुई चूड़ामणि को हाथ में लेकर आकाश में उछल कर पहुँच गया। वहाँ राक्षसों को जो चिल्लाने से दिशाओं को ध्वनित कर रहे थे मार कर मैं मेघनाद द्वारा नाग पाश मे बाँधा गया और मुझे आग लगा दी गई।

विशेष—देखिये रामचरितमानसः समुपनीय=जनक सुतहिं समुझाई करि बहु विधि धीरज दीन्ह। (२) 'धृतोच्छिखमणिः'=चूड़ामनि उतार तब दयऊ (३) 'भोगिभिः नियम्य' नागपास बांधेसि लै गएऊ।

वाल्मीकि के अनुसार हनुमान जी ब्रह्मास्त्र से बांधे गये थे—

"तेन बद्धस्ततोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः।"

४३. पिता (पवमान-पवन) के सखा (अग्नि), ने तेल से भिगोये हुए कपड़ों से लपेटी हुई मेरी पूँछ में, जो-फुरफुराती हुई, भयङ्कर रूप से चट-चटा रही थी और जिससे बहते हुए रुधिर को, वायु से प्रेरित और ध्वनि करती हुई अग्नि-शिखायें पी रही थीं—क्षण भर में आग लगा दी। जब लोग एक साथ मिलकर लगन से काम करते हैं तो ह्रास नहीं होता अर्थात् कार्य सिद्धि में देर नहीं लगती।

विशेष—देखिये रामचरितमानस :

"कपि की ममता पूंछ पर सबहिं कहौं समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ॥

वाल्मीकि : कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम्।
तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु॥

' व —री'—पं'।

स्फुलिङ्गहतनिस्वनद्युवतिवृद्धरक्षोद्यत-
क्षपाचरकुलाकुलं क्षुभितभीतगुञ्जद्गजम् ।
गृहव्यपहृताहितप्रचुररत्नरथ्यान्तरं
मया वियति वल्गता मुहुरकारि धाम द्विपाम् ॥४४॥

इतीरितमथापदाममृतबिन्दुनिष्यन्दि तन्-
निशम्य शमनं परं वचनमुन्नतस्तेजसा ।
जगाम सहसेनया नृपसुतः पयोधेस्तटं
तटाचलगुहाहृतप्रहितवारिवृद्धध्वनिम् ॥४५॥

जलधिरिषुणा भिन्नस्तस्मिन् महाय महीयसि
प्रथितमहसि प्रेमाकृष्टो विभीश्च विभीषणः ।
भुवनमहितो मर्य्यादायां स्थितेरनतिक्रमा-
ज्जनितयशसो गाम्भीर्य्येण त्वरितमुपेयतुः ॥४६॥

इति त्रयोदशः सर्गः ।

४४. लेलिहान ज्वाला-सम्भार के भयङ्कर शब्द से घबराया हुआ, युवति एवं वृद्ध राक्षसों का कुल, उठ खड़ा हुआ । भय से क्षुब्ध होकर हाथी चिग्घाड़ने लगे और नागरिकों ने घरों के भीतर से खींच-खींच कर, सड़क के मध्य भाग में प्रचुर रत्नों का ढेर लगा दिया । मैंने आकाश में घूम-घूम कर राक्षसों के धाम (लङ्का) को बार-बार इस हालत पर पहुँचा दिया ।

४५. इस प्रकार उन्नत तेजस्वी, हनुमान से, अमृत बिन्दु के समान रसीले, आपत्तियों को पूर्ण रीति से शमन करने वाले वचन को सुनकर, राजपुत्र (राम), समुद्र के तट पर जो किनारे पर स्थिति पर्वतों की गुफाओं से टकराते हुए जल के नाद से ध्वनित था, सेना सहित गये ।

४६. बाण चलाने के कारण जिसकी प्रकृति बदल गई थी वह, भयभीत समुद्र, अपने कल्याण के लिये, और विभीषण (राम के) प्रेम से आकृष्ट होकर, दोनों महान् आत्मा राम के पास आये, जो संसार में पूजित थे और जो गाम्भीर्य के लिये और जो मर्यादा के न उल्लंघन करने से जनित यश के लिये विख्यात थे ।

टिप्पणी—'भिन्नः' जिसका स्वभाव भिन्न हो गया था। देखिये रामचरित मानस :
"विप्र रूप आएउ सजि माना ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त ।

अथ चतुर्दशः सर्गः

अथ नृपोऽनुमतेन पयोनिधेर्नयघनैरभिमन्त्र्य हरीश्वरैः।
सपदि सेतुविधौ विधिकोविदं नलमयोजयदूर्जितविक्रमम् ॥१॥

नृहरिणा हरिणाधिपगामिना स्थितिभुजाऽतिभुजा गिरिदारणे।
कृतरसा तरसा कपिसंहतिर्हनुमताऽनुमता सहनिर्य्ययौ ॥२॥

तलगतं श्रमवारि करद्वयक्षतशिलानिकरस्य रजःकणैः।
समवधूय विधाय विधातरि प्रकृतिसिद्धिसुखाय नमस्क्रियाम् ॥३॥

रचितगर्ज्जितमूरुमुरुं दृढं समभिहत्य करेण सगर्ज्जितम्।
पटु नियम्य कटिं कठिनायतैर्विपुलपुच्छगुणैरकृतान्तरम् ॥४॥

बलविशेषपरीक्षणकारणं नद नदीशतनादिमहीभृतः।
समभिहत्य तटं रटनस्फुटस्फुटितशीर्णशिलानिकरं करैः ॥५॥

१. तदनन्तर नृप (राम) ने, नीति के जानने वाले कपीश्वरों से मन्त्रणा कर, उनकी सलाह के अनुसार, कार्य प्रणाली को जानने वाले, समृद्धिशाली, नल को तुरन्त सेतु बाँधने के लिये नियुक्त किया।

२. सिंहगामी, नरसिंह (राम) से प्रोत्साहित होकर, पहाड़ के तोड़ने में कर्तव्य परायण भुजाओं वाले वानरों का समूह, जिनकी भुजाओं में उत्कर्ष भरा था, अनुमति पाकर हनुमान के साथ चल पड़ा।

३. दोनो हाथों से तोड़े हुए शिला-समूह के कणों से तलुये के पसीने को पोंछ कर और विधाता को स्वाभाविक सिद्धि के सुख के हेतु नमस्कार कर,

४. गरजते हुए, अपनी दृढ़ जंघा पर, हाथ से ताल ठोंक कर ध्वनि उत्पन्न करते हुए और अपनी कड़ी एवं लम्बी-चौड़ी पूंछ की रस्सी से, बड़ी कुशलता से कमर को बांध, उसके मध्य भाग को मिटाते हुए,

५. सैकड़ों नद और नदियों से निनादित पहाड़ों पर, जो उनके बल के परीक्षण के कारण हो गये थे, तथा शिलाओं के समूह पर, जो किलकारी मार कर टूक-टूक कर दिया गया था, हाथों से आघात कर,

समवितानितहूंकृति वानरैर्विनमितस्य ररास महीभृतः ।
विपुलमूलविकम्पनकम्पिता विनमदुन्नमदंशधरा धरा ॥६॥

अथ विपाटय नदीरुचिरं चिरं दधतमग्र्यलताभवनं वनम् ।
अभृत नित्यगतेरसुतः सुतः प्रियतमो भुजवन्धनगं नगम् ॥७॥

ग्रहगणः शिरसा दिशि पातितश्चलितमूलधुतं सरसातलम् ।
अवनिमण्डलमाशु जगत्त्रयम् मथितमुद्धरणे धरणीधरैः ॥८॥

निकटभूधरपातरटत्तटस्फुटनसञ्जनितो गिरिनिस्वनः ।
वधिरतामनयद् वलवद् वलध्वनितसंवलितो वलयं दिशाम् ॥९॥

स्वनवता नवताड़ितभूरुहा सगवयागवयाः शिरसा मुहुः ।
द्विपतता पतता गिरिमेखला शकलिता कलितापजलाशया ॥१०॥

कपिभुजस्फुटपिष्टरवत्तटो विनमितः परिरभ्य महागिरिः ।
चलितधातुजलं विवराननादुदवमत्स्त्रवमुग्रमिवासृजः ॥११॥

६. वानरों के एक साथ हुंकार कर जोर लगाने से झुकाये हुए पहाड़ की विशाल नींव के हिलने से कम्पित पृथ्वी ने, जो ऊपर नीचे होते अंशों को सम्हाले थी, (चर-चरा कर) तीव्र ध्वनि किया ।

७. पवन के प्रिय पुत्र, निस्सन्तान हनुमान ने, सर्पों के भुज-बन्ध से युक्त, और नदियों से शोभायमान, पर्वत को देर तक चीर कर, लता-मण्डपों से भरे वन को उठा लिया ।

८. उठाये जाने के समय, सिर (की टक्कर) से दिशा में, नक्षत्रों के समूह को बिखेरते हुए, जड़ से हिल जाने के कारण कम्पायमान रसातल, पृथ्वी मण्डल एवं तीनों जगत को पर्वतों ने तुरन्त मथ डाला ।

९. निकटस्थ पहाड़ के गिरने के कारण, इस पर्वत के तट के टूट जाने से जनित, घोर शब्द ने दिशाओं के मण्डल को शब्दायमान करते हुए कानों को वधिर कर दिया ।

१०. जिसमें ध्वनि करते हुए, नये गिराये हुए वृक्ष हैं; जिसमें नर और मादा नीलगाय हैं; जिसमें कल-कल करते हुए जल से भरे सरोवर हैं, जहाँ हाथियों की पंक्ति सिर के बल गिर रही है, ऐसा पर्वत का ढलवान टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया ।

११. उस विशाल पर्वत को, जिसके तट, कपि (हनुमान) की भुजा से तोड़े जाने से चूर-चूर हो गये थे, जिसके गुफा रूपी मुख से बहता हुआ (गैरिकादिक) धातुओं का जल, रुधिर के उग्र स्राव के समान उद्वमित हो रहा था, (ऐसे पर्वत को) लपेट कर झुका दिया ।

फणिनि मूलमधः परिकर्षति प्रसभमुत्क्षिपति प्लवगे शिरः ।
गुरुरवं दिशि भैरवमुत्सृजन्नुपतटं त्रुटति स्म धराधरः ॥१२॥

विनमितस्य करेण महाहरेः क्षितिभृतो गुरुमूलतलोपलः ।
समुदियाय सपत्तनकाननं पटु विपाट्य भुवस्तलमन्यतः ॥१३॥

क्षितिधरे चितरेचितनिर्झरे रुतमतन्वति तन्वति कम्पिते ।
सपदि गौ रवगौरवसंहिता भृशमकम्पत कम्पतदाकुला ॥१४॥

समुपगूढतटो हरिणा दृढं गिरिरुदारदरीमुखतो रसन् ।
रसनमुग्रमिवाजगरं निजं क्षणमलम्बयदर्द्धविनिर्गतम् ॥१५॥

अहिकुलं ददृशे मणिभास्वति क्षितिधरोद्धृतिरन्ध्ररसातले ।
सरुधिरव्रणगर्भविभावितं विपुलमन्त्रमिव स्फुरितं भुवः ॥१६॥

घनरसातलपङ्कवृतोपलश्रितवृहत्तनवो विललम्बिरे ।
चपलमूलशिखा इव भोगिनः क्षणमुदस्य धृतस्य महीभृतः ॥१७॥

१२. वह पर्वत जिसके मूल को शेषनाग नीचे खींचते और कपि (हनुमान) सिर को झटक कर ऊपर खींचते थे, दिशाओं में भयङ्कर नाद का विस्तार करता हुआ तट के निकट टूट गया।

१३. (एक ओर) महावीर कपि की भुजा से झुकाये जाने पर, उस पर्वत की नींव की भारी चट्टान, (दूसरी ओर) आस-पास के नगरों के सहित उस वन को बड़ी सफ़ाई से चीर कर पृथ्वी के नीचे से ऊपर आगई।

१४. पर्वत पर, हिल्लोर मारते हुए झरनों की ध्वनि के विस्तार के कारण, कम्प से व्याकुल, पृथ्वी, सहसा अत्यन्त काँपने लगी।

१५. कपि (हनुमान) ने जिसके तट को दृढ़ता से छाप लिया था, ऐसे गरजते हुए पर्वत ने, अपने विशाल गुफा रूपी मुख से, क्षण भर में, लम्बी जीभ के समान, आधा बाहर निकाले हुए अजगर को लटका दिया।

१६. पहाड़ के उखड़ने के कारण, रसातल के विवरों के ऊपर खिंच आने से, वहाँ के रहने वाले सर्पों का समूह, जो रुधिर से सने हुए घाव के गढ़ों से भरा था, पृथ्वी की लम्बी आँत के समान चमकता हुआ दिखलाई पड़ा।

१७. रसातल के घने कीचड़ में सने हुए चट्टानों पर अधिष्ठित वृहदाकार पर्वत, खींच कर पकड़े हुए सर्पों की चञ्चल पूँछ के समान लटक रहे थे।

घनमिते नमिते गिरिसञ्चये वरवयोरवयोगशुभद्रुमे ।
स्रुतदकं तदकम्पत मण्डलं कृतरुतं तरुतन्त्रधरं भुवः ॥१८॥

स्फुरितपङ्कजरागमणित्विपि व्यपहृताचलधामनि भैरवा ।
मशिरलक्ष्यत रत्नचिता क्षितेर्हृदयमांसमिवासृजि संप्लुतम् ॥१९॥

अगमयन्निवदुर्द्धरविग्रहाः शिखरिणः कपिसैन्यसमुद्धृताः ।
स्वपरिणाहनिराकृतमम्बरं निजसमुद्धृतिरन्ध्ररसातलम् ॥२०॥

द्रुततरं तलरन्ध्रशताननैर्ध्वनिकरं निकरं धरणीभृताम् ।
गुरुतरं रुतरङ्कमृगं धृतद्रुमधुरं मधुरं शिखिवल्गितैः ॥२१॥

रवितुरङ्गखुराहतमस्तकं ध्वनिकृतः परिगृह्य वनौकसः ।
पदभरेण ययुस्तटमम्बुधेर्विनमितोन्नमितक्षितिमण्डलम् ॥२२॥

नियतमेष पयोधिमगाधिपः पिबति सर्वमसङ्ख्य गुहामुखैः ।
इति चिराय सविस्मयमीक्षितो नृपसुतेन समीरणनन्दनः ॥२३॥

१८. जिसमें अनगिनती, गिरे हुए पर्वतों का समूह था, जो बेहद घने वृक्षों के समुदाय को धारण करता था, जो गौरैया पक्षी के चहचहाने से शोभायमान था, ऐसा पृथ्वीमण्डल वेदना से काँपने लगा ।

१९. चमकते हुए पद्मराग मणि की प्रभा से युक्त, उखाड़े हुए पर्वत के तल की भूमि, भयङ्कर स्याही के समान दिखलाई पड़ी, जैसे वह रत्नों से जड़ी पृथ्वी के हृदय का, रुधिर से सना हुआ मांस हो ।

विशेष—मशि=मसि=स्याही । देखिये परिशिष्ट—असाधारण शब्द और उनके अर्थ ।

२०. वानर सेना से उखाड़े हुए, भयङ्कर आकार वाले पर्वत, अपनी विशदता से आकाश को तिरस्कृत करने वाले, और जिसके विवर खुल गये थे, रसातल में जाते हुए लगते थे ।

२१. सैकड़ों विस्तृत गुफाओं रूपी मुख से, घोर नाद करने वाले पर्वत समूह को, जहां रङ्क (पहाड़ी) मृग चिल्ला रहे थे और जहां वृक्षों की धुरी पर सुन्दर मयूर नाच रहे थे ।

२२. सूर्य के घोड़ों के खुरों से जिसका मस्तक आहत था, ऐसे पृथ्वीमण्डल को पकड़ कर, उसे झुकाता और उछालता वह वानर (हनुमान) गर्जता हुआ समुद्र तट पर आ गया ।

२३. यह पर्वत अपने असंख्य गुफा रूपी मुखों से सागर को पी जायगा, यह विचार कर राजपुत्र (राम) विस्मय के साथ, बहुत देर तक हनुमान की ओर देखते रहे ।

अथ ससर्ज स सर्जवनाकुलं द्युतिमदभ्रमदभ्रमदद्विपम् ।
भयसरोगसरोगतपन्नगं पथि घनस्य घनस्यदनादिनम् ॥२४॥

तटयुगाततवारिदपक्षतिर्गुरुदरीमुखलम्बितपन्नगः ।
अनुचकार पतत्पतिमुत्पतन् फणधरोद्धरणे धरणीधरः ॥२५॥

क्षितिभृताऽभिहतादथ वारिधेःसमुदिताऽभिविहत्य विरोचनम् ।
अकृतमीनकुला कुलितान्तरा गुरुपयस्समितिर्जमितिध्वनिम् ॥२६॥

अभिहतो गिरिणा बड़वानलप्रबलरोषधरो जलधिद्विपः ।
रचयति स्म सुवेलमहातरौ नियमितस्थित एव गतागतम् ॥२७॥

उपलसङ्कटकैः कटकैस्तताः कपिबलेन नगा न न गात्रगाः ।
पथि रवेरविताः रविताण्डजाः कृतरवं समुदा समुदासिरे ॥२८॥

प्रविदधुर्गिरिभङ्गसमुत्पतद्द्विविधधातुरजांसि मरुत्पथम् ।
सपदि चित्ररुचं घुणविक्षतत्रिदशचापकणा इव विच्युताः ॥२९॥

२४. तब उसने (हनुमान ने) चमकते हुए आवर्त (भँवर) से युक्त समुद्र के, चिंघाड़ते हुए मतवाले हाथी के समान, भय से पीड़ित करने वाले और तपते हुए पर्वत को, बड़े वेग से मेघों के मार्ग में (अर्थात् आकाश में) फेंका।

२५. वह पर्वत जिसके दोनों तट पर बादलों की पंक्ति थी और जिसके विशाल गुफा रूपी मुख से सर्प लटक रहा था ऐसा लगता था जैसे सर्पों को खींच कर निकालने के लिये झपटता हुआ पक्षिराज (गरुड़) हो।

२६. इसके बाद पर्वत से प्रताड़ित एक विशाल जल-राशि सूर्य से टकराती हुई समुद्र से ऊपर की ओर उठी। उसने जल के भीतर मीन-कुल को आकुल कर दिया और सम् सम् की घोर ध्वनि की।

२७. बड़वानल के भयङ्कर क्रोध वाले समुद्र रूप हाथी ने पर्वत से पिटने पर सुवेल पर्वत के विशाल वृक्ष के निकट ही अपने आने-जाने (घूमने) की व्यवस्था कर ली।

टिप्पणी—सुवेल=लंका का त्रिकूट पर्वत।

२८. उस पहाड़ की, विशाल चट्टानों से भरी चढ़ाइयाँ कपि-सेना से भर गई थी। वे सब पर्वत के शरीर ही पर थे। मार्ग में सूर्य से रक्षित, चह-चहाने वाले पक्षी, प्रसन्न होकर कलरव करते हुए वहाँ (उस पर्वत) पर आ बैठे।

२९. पर्वत के टूटने से उड़ी हुई, दो प्रकार के धातुओं की रंगीन धूलि ने, देवताओं के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया और तुरन्त उसे रञ्जित कर वह, घुन से खाये हुए इन्द्रधनुष से झरे हुए कण के समान गिरने लगी।

हृतसमुत्पतितोदकसन्ततिस्फटिकदण्डयुगं क्षणमाबभौ ।
किरणमौक्तिकजालवृतं सदा सकलचन्द्रसिता तपवारणम् ॥३०॥

प्रथममुद्गतवारिततिः पतदिगरितटाहतकोटिरुदन्वतः ।
क्षणमरोचत वृष्टिषु बिभ्रतो भुज इवाद्रिवरं मुरविद्विपः ॥३१॥

हृतकपोतकपोतगलच्छविः परिततान तता नगसम्प्लवे ।
द्रुतवितानवितानमभिस्फुटत्तटपरागपरागततिर्नभः ॥३२॥

पतितशैलगुहाशतपूरणे रजतशैलनिभो जलबुद्बुदः ।
जलनिमग्नसुरद्विपपुष्करश्वसितसृष्ट इवाम्बुनि पप्रथे ॥३३॥

३०. टक्कर खा कर गिरती हुई जल की धारा, जो स्फटिक के डंडे के समान लगती थी, उससे संलग्न, किरणों के मोती की झालर से परिवेष्टित, पूर्णचन्द्र, श्वेत-छत्र के समान क्षण भर में शोभायमान हुआ ।

विशेष—'स्फटिक दण्ड युगं' पाठ अशुद्ध लगता है, 'स्फटिक दण्ड युतं' अधिक ठीक बैठता है। एक पूर्ण चन्द्र है तो छत्र के लिये एक ही डंडा होना चाहिये।

३१. समुद्र से उछलता हुआ वारि-समूह, जो गिरने के समय पर्वत के तटों पर टकरा रहा था, क्षण भर के लिये ऐसा दिखलाई पड़ा मानो मुर राक्षस के शत्रु कृष्ण की पर्वत-श्रेष्ठ (गोवर्धन) को उठाती हुई भुजा हो ।

३२. पर्वत के जल में डूबने के समय, कबूतर के कपोत-वर्ण गर्दन के समान कान्ति वाली, पर्वत तटों पर प्रकाशमान, राग-रहित पुष्परज का ढेर, द्रुतगामी पक्षि-समूह रूपी मण्डल युक्त आकाश में फैल गई ।

टिप्पणी—परागपराग=अपराग+पराग । "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । अपं चैव हलन्तानां यथा वाचानिशा दिशा।" भागुरि के अनुसार 'अप' उपसर्ग का 'अ' लुप्त हो जाता है।

३३. गिरे हुए पर्वतों के सैकड़ों गुफाओं के झरनो से, चाँदी के समान चमचमाता, जल-बुदबुद ऐसा फैला जैसे वह जल मे निमग्न, देवताओ के हाँथी के सूंड के निश्वास से उत्पन्न हुआ हो ।

प्रचलतुङ्गतरङ्गदलान्तरस्फुरितविद्रुमकेसरसम्पदि ।
क्षुभितसिन्धुसरोरुहि कर्णिकावपुरुवाह पतन् कनकाचलः ॥३४॥

कपिधुताचलघातसमुत्पतज्जलधिखण्डनिरस्तनिपातितः ।
भुवि विवेष्टनपिष्टगिरिद्रुमः पृथुतनुः स्फुरतिस्म तिमिङ्गिलः ॥३५॥

असमकं समकम्पत वारिधेः स्वरचिता रचिता ततिरूर्म्मिभिः ।
अहितताऽहिततालकृतध्वनिर्वलयिनी लयिनीव भुजावली ॥३६॥

बिससृपुः सितशङ्खविभक्तयः सलिलवेगधुताः परितस्तटम् ।
शिखरिणाभिहतस्य पयोनिधेर्विदलितास्थिलवा इव भूरिशः ॥३७॥

गिरिहतक्षुभितो मकराकरस्तटभुवं परिलङ्घ्य कटु क्वणन् ।
अपससर्प्प नगोद्धरणाहितप्रकटरन्ध्रनिपीततनूकृतः ॥३८॥

३४. चञ्चल एवं उत्तुङ्ग तरङ्गों के समूह के गर्भ में देदीप्यमान, विद्रुम के पुष्प-पराग से विभूषित, और कमल से भरे क्षुब्ध समुद्र में गिरने पर वह सुवर्ण-पर्वत, कर्ण-कुंडल की आकृति धारण करने लगा।

विशेष—सागर में कमल नहीं होता। परन्तु यह कवि समय-स्थापना के नियमानुसार कहा जाता है। राजशेखर 'काव्य मीमांसा,' में कहते हैं :
"तत्र सामान्य स्याऽसतो निबन्धनं यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि,
जलाशय मात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषुसुवर्ण रत्नादिकं च।"
जाति गत अर्थ में असत् के दो उदाहरण हैं। जैसे नदियों में कमल आदि जलाशयों में हंस आदि, सब पर्वतों में रत्न आदि, ये सब असत् हैं पर समयानुसार, उनका वर्णन आवश्यक होता है।

३५. हनुमान के टक्कर मारने से, समुद्र में पर्वत के गिरने के कारण, समुद्र के उस भाग से उछाल कर फेंका हुआ, तिमिङ्गिल (भीमकाय मत्स्य) पर्वत के वृक्ष को दाप कर पीसता हुआ, पृथ्वी पर थरने लगा।

३६. समुद्र की लहरों की झनझनाती हुई राशि, श्रीकृष्ण की, तालयुक्त ध्वनि वाली (जिसमें ताल का निर्वाह था) कङ्कण सहित भुजावली के समान ऊपर-नीचे कांप रही थी।

टिप्पणी—अहि=कालिय+तत=फण+अहित=शत्रु=श्रीकृष्ण

३७. जल के वेग से तट पर चारों ओर फेंके हुए, श्वेत-शंख के खण्ड, ऐसे लगते थे जैसे पर्वत के आघात से टूटी हुई, समुद्र की हड्डी के बहुत से टुकड़े, बिखरे हों।

३८. पर्वत की चोट से क्षुब्ध, वह समुद्र कटुध्वनि करता हुआ, तट की भूमि को लांघ कर, पर्वत के उखड़ने से जनित, गड्ढे के बहुत सा पानी पी जाने के कारण, दुबला होकर (पीछे लौट आया)।

विशेष—समुद्र में पर्वत के गिरने से उसका जल बढ़ा और वह तट को लाँघ गया। परन्तु पर्वत के उखड़ने से इतना बड़ा गड्ढा हो गया कि उसमें बहुत-सा जल समा गया और समुद्र छोटा हो गया। यह भाव है।

उदपतत्कपिघूर्णमहीधरक्षुभितभिन्नमहार्णवकन्ततिः ।
निहतये नु विरोचनतेजसः शशिनि लक्ष्म नु मार्ष्टुमसङ्गिनी ॥३९॥

क्षितिधराहतदूरसमुत्प्लुतप्रबलवारिरयेण निपातितः ।
तटवनानि ददाह महोरगस्तनुभरेण रुजन् विषवह्निना ॥४०॥

अधिपयोधि नभश्चरसंहतिर्नभसि मीनततिर्भुवि तद्द्वयम् ।
इति जगत्त्रितय कपिभिः क्षणाद्विवशजङ्गमवृत्तिविमिश्रितम् ॥४१॥

उपनिपेदुरदृष्टतटद्वयं नभसि दीर्घपरिभ्रमणातुराः ।
सलिलवेगवशेन परिभ्रमन्महिषशृङ्गवनेषु शिखण्डिनः ॥४२॥

मकरकृत्तकरस्य करश्रियं प्रतरतो रदिनः पुनरादधौ ।
क्षतजगन्धहृतः सरसव्रणग्रसनगृध्नुरहिस्तनुसम्पदा ॥४३॥

३९. हनुमान के कूदने से चक्कर खाये हुए पर्वत से क्षुब्ध, सागर की भिन्न की हुई लहरें, क्या अग्नि (वाड़वाग्नि) का शमन करने के लिये है अथवा समुद्र से विरक्त होकर चन्द्रमा के लाञ्छन का प्रक्षालन करने के लिये है।

४०. पर्वत से आहत होने पर, दूर तक प्रसारित, प्रचण्ड वायु के वेग से गिरे हुए, विशाल अजगर ने, अपने शरीर के भार से तट से संलग्न वन को टूक-टूक करते हुए, उसे अपने विष के अग्नि से जला डाला।

४१. (जब इतना उथल-पुथल हुआ) तब समुद्र के ऊपर पक्षियों का समूह, आकाश में मछलियों का समूह, और भूमि पर पक्षिगण और मछलियाँ दोनों फैल गईं। इस प्रकार तीनों जगत, बन्दरों की करतूत से ऐसे हो गये जैसे सब जीवों का रहन-सहन उलट-पुलट गया हो।

४२. बहुत देर से आकाश में उड़ने के लिये आतुर, मयूरों का समूह, दोनों तटों को न देख कर, जल के वेग के कारण झुंड के झुंड घूमते हुए भैंसों के सींगों पर बैठ गये, जो सींग के जंगलों जैसे दीख रहे थे।

४३. घड़ियाल से काटे हुए (जल में) उतराते हुए हाथी के सूँड़ के समान वह जल-सर्प, अपनी शरीर-सम्पत्ति से चमचमाता हुआ दिखलाई पड़ा। और चुटहिल हाथी के बहते हुए रुधिर की गंध से आकृष्ट होकर, उसको चाटने की इच्छा से वह सर्प हाथी की ओर बढ़ा।

निनदता नदताड़ितमेखलं विगलताऽगलतावृतसानुना ।
असुभुजा सुभुजाऽसुरसंहतिः प्रविदिता विदिता दिशि भूभृता ॥४४॥

अथ निरीक्ष्य चिरं हरिचेष्टितं सपदि वन्ध्यमवन्ध्यपराक्रमः ।
इदमुवाच गभीरतया जितक्षुभितसिन्धुरवं नृवरो वचः ॥४५॥

इह गिलन्ति तिमिङ्गिलपङ्क्तयः क्षुभितसम्पतितास्तिमिशङ्कया ।
सलिलधौ तिमितं तिमितं नगं त्यजत सेतुविधानमनोरथम् ॥४६॥

गिरिकुलानि कुलानि समीरणक्षुभितरङ्गितरङ्गिजलोच्चयम् ।
शरभवन्ति भवन्ति न किञ्चन द्विपहितानि हितानि महोदधिम् ॥४७॥

अयमुपाहितसेतुरकम्पितस्थितमहातिमिदेहमहीधरैः ।
बलमिदं सकलं शरताड़ितो नयतु वारिधिरेव परं तटम् ॥४८॥

मकर दन्तिगतो नृपलीलया जलधिमुत्तरतु प्लवगेश्वरः ।
भुजगसैन्यवृतः स्फुटविद्रुमद्रुमवनं रदनेन विभञ्जयन् ॥४९॥

४४. ध्वनि करते हुए नद जिसके ढलवान पर टक्कर मार रहे थे, जिसके शृङ्गों के ऊपर की समतल भूमि वृक्षों और लताओं से भरी थी और जिससे पानी निरन्तर वह रहा था, ऐसे पर्वत के सामने उन असुरों के समूह जो अपनी सुन्दर भुजाओं के लिये दिशाओं में प्रख्यात था।

४५. तदनन्तर, हनुमान ने जो कुछ उद्योग किया था उसे देर तक सोच-विचार कर, नरश्रेष्ठ रामचन्द्र, जिनके पराक्रम को कोई बांध नहीं सकता था (अर्थात् असीम था), गम्भीरता में क्षुब्ध समुद्र के गर्जन को जीतने वाले वचन बोले।

४६. यहां गिरकर क्षुब्ध और थर्राती हुई तिमिङ्गि की पंक्ति ने, समुद्र में सेतु बांधने के लिये फेंके हुए, निश्चल और तिमि के समान भारी-भरकम पहाड़ को तिमि की शङ्का से निगल कर बाद में उगल दिया।

टिप्पणी—तिमि=भीमकाय मत्स्य। तिमिगंल=तिमि से अधिक भीमकाय मत्स्य जो 'तिमि को भी निगल जाता है।

४७. प्रचण्ड आंधी के कारण जिसमें क्षुब्ध एवं लहराती हुई उत्ताल तरङ्गें उठ रही हों, ऐसे समुद्र के हाथियों को प्रिय पर्वतों की पंक्ति एवं शरभों की कोई गणना न रह गई। अर्थात उनसे भी अधिक वे ऊँची और भयङ्कर थीं।

४८. (राम ने कहा) बाणों से पीड़ित समुद्र के उस तट पर तिमिङ्गिल के समान भीमकाय पर्वतों से बांधे हुए सेतु के द्वारा इस समस्त सेना को ले जाया जाय।

४९. घड़ियाल और हाथी का रूप धर कर, सर्पों की सेना के सहित, विद्रुम के वृक्षों के वन को दांत से तोड़ते हुए वानरों के स्वामी (हनुमान) समुद्र के पार जाय।

मदितरोऽदितरोपधरैरणक्षमकरैर्मकरैर्गजसन्निभैः ।
तरति को रतिकोपवृतासुरं ध्रुवदकं वद कम्पतिमाकुलम् ॥५०॥

इति गिरा चलितो दृढकीलनध्वनितकम्पितदिग्विदिशो नलः ।
मलयकुञ्जदरीपु महीभृतः पृथुरुतः प्रथमं समवेशयत् ॥५१॥

हरिवरः क्रमशो गिरिसंक्रमं दृढसमर्पितमूलनिबन्धनम् ।
सपदि बद्धुमभेदनमम्बुधौ शिखरिणां निकरैरुपचक्रमे ॥५२॥

तटसमर्पितमूलनिबन्धनः पृथुधराधरसेतुरकम्पनः ।
जलनिधौ मलयस्य महीभृतः प्रसरदंकुरवद् ववृधे शनैः ॥५३॥

अभिहतो गिरिणा रवभैरवः पतिरपामनिमेषविलोचनः ।
समुदितोदकसंहतिबाहुना हृदि जघान रुषेव महाकपिम् ॥५४॥

५०. भयङ्कर क्रोधी एवं प्रहार करने में शक्त, हाथी के समान दुर्धर्ष घड़ियालों से कम्पित और क्षुभित समुद्र को, एवं काम-जनित क्रोध से भरे रावण को मेरे सिवाय और कौन जीत सकता है ?

विशेष—काम के सफल न होने से क्रोध होता है। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' —गीता।

५१. इस प्रकार (राम के) वचन से प्रेरित होकर, नल, जिसने ध्वनि करती हुई, कम्पायमान दिशाओं के कोनों को दृढ़ता से गाड़ दिया था, भयङ्कर गर्जन करता हुआ मलय पर्वत की कुञ्ज रूपी गुफाओं में पहिले (सेना को) प्रविष्ट कर दिया।

५२. वानरों से श्रेष्ठ (नील) नें तुरन्त दृढ़ नीव रख कर क्रमशः पर्वतों के समूह से समुद्र पर अभेद्य, पर्वत का पुल बाँधना आरम्भ कर दिया।

५३. तट पर जिसकी नीव का बन्धन रख दिया गया था, ऐसा विशाल, पर्वत का सेतु, समुद्र में मलय गिरि से अंकुर के समान प्रसार करता हुआ बढ़ने लगा।

विशेष—सेतुबन्धन पर गोवर्धनाचार्य का चमत्कार देखिये :

"गुरुरपिलघूपनीतो न निमज्जति नियतमाशये महतः।
वानर करोपनीतः शैलो मकरालयस्येव ॥—गोवर्धन शप्तशती

(यदि कोई छोटा आदमी सारगर्भित बात भी कहता है तो वह महान् पुरुषों के हृदय में नहीं धँसती। यही कारण है कि जब वानरों ने भारी-भारी पर्वत उठाकर समुद्र में छोड़ा तो वे नहीं डूबे अर्थात् तैरने लगे (और सेतु बँध गया।)

५४. पर्वत से आहत होकर, भयङ्कर गर्जन करते हुए समुद्र ने, बिना आँख झँपाये, बड़े क्रोध से, लहरो के समूह रूपी भुजा से नील के हृदय पर आघात किया।

शमितरेणुकरेणुकटद्रवस्रुतिलवासितवासितकन्दरैः ।
प्रविदधौ ततधौततटं नगैः कपिरशङ्कमशङ्कमभिक्षिपन् ॥५५॥

अधिपयोधि नलेन निपातितः सलिलनादनिनादितदिङ्मुखः ।
धुततिमिङ्गिलपुच्छहतः पुनर्गगनमुत्पतितो जगतीधरः ॥५६॥

दधति कूर्म्मपतिर्वपुरायतं कठिनपृष्ठतटे पतितं नगम् ।
कृतरवैर्गुरुविस्मयमीक्षितो भ्रमयति स्म चिरं हरिसैनिकैः ॥५७॥

मलयशैलमुखाहितबन्धनः कपिभिरर्द्धकृतो गिरिसंक्रमः ।
जलनिधौ निहितो जलवाञ्छया भुज इवास महासुरदन्तिनः ॥५८॥

अपहसन्निव फेनरुचा चिरं गिरिहतोदितकन्ततिबाहुना ।
अभिजघान पयोनिधिरुद्धतः कुसुमभाजि सुवेलशिरस्तटे ॥५९॥

परिसरस्थसरस्थपुटाचलक्षतविमानविमानमहोरगम् ।
विततरागतरागमणिप्रभाजनितरङ्गतरङ्गकृतध्वनिम् ॥६०॥

५५. निःशंक होकर फेंकते हुए कपि ने धूलि को शान्त कर देने वाले, हाथियों के कपोलों से बहते मद से काला हो उठे और सुगन्धित कन्दराओं वाले पर्वतों के द्वारा विस्तृत, धुले तट को निर्भय कर दिया।

५६. समुद्र में नल से फेंका गया पहाड़, जल के गर्जन से दिशाओं को ध्वनित करता, तिमिङ्गिल की पूंछ से आहत होकर पुनः आकाश में उड़ कर गिरा।

५७. विशाल शरीर धारण करने वाला, कछुओं का स्वामी, अपनी कड़ी पीठ के तट पर पर्वत के गिरने से चक्कर खा गया। उसे किलकारी मारते हुए वानर सैनिक बड़े विस्मय से देख रहे थे।

५८. मलय पर्वत के मुख पर बन्धन निहित करने वाला कपियों द्वारा (समुद्र में) आधा ढकेला पर्वत ऐसे लगा जैसे समुद्र में जल की इच्छा से डाली गयी ऐरावत की सूंड हो।

५९. उद्धत समुद्र ने, पर्वत के गिरने से उठी हुई, बाहु के समान लहरों से, मानो फेन की कान्ति से हँसते हुए, पुष्पों से भरे हुए सुवेल पर्वत के मस्तक के तट पर, आघात किया।

६०. समीप में स्थित, सरकते और विषम रूप से उठे पर्वतों द्वारा विमानों को ध्वस्त करते हुए तथा महानागों को मानरहित करते हुए, लाली फैलाती लाल मणियों की कान्ति से रंग उठी तरंगों की ध्वनि करते हुए।

विततधातुरसं धरणीधरक्षतकृतव्रणचक्रमिवाम्बुधेः ।
अभिचकर्त्त नलोऽनलभासुरः सलिलपृष्ठतटं गिरिसेतुना ॥६१॥

अवसितो नगसेतुरलक्ष्यत क्षिपति विष्णुवराहरदे भुवि ।
विषमकृष्टतया जलपृष्ठतः समुदितः क्षितिपार्श्वइवैकतः ॥६२॥

उदधिसेतुरगद्वयसङ्गतः सरलपुच्छविदारितदन्तिनः ।
वपुरुवाह परं ग्रसितुं गजं प्रसरतोऽजगरस्य गरीयसः ॥६३॥

द्विरदयुद्धविधौ गिरिसंक्रमे जलधिखातकृतान्तरसङ्गिनि ।
मलयतुङ्गसुवेलसुरद्विपद्वयबृहद्भुजबन्धइवावभौ ॥६४॥

मलयकुञ्जसुवेलतटाश्रयः स्थिरतरो नु धराधरसंक्रमः ।
उभयकोटिगतौ धरणीधरौ तुलयितुं नु तुला परिनिर्म्मिता ॥६५॥

अपरसेतुपथस्य विधित्सया कठिनकोटियुगे विनिवेशितौ ।
अजनि काचवरो नु वनौकसा गिरिवरावपनेतुमितोऽन्यतः ॥६६॥

६१. अग्नि के समान देदीप्यमान नल ने, पहाड़ों से बनाये हुए सेतु से, जल से संलग्न समुद्र के तट को काट डाला, जहाँ गैरिकादिक धातुओं का जल फैला था और जो पर्वत के आघात से जनित, घाव के चक्र के समान लगता था।

६२. एक ओर से, पूर्णरूप से निर्मित, पर्वत सेतु, ऐसा लगता था जैसे जल के पृष्ठ से, कठिनता से खींच कर, विष्णु-वराह के दाँत पर रखी हुई पृथ्वी उदित हुई हो।

६३. समुद्र (के ऊपर बँधा हुआ) सेतु, जो दोनों पर्वतों (मलय और सुवेल) से जुड़ा हुआ था, उस अजगर के शरीर के समान लगता था जो हाथी के निगलने के लिये बढ़ रहा हो और जिसमे हाथियो को विदीर्ण करने की क्षमता हो।

६४. समुद्र के गर्तो के भीतर परस्पर मिल जाने वाले उस गिरियों के संक्रमण मे ऊँचे मलय और पर्वतराज सुवेल दोनों का परस्पर टकराना गजयुद्ध मे दो हाथियों की विशाल सूँड़ों के फँसने सा हो गया।

६५. मलय पर्वत के कुञ्ज और सुवेल पर्वत के तट से बंधा हुआ वह पर्वतों से बना हुआ सेतु जो दोनों किनारों तक गया था, क्या तौलने के लिये तराजू बनाया गया था?

विशेष—मलयगिरि समुद्र के इधर और सुवेल उधर है। बीच में समुद्र है। समुद्र के ऊपर दोनो पर्वतों से बँधा सेतु है। इस प्रकार उसकी आकृति तराजू के समान हुई यह भाव है।

६६. यहाँ से अन्यत्र हटाये जाते दोनो पर्वत वनवासियों द्वारा एक दूसरे पुल मार्ग बनाने की इच्छा से दो मजबूत नोकों पर टिकाये गये काँच की भांति लगे।

जलमुदस्य तिमिङ्गिलसम्पदः प्रसभमुद्धरणाय पयोनिधेः।
पृथुदुरुद्धरमन्तकधीवरप्रविहितं नु दृढं वृतिबन्धनम् ॥६७॥

उत भुवः कुलिशायुधविद्विषो विपयचक्रनितम्बसमाश्रयम्।
घटनसन्धिबलीततिमध्यमं वलितमङ्गमगस्तनसम्पदः ॥६८॥

अथ निवारयितुं दृढमन्तरा प्रथमपश्चिमसागर विग्रहम्।
विपुलमद्रियुगेन महीयसा विरचितं नु भुजद्वयबन्धनम् ॥६९॥

अतिनिमग्नमदीयमहाशरव्रणरुजाकृतकार्श्यविभावितम्।
लवणसागरदानवदन्तिनः प्रकटमस्थि नु वंशसमुद्भवम् ॥७०॥

प्रथिमणि प्रथिते कृतकौतुकैरुदधिमापनदण्ड उपाहितः।
इति चकार मनो मनुवंशजश्चिरविचारपरम्परमादृतः ॥७१॥

समधिरूढसमीरणसम्भवप्रणयदत्तकरो रघुनन्दनः।
अधिरुरोह धराधरसंक्रमं भुवि निपण्णमिवासुरदन्तिनम् ॥७२॥

६७. जल को हटा कर, समुद्र की तिमिङ्गिल सम्पत्ति को जबर्दस्ती बाहर निकालने के लिये, क्या यह यम रूपी मल्लाह का बनाया हुआ, अपनी जगह से न हटने वाला, दृढ़ महाजाल है।

६८. *अथवा यह वज्रायुध इन्द्र के शत्रु अगस्त्य के चक्र की धार पर टिका, मध्य में जोड़ (सन्धिस्थल) की रेखा के विस्तार से युक्त मुड़ा हुआ अंग है ?*

६९. या फिर पूर्व और पश्चिम सागर के अन्तर को दूर करने की इच्छा से दोनों महान् पर्वतों द्वारा दृढ रूप से अपनी बाँहे फँसा ली गयी हैं।

७०. *क्या यह सेतु, खारे समुद्र में रहने वाले, हाथी के समान राक्षसों की हड्डी है जो,* शरीर के भीतर बहुत गहरे घुसे हुए हमारे बाणों से किये हुए घाव की वेदना को प्रकट करता है।

७१. कुतूहल से प्रेरित होकर, वानरों ने, इस विख्यात और मणियों से भरे समुद्र पर उसके नापने का दण्ड रख दिया है, ऐसा मनु के वंशज एवं आदृत राम ने (सेतु के सम्बन्ध में) विचार किया।

विशेष—समुद्र के ऊपर ऐसा लगता था जैसे उसका मापदंड हो, यह भाव है।

७२. पहिले पवन-सुत (हनुमान) के चढ जाने पर और प्रेम से बढ़ाये हुए उनके हाथ को पकड कर, रघुनन्दन उस पर्वत से बने सेतु पर जो पृथ्वी पर बैठा हुआ असुर-दन्ती के समान लगता था, चढ़ गये।

शुभवयोधनयोधनयोऽर्णवं नृतिमिना दितनादितवीचिकम् ।
पिहितवेलसुवेलसुदम्भसं सपदि वानरवानरमत्यगात् ॥७३॥

तटविशालकपोलतले चलत्तपनमण्डलकुण्डलमण्डनम् ।
विविधभूरुहषण्डविनिर्जितत्रिदशनन्दननन्दनचन्दनम् ॥७४॥

मदगजैरगजैरगनिर्झरध्वनितबृंहितबृंहितसूचितैः ।
सरसि तैरसितैरपि वारिदैः प्रविततं सततं सपयःकणैः ॥७५॥

निकषणेन युगस्य हिरण्मयज्वलितरूपधरस्य विघृष्टया ।
कटकभित्तिषु काञ्चनरेखया रविगतं प्रथयन्तमुदारया ॥७६॥

हरिसमानसमानमृगान्वितं सभवनोपवनोपवृतान्तरम् ।
तटगुहासु गुहासुसमैर्विभिः कृतरवं शरवंशरनावृतम् ॥७७॥

रचयति क्रमबन्धमिभद्विपि क्षणमवेत्य मृगं मृगलक्षणः ।
परिहृतं प्रसभं हिमकान्तिना नखरघातभयेन विदूरतः ॥७८॥

७३. सुन्दर वयःसम्पत्ति वाले तथा योद्धा (राम एवं हनुमान) के नर्तन से खंड-खंड होती, निनाद करती तरङ्गों वाले, सुवेल पर्वत से अवरुद्ध तट एवं जल वाले समुद्र को नर राम और वानर हनुमान शीघ्र ही पार कर गये ।

७४. विविध प्रकार के वृक्षों को पराजित करने वाले तथा देवताओं को हर्षित करने वाले नन्दन कानन के चन्दन से युक्त, चंचल सूर्य मंडल की भाँति कुंडल के आभूषण की शोभा विस्तृत कपोल तल पर हुई ।

७५. जंगली, मतवाले, गज तथा पहाड़ी झरनों की बढ़ी हुई ध्वनि से सूचित होते, जलकण से युक्त बादल निरन्तर उस जलराशि पर फैल गये ।

७६. तपाये स्वर्ण का रूप धरे दोनों के रगड़ने से कटकभित्ति (Mountain ridge) पर चमकती स्वर्ण रेखा को प्रकट करते, सूर्य तक पहुँचे (पर्वत पर राम चढ़े) ।

७७. सिंह के समान मानी मृगों से युक्त, भवन सहित उपवनों से आच्छादित अन्तर वाले तटवर्ती गुफाओं में निनादयुक्त शर (Reeds) के वन से ढँके (पर्वत पर चढ़े) ।

७८. मृगाङ्क चन्द्र के क्षण भर (उस पर्वत के) पास पहुँचने पर, (किन्तु पदचारी) सिंह के पैतरे बाँधने पर अपने मृग की बात समझ कर ही नखों के आघात के भय से चन्द्र वहाँ से हट गया (उस पर्वत पर राम चढ़े) ।

कृतदवारणवारणशोणितस्रवसदारुणदारुणलुब्धकम् ।
मकरसारससारसनिम्नगा ततमवारितवारितदिग्गजम् ॥७९॥

ज्वलितरत्नचयेन नभस्पृशा गगनलग्नदवानलसंशयान् ।
अधिरुरोह सुवेलमगं विभुः प्रतिजनं जनयन्तमनारतम् ॥८०॥

तत्र स्थित्वा किरणनिकरन्यस्तरङ्गैस्तरङ्गै-
र्भास्वत्तोयं वरुणनिलयं वैद्रुमाणां द्रुमाणाम् ।
पश्यन् रेमे सततसलिलभ्रंसमुक्तं समुक्तं
शक्रत्रस्तक्षितिधरशतस्थानदन्तं नदन्तम् ॥८१॥

इति चतुर्दशः सर्गः ।

७९. वन में युद्ध करने वाले गज के शोणित प्रवाह लाल रहने वाले भयानक व्याध से युक्त, मकर, सारस और नदियों से युक्त होकर फैले, घेरे हुए दिग्गजों से भी अवारित (पर्वत पर राम चढ़े) ।

८०. चमचमाते हुए रत्नो के समूह से, आकाश मे लगी हुई, दावाग्नि का भ्रम उत्पन्न करने वाले, गगन-चुम्बी सुवेल पर्वत पर जितेन्द्रिय राम, लोगों में शक्ति भरते हुए चढे ।

८१. वहां (सुवेल पर्वत पर) बैठ कर राम ने, वरुण के निवास स्थान समुद्र को, जिसका जल, विद्रुम (मूंगा) के वृक्षों के किरण-समूह से रञ्जित होकर चमक रहा था, जहां जल के निरन्तर थपेड़े से मोती टूट रहे थे, जहां इन्द्र से भयभीत सैकड़ों पर्वत के शृङ्ग ध्वनि कर रहे थे, (ऐसे समुद्र को) देख कर रमण किया ।

चौदहवां सर्ग समाप्त ।

पञ्चदशः सर्गः

अङ्गदाख्यमथ वानरवीरं रक्षसां पुरमजीगमदीशः ।
वेदितुं चतुरुपायविधीनां कस्य गम्य इति कौशिकशत्रुम् ॥१॥

प्राविशत् स रहितादरवृत्तिः संसदं च विदितः सुरशत्रोः ।
राक्षसानधिपथोपनिविष्टान् संस्पृशन् सपदि पुच्छगुणेन ॥२॥

सन्निपद्य निभृतं स मुहूर्तं स्वागतादिविधिलम्भितमानः ।
आददे वच इदं विनयस्थः साधुरूढनयपद्धति पश्चात् ॥३॥

निर्गुणोऽपि यदि शौर्य्यविशिष्टस्तत्र भक्तिमधिगच्छति लोकः ।
तद्द्वयेन परिदीपितवृत्तेर्दासवद्भवति सर्वजनौघः ॥४॥

त्वय्यनन्यजनखण्डितशक्तौ सर्वगुण्यजनगीतगुणौघे ।
स्नेह बन्धनियतेन गुणज्ञश्चेतसा ह्रियत एव कपीन्द्रः ॥५॥

१. तदनन्तर प्रभु राम ने अङ्गद नाम के वानर-वीर को राक्षस-पुरी, लङ्का में, यह जानने के लिये भेजा कि इन्द्र-शत्रु रावण के साथ, चारों उपायों (साम, दाम, दण्ड और भेद) में से, किस उपाय से व्यवहार किया जा सकता है।

२. अङ्गद ने इत्तला कराने पर, बिना किसी आदर के, देवताओं के शत्रु (रावण) की सभा में, मार्ग में बैठे हुए राक्षसों को पूंछ से छूते हुए, तुरन्त प्रवेश किया।

३. क्षण भर शान्ति से बैठ कर, स्वागत आदि व्यवहार से सम्मानित होने के बाद अङ्गद, विनय पूर्वक, सज्जनों मे प्रचलित नीति मार्ग का अवलम्बन करते हुए, यह वचन बोले।

४. निर्गुण होने पर भी मनुष्य में यदि शौर्य की विशिष्टता होती है तो लोग उसकी भक्ति करते हैं। गुण और शौर्य इन दोनों से शोभित, ऐसे आचरण से प्रभावित व्यक्ति के सब लोग दास के समान हो जाते हैं।

५. जिसने सबों की शक्ति को चूर्ण कर दिया है, जिसके गुणों के समूह का सब गुणी जन गान करते हैं, ऐसे तुम्हें देख कर वह गुणी और सस्नेह मित्र, कपीन्द्र (हनूमान) लज्जित होता है।

तद्वचांस्यवितथानि विपाके कर्तुमिष्टफलवन्ति यतेथाः ।
वल्लभस्य नयविद्विपतो वा सूक्तमेव हृदयेऽभिनिविशते ॥६॥

निस्पृहोऽथ पर एव हितानि व्याहरत्यगणितप्रभुकोपः ।
निष्फलप्रियसुखो ननु भृत्यः पथ्यमाह पतिमानतवृत्तिः ॥७॥

स्वाभिमानपरिबोधनहेतोर्भावशून्यमभिधाय वचांसि ।
स्वामिनं युधि नियुज्य विमर्दं द्रष्टुमप्युपसरन्ति न केचित् ॥८॥

दूर दृष्टरिपुकेतुशिखाग्रा वारितेऽपि कलहाय यतन्ते ।
न प्रयान्ति शरवृष्टिनिपाते ताड्यमानशिरसोऽपि पुरस्तात् ॥९॥

मुञ्च घातमभितो भव वीरेत्यन्ययोधमभिधाय जिघांसुम् ।
लीलया युधि पुरोऽभिसरन्तो नापि सन्ति भुवि पञ्च पुमांसः ॥१०॥

यत्स्वयं युवतिमित्रवतीषु व्याहृतं मधुमदेन सभासु ।
तत् स्मरन्ति रणमध्यमुपेताः केचिदेव शरजालकरालम् ॥११॥

६. अतः तुम उसके वचन को सत्य, और परिणाम में इष्ट फल देने वाला, सिद्ध करने का प्रयत्न करो । सुभाषित चाहे स्नेही मित्र का हो या नीति-द्वेषी का हो, हृदय में प्रभाव करता ही है ।

७. कोई व्यक्ति, चाहे पराया क्यों न हो, यदि वह बलवान के क्रोध की परवाह न कर, हित की बात करता है, तो उस नम्रता का व्यवहार करने वाले भृत्य को, चाहे वह अपने स्वामी के सुख सम्पादन में विफल ही हो, उसे कल्याणकारी कहते हैं ।

८. कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपना अभिमान जताने के हेतु, अभिप्राय से शून्य बात कर, अपने स्वामी को युद्ध में फँसा देते हैं और उनके नाश के समय, उसे देखने तक के लिये पास नहीं फटकते ।

९. दूर से शत्रु के झंडे के अग्रभाग को देखते ही, रोके जाने पर भी लड़ने को गिरे पड़ते हैं, परन्तु जब बाण की वर्षा होने लगती है तो सिर पर मार पड़ने पर भी आगे नहीं आते ।

१०. दुनिया में ऐसे पाँच भी पुरुष न मिलेंगे जो मारने की इच्छा करने वाले योद्धा से यह कहें कि 'वीर हो तो, मेरे दोनों ओर आओ' और (यह कहते हुए) युद्ध भूमि में खेलते-खेलते आगे बढ़ें ।

११. युवतियों और मित्रों से भरी सभा में, जो मदिरा के नशे में चूर होकर शान बघारते थे, बाणवर्षा से भयङ्कर हो गयी रणभूमि में उनमें से विरले ही उन कथनों को याद रखते हैं । अर्थात् युद्ध में उनकी शेखी भूल जाती है ।

के नयन्ति पुरुषस्य सहाया भोक्तुमिद्धविभवस्य समृद्धिम्।
युद्धमध्यवधमिच्छति तस्मिन् दुर्लभाः सह कृतव्यवसायाः ॥१२॥

निर्व्यपेक्षमवधूय वचस्तत् सेवकैरभिहितं श्रुतिहारि।
यन्नयेन न समेति विरोधं तद्विचारनिपुणेन विधेयम् ॥१३॥

गीयते द्विविधमागमविद्भिः कर्म्म यत् सुकृतदुष्कृतभेदात्।
सिद्धिदेयगुणदोषवशात्तद्भेदमेति पुनरेव चतुर्द्धा ॥१४॥

पक्षयुग्मगतसिद्धिविधेयं तद्विचिन्त्य गुणदोषविशेषम्।
यः करोति करणीयमनिन्द्यं विद्धि नीतिफलमस्य करस्थम् ॥१५॥

दोष दुष्टफलनिन्द्यविरामं योऽर्थमर्थविपरीतमुदस्य।
सेवते सदनुबन्ध विशुद्धं धाम तत्र न तनोति विपत्तिः ॥१६॥

दुर्ज्जयेन सह वैरमनर्थं स्त्रीपरस्य न हिताय परत्र।
तत्कलत्रमपहाय सुखार्थं राघवस्य मृगयस्व सुहृत्त्वम् ॥१७॥

१२. सुख भोगने के लिये, धनी पुरुष के, कौन सहायक नहीं होते ? युद्धभूमि में जब उनका वध होने लगता है, तो साथ देने वाले दुर्लभ होते हैं।

१३. इसलिये विचारशील पुरुष को उचित है कि वह सेवकों के प्रिय किन्तु निराधार बात की परवाह न करे, जो नीति-विरुद्ध न हो उसे करे।

१४. शास्त्रकारों ने 'कर्म' के दो प्रकार कहे हैं, एक सुकर्म और दूसरा दुष्कर्म। परन्तु सिद्धि-काल के लिये गुणदायक और दोषदायक, ये दो और मिल कर यह कर्म चार प्रकार का हो जाता है।

१५. जो कार्य दोनों पक्षों के विचारने के बाद सिद्धि-प्रद जान पड़ता है, ऐसे अनिन्द्य कार्य को जो मनुष्य उसके गुण और दोष पर खूब विचार कर एवं करने योग्य समझ कर, करता है, तो इस नीति का फल उसके करतल-गत रहता है।

विशेष—सहसा विदधीत नक्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्।
वृणुते हि विमृष्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

भारविः—२—३०.

१६ जिसका परिणाम, दोषयुक्त, बुरे फल के कारण, निन्दनीय है, और जो प्रयोजन के विरुद्ध पड़ता है, ऐसे आचरण को छोड़ कर जो निष्कलुष प्रयोजन में अनुराग रखता है उसे विपत्ति नही घेरती।

१७. जो स्त्री में लीन है, उसका अजेय पुरुष से बैर हानिकारक होता और परलोक में उसका हित नही होता। अतः स्त्री (सीता) को छोड़कर राघव की मित्रता का अनुसन्धान करो।

इन्द्रियाणि मतिमन्तमजय्यं योजयन्ति विपयेपु विजित्य ।
तद्वशित्वमवधूय यशोभिर्य्यस्तनोति भुवनानि स वीरः ॥१८॥

यौवनं चलमपायि शरीरं गत्वरं वसु विमृश्य विसृष्टः ।
अन्यजन्मगततिक्तविपाकं दृष्टसौम्यमपि कर्म्म न धत्ते ॥१९॥

हेतुरन्यभवभोगविवृद्धेर्य्यद्यतश्च भवतीह विभुत्वम् ।
स्यास्नु यच्च वितनोति यशस्तत् साधनीयमितरत्तु न धीरैः ॥२०॥

रूपवन्तमपि हन्ति जरार्त्तिः सङ्गमे महति चास्ति वियोगः ।
याति दीर्घमपि विच्युतिमायुः पुण्यमेव निरपायि भजध्वम् ॥२१॥

तद्विहाय मुनितुल्यमहिम्नो दुर्जयस्य मनसापि युवत्याः ।
लोकयुग्मगतशर्म्मविनाशं स्पर्शमस्य सुखमेहि यशो वा ॥२२॥

१८. ये इन्द्रियाँ, बुद्धिमान् और अजेय पुरुष को (भी) जीत कर, उसे विषयों की ओर प्रवृत्त करती हैं। अतः इनमें आसक्ति को मिटाकर, जो यश का त्रिभुवन में विस्तार करता है वह वीर है।

१९. यौवन अस्थिर है। शरीर नाशवान् है । धन-सम्पत्ति चलायमान है। यह सोच कर विरक्त पुरुष देखने में अच्छा पर जन्मान्तर में तीखे फलवाला कर्म नहीं करता।

२०. धीर पुरुष, उस ऐश्वर्य की साधना करते हैं जो स्थायी यश का विस्तार करता है, जो इस जन्म और जन्मान्तर में समृद्धि का कारण होता है। अन्यविध ऐश्वर्य की साधना वे नहीं करते।

२१. बुढ़ाई का क्लेश, सौंदर्य का भी नाश कर देता है। महान् सम्मिलन में भी विछोह होता है। दीर्घ आयु का भी अधःपतन होता है। केवल पुण्य अनश्वर है। उसी का अवलम्बन करो।

२२. मुनियों के समान महान् और अजेय राम की युवती भार्या का मन से भी स्पर्श दोनों लोक के आनन्द का नाश करने वाला है । अतः उसे छोड़ कर यश के द्वारा सुख को प्राप्त करो।

विशेष—मद्रास की हस्तलिखित जानकीहरण की प्रति में यह श्लोक इस प्रकार है :

लोक युग्मगत शर्म विनाशं स्पर्शमस्य मनसापि युवत्या।
दुर्जयस्य मुनि तुल्य महिम्नः तद्विहाय सुखमेहि यशोभिः॥

सप्रियावितरणेन कृतज्ञः तोषितस्सफल हार्दविरोधः।
स्वर्गिवर्गमवजित्य समस्तं भृत्यवत्तव पुरीह विधत्ते ॥२३॥

ये भवन्तमतिवश्यममात्याः नूतनं पतिमिहाभिलषन्ति ।
कारयन्ति यदि नीतिविरुद्धं मा तदीयमनुरोधि वचस्ते ॥२४॥

हेतुरस्ति नरवानरभावे नैव दर्पविरहस्य चिरज्ञा।
यत्सुरेन्द्रकृतवीर्यसुताभ्यां अस्तशक्तिमिह कश्चिदुशन्ति ॥२५॥

शासनं यदि शिरोभिरुदग्रं मौलिवन्नृपसुतस्य न धत्से।
शैलशृङ्गगुरुमस्तकभारत्यागसौख्य तव गच्छ व्रतं ते ॥२६॥

शक्रलोकजयदत्तमजय्यं दिक्षु .फुल्लमिव काशवनं तत्।
रामधामभवपावकदीप्त्या दग्धमेव समवैहि यशस्त्वम् ॥२७॥

'गर्वमस्य वचनानि वहन्ति श्रोतुमन्तविरसानि मृदूनि ।
न प्रपद्य वितितार विकारं क्रोधवद्धमिति राक्षसलोकः ॥२८॥

२३. वह (राम) प्रिया (सीता) के लौटा देने से कृतज्ञ एवं सन्तुष्ट हो जायगे और उनके हृदय का विरोध मिट जायगा। समस्त देव-वृन्द को जीत कर यहाँ वे तुम्हारे नौकर के समान रहने लगेंगे।

२४. ये जो आपके अत्यन्त आज्ञाकारी मंत्री हैं, नये स्वामी की इच्छा रखते हैं। यदि ये लोग भी आपसे कोई नीति-विरुद्ध बात करवाना चाहें तो उनकी बात आप न मानें।

२५. नर अथवा वानर होने में दर्पहीनता का लम्बा ज्ञान कारण नहीं है। जो इन्द्र कृतवीर्य पुत्रों द्वारा शक्तिहीन किये गये किसी की इच्छा करते हैं।

२६. यदि तुम राजपुत्र (राम) के उन्नत शासन को अपने सिर पर मुकुट के समान नहीं धारण करते तो जाओ पर्वत शिखर के समान बोझ हटाने का सुख प्राप्त करने वाले तुम्हारा व्रत जाये (तुम मर जाओ!)

२७. इन्द्रलोक को जीतने वाले अपने इस अजेय यश को, राम के तेज से उत्पन्न अग्नि की दीप्ति से, दिशाओं में फूले हुए काँसे के वन के समान जला हुआ समझो।

२८. 'इसके (अङ्गद के) वचन, गर्व से भरे हुए हैं और सुनने में मीठे पर भीतर से कड़वे हैं' यह समझ कर राक्षस-समूह ने क्रोध से भरे हुए अपने उद्वेग को व्यक्त नहीं किया।

अट्टहास निनदोऽतिगभीर क्रोधगर्भमतिकाय विमुक्तः।
निस्फुलिङ्ग निकरेण सदस्तं दीपयन्दशदिशोथ ससर्प ॥२९॥

कम्पनोऽपि परिकम्पितमूर्धा दन्तकान्ति निचिताधररागः।
उन्नतैकचपलभ्रुकाटाक्षं पातयन्द्विषति तत्र विरेजे ॥३०॥

आहतान्यथ परस्परमेव क्रुध्यतस्त्रिशिरसोऽपि शिरांसि।
घातविस्फुटितमौलिमणित्विट् द्योतिताम्बर तलानि विरेजुः ॥३१॥

इन्द्रजित्प्रथमदानदशायां दिग्द्विपेन्द्र इव गण्डतटाभ्याम्।
निर्मुमोच मदसेकमनोज्ञं धर्मवारिमदमन्थरनेत्रः ॥३२॥

मानगर्भमवकर्णित दूत व्याहृतो भुवि न मय्यमुखेन्दुः।
भूमिभक्तिकुसुमेन निवेशं मण्डलस्य वितितान निकुम्भः ॥३३॥

क्रोधवेगविकृतश्च तथासीच्छोणिताक्ष मुखतिग्ममरीचिः।
यत्सदस्थकिरणाधिप रत्नस्तम्भवह्निरपि तेन विवव्रे ॥३४॥

२९. राक्षसों के भीमकाय से निकला हुआ, भयङ्कर क्रोध से युक्त, उनके अट्टहास का गर्जन, चिनगारियों के समूह से, उस सभा को दीप्तिमान् करता हुआ दशों दिशाओं में फैल गया।

३०. (दूसरों को) कँपाने मे शक्तिमान् होते हुए भी जिसका सिर (क्रोध से) काँप रहा था और जिसके दाँतों की चमक ने उसके अधर-राग को ढँक लिया था, तरेरते हुए चञ्चल भ्रू कटाक्ष को शत्रु (अङ्गद) की ओर प्रेरित करता हुआ, वहाँ शोभायमान हुआ।

३१. तदनन्तर क्रोध से भरे हुए, त्रिशिरस नामक राक्षस के भी चोट खाये हुए सिर परस्पर टकरा गये और जिनके मुकुट की मणियों के परस्पर संघर्ष से आकाश का तल आलोकित हो गया था, चमक उठे।

३२. इन्द्रजित ने, कनपटी के किनारे से, पसीना रूपी मद के कारण जिसके नेत्र शिथिल पड गये थे, मद न बहाते हुए दिग्गज की भाँति, मद से सींचे हुए मार्ग का परित्याग कर दिया।

३३. निकुम्भ राक्षस ने, धरती पर सर झुका कर, सभा-मण्डप मे, दूत के अभिमान युक्त वचन सुन कर, भूमि पर बनी पुष्प रचना के आकार का विस्तार किया।

३४. फिर भी क्रोध के वेग से जिसका चेहरा भयङ्कर हो गया था और जिसकी रुधिर के समान लाल-लाल आँख और मुख की किरणें तिरछी हो गई थीं, उसने सभा में स्थित, सूर्यकान्त मणि के खम्भों की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर दिया।

रक्तपद्मरुचिहारि कराग्र प्रस्थितालि कुलरोचिषि कुम्भः ।
न्यस्यति स्म भुजवर्तिनि मन्दं ज्याभिघातकिणवर्त्मनिचक्षुः ॥३५॥

सेन्द्रनीलमथ वक्षसि हारं चूर्णयत्सपदि पाणितलेन ।
बद्धकृष्णमृगचर्मवदासीतद्रजस्सुवितते पु करालम् ॥३६॥

न्यस्य वक्त्रमधिपाणि विसृष्टस्वेदविन्दुविकटोऽपि चिराय ।
विस्मयेन किल दूतमनन्यव्यावृत्तेन नयनेन ददर्श ॥३७॥

लोचनस्थघनरागशिखाभिर्लक्ष्यरोपवडवानलराशिः ।
व्यस्तहस्तचलवीचिकराल क्षुभ्यति स्म दशकण्ठसमुद्रः ॥३८॥

राक्षसेपु विकृतेपु न सद्यो माल्यवानिति विकारमियाय ।
युक्तियुक्तमपि वाक्यमनिष्टं स्वीकरोति न हि दुर्जनलोकः ॥३९॥

ईहितं हितमितीव विकारः वीक्ष्य वीतधृतिभर्तुधीरः ।
बन्धुमिन्द्रसुतबन्धुमथैनं क्रोधनस्समुदियाय सदस्तः ॥४०॥

३५. भुजाओं के सन्निकट स्थित, हथेली पर से उड़े हुए भ्रमर-समूह के समान चमकती हुई, पट्ठे की लकीर को, जो (निरन्तर) प्रत्यञ्चा के खींचने से पड़ गई थी, कुम्भ राक्षस ने अपने लाल कमल को हराने वाले, नेत्रों से देखा ।

३६. उसने अपने वक्ष पर पड़े हुए, इन्द्रनील मणि के कराल हार को तुरन्त हथेली के आघात से चूर-चूर कर डाला । उसका चूर्ण फैलने से ऐसा लगता था जैसे उसने अपने वक्ष-स्थल पर कृष्ण-मृग चर्म लपेट लिया हो ।

३७. अपने मुख को हथेली पर रखकर और भयङ्कर होते हुए भी, पसीने-पसीने होकर, वह बहुत देर तक उस दूत को एक टक, विस्मय से देखता रहा ।

३८ दशकण्ठ रूपी समुद्र, जिसमें आँखों की गहरी ललाई की लपट से, बड़वानल के समान क्रोध झलक रहा था, और जिसमें विकल हाँथों का सञ्चालन, भयङ्कर तरङ्गों की हिलोर के समान था, उत्तेजित हो उठा ।

३९. यद्यपि अन्य राक्षस लोग क्षुब्ध हो गये थे पर माल्यवान (सुकेतु राक्षस का पुत्र) और रावण के नाना को कोई घबराहट नही हुई। दुर्जन मनुष्य, अनिच्छित बात को युक्ति-सङ्गत होने पर भी नहीं स्वीकार करते ।

४०. विकार नाम के अधीर एवं क्रोधी राक्षस ने जब यह देखा कि उसके स्वामी (रावण) का धैर्य छूट गया और उसका हित इसी में है (अर्थात् अङ्गद के पकड़ लेने में) तो वह सभा से उठ खड़ा हुआ ।

आत्मपुच्छलतयैव स पश्चाद्वाहु संयमितमिच्छतिकर्तुम् ।
राक्षसे हतनिपातितशत्रुस्स्वं जगाम बलमम्बरवर्त्मा ॥४१॥

राक्षसेष्वथ विलक्षतमेषु प्रेक्ष्य नम्रवदनाम्बुजपुञ्जम् ।
रावणं स्म नयनिर्मलबुद्धिर्मातुरस्य गुरुराह वचांसि ॥४२॥

उक्तमत्र हितमेव विधातुं तत्क्षमस्व यदि वाक्यमहारि ।
औषधानि विरसानि तथापि द्वेष्यभावमुपयाति न वैद्यः ॥४३॥

अप्रियाणि रिपुराह गुरुर्वा नष्टशीलमयमत्र विभागः ।
क्षेप्तुमेव कटु जल्पति पूर्वः प्रेमगर्भमपरस्तु हितैषी ॥४४॥

यत्त्वयाहमवकीर्णितपूर्वं व्याहृतोऽपि विरमामि न वक्तुम् ।
तत्र हेतुरितरैरसमानस्नेह एव न तु जीवित तृष्णा ॥४५॥

४१. जब उस राक्षस ने अङ्गद की ही पूंछ से उनके हाथ को बांधने की चेष्टा की तब वह अङ्गद जो अपनी मार से शत्रुओं को गिरा देते थे, आकाश-मार्ग से अपनी सेना में चले गये ।

४२. राक्षस लोग इस व्यापार को भौचक्के होकर देख ही रहे थे, कि नीतिज्ञ माल्यवान (मातुः गुरुः=नाना) उसके (रावण के) नीचे किए हुए सिरों के पुञ्ज को देख कर बोले ।

विशेष—मातुः गुरु=माता के पिता=नाना=माल्यवान ।
ततस्तु सुमहाप्राज्ञो माल्यवान नाम राक्षसः ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा इति माता महोऽब्रवीत् ।

—वाल्मीकीय रामायण–२५–७ ।

४३. जो तुम्हारे हित के लिये मैं बात करता हूं यदि वह कटु हो तो क्षमा करना । यद्यपि औषधि कड़वी होती है फिर भी उसके प्रयोग करने में वैद्य को कोई द्वेष-भाव नहीं होता ।

विशेष—मद्रास की हस्तलिखित प्रति में श्लोक की दूसरी पंक्ति में 'विरसानि' और 'द्वेष्यभाव' के बीच में कुछ अक्षर नहीं हैं। मैंने उसकी पूर्ति 'तथापि' से करने का साहस किया है।

४४. भ्रष्टाचरण करने को अप्रिय उपदेश, चाहे शत्रु दे अथवा गुरु । उन दोनों में अन्तर केवल इतना ही होता है कि शत्रु उस उपदेश के द्वारा निन्दा करता है और हितैषी के उपदेश के भीतर प्रेम रहता है ।

४५. यद्यपि तुम मेरा पहिले अपमान कर चुके हो, फिर भी मैं कहने से न रुकूंगा । इसका कारण यह है कि दूसरों से कहीं अधिक मैं तुमसे प्रेम करता हूं । उसका कारण जीने की तृष्णा नहीं है ।

यस्य वृद्धिमधिगम्य विवृद्धिर्जायते विपदि यस्य विपत्तिः ।
तं स एव हितमाह जनस्तु श्रोत्रहारिवचनैस्तुविदग्धः ॥४६॥

स्वार्थरागरतिशुद्धमतीनां सद्विवेक पटुदृष्टफलानि ।
यच्छृणोति वचनानि गुरूणां तन्न जातु विपदेति न यज्ञम् ॥४७॥

ऋश्यमूकमितवत्यरिवीरे त्वं तदैव घटनामकरिष्यः ।
यद्युपेत्य कुलिशायुधसूनुर्नाभविष्यदियमत्र विपत्तिः ॥४८॥

सम्पतन्ति कपयोऽस्य न यावत्तावदेनमभिगम्य सवेगम् ।
विग्रहीतुमपि युक्तमभूद्वस्तत्कृतन्न हृदयेषु मदेन ॥४९॥

आसनंतव रसातलमेत्य स्तोक काल मसुराधिपबन्धोः ।
युक्तमत्र परिणश्यति यावज्जीवनेन फलमप्रतिबन्धम् ॥५०॥

४६. जो स्वामी के अभ्युदय में प्रसन्न होता है और उसकी विपत्ति मे दुखी होता है वही उससे हित की बात कहने में समर्थ होता है। अन्य लोग जो कांइयां होते हैं वे तो केवल ठकुर-सोहाती कहते हैं ।

४७. स्वार्थ, राग-द्वेष, एवं आसक्ति से रहित जिनकी बुद्धि शुद्ध है, ऐसे गुरुजनों के विवेक-पूर्ण अतएव सफल वचनों को जो निलिज्ञ सुनता है उसके पास विपत्ति नही आती ।

विशेष—वृणुते हि विमृष्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः —भारवि
हिताान्नयः संश्रृणुते सकिम्प्रभुः ।—भारवि

४८. जब ऋष्यमूक पर्वत पर राम गये थे तभी यदि तुम, शत्रुओं में वीर राम से सन्धि कर लेते तो यह विपत्ति तुम पर न आती ।

विशेष—'न शत्रुमवमन्येत ज्यायान् कुर्वीत विग्रहम् ।
तन्मह्यं रोचते सन्धिः सह रामेण रावण॥
—वाल्मीकि रामायण : युद्ध काण्ड, २५—१० ।

४९. जब तक वानर लोग संघटित नहीं हुए थे तभी यदि तुमने आक्रमण कर दिया होता तो उचित होता । परन्तु तुमने अभिमान के कारण इसे अपने हृदय में स्थान नही दिया ।

५०. असुरों के स्वामी (बलि) के मित्र होते हुए भी तुम्हारा आसन रसातल में जाकर थोड़े समय में नष्ट हो जायगा यह उचित ही है । (ऐसा कुछ विधान है कि) मनुष्य को जीवन ही मे अपने कर्म का फल मिल जाता है ।

विशेष—असुराधिपबन्धोः=बलि के मित्र। वाल्मीकीय रामायण में इस सम्बन्ध की एक कथा इस प्रकार है :

"एक बार रावण पाताल में गया। बलि से उसने कहा कि हम तुम्हें क़ैद से छोड़ाने आये हैं। बलि ने कहा कि तुम यदि हिरण्यकशिपु का कुण्डल छीन लाओ तो हम समझें कि तुममें शक्ति है । परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी रावण ऐसा न कर सका।" रावण बलि की सहायता के लिये गया था, इसलिये कवि ने उसे 'असुराधिपबन्धु' कहा।

प्रेरणाय न दिवस्य न यज्ञैर्व्याहृतस्य भवतात्र विधातुम् ।
द्वैधमुग्ररिपुसैन्यसमुद्रग्रस्तसर्वविषयेन न शक्यम् ॥५१॥

सद्धनेन पणबन्ध भारतौ कल्पयन्ति बलभाजि न यज्ञाः ।
तं प्रियावितरणेन यदि स्यात्सिद्धिरत्र परमोऽयमुपायः ॥५२॥

त्वय्यलङ्घ्यनलकूबरशापक्रूरवक्त्रपतनं न वेत्सि ।
केवलन्तु कुलहिंसनहेतोः पासि विष्णुतुलितस्य कलत्रम् ॥५३॥

अस्ति काचिदिति नूनमनूना राघवेऽपि तव दुर्जयशङ्का ।
येन वर्णिवपुरेत्य कलत्रं तस्य हर्तुमभवत्तव यत्नः ॥५४॥

५१. तेजस्वी शत्रु के सेना रूपी समुद्र से आपका सम्पूर्ण देश ग्रस्त हो गया है। अब आप नीतिज्ञों से कहे गये 'द्वैध' (भेद करा देना) का भी विधान नहीं कर सकते ।

५२. नीतिज्ञ कहते हैं यदि शत्रु बली हो तो उसे कुछ ले-दे कर सन्धि कर लेनी चाहिये । इसलिये उनकी प्रिया (सीता) को वापिस देकर यदि कार्य-सिद्धि हो तो यही एक परम उपाय है ।

५३. क्या तुम अजेय नलकूबर का अपने क्रूर सिर के पतन वाला शाप भूल गये हो ? हमें तो ऐसा लगता है कि तुम केवल अपने कुल के नाश के हेतु, विष्णु के समान राम की पत्नी की रक्षा कर रहे हो ।

विशेष—नलकूबर का शाप—कथा :—एक समय रावण कैलास पर्वत पर गया। वहाँ वह 'सर्वश्रेष्ठ, पूर्ण चन्द्रमुखी' रम्भा को देखकर अतीव कामासक्त हो गया ; और रम्भा के हजार कहने पर 'कि मैं तो आपकी पुत्रवधू हूँ' उसने बलात् उससे संभोग किया। रावण कुबेर का भाई था। नलकूबर, कुबेर का पुत्र था। इस प्रकार रम्भा रावण की पुत्रवधू हुई। जब नलकूबर ने रम्भा से यह वृत्तान्त सुना तो उसने रावण को शाप दिया कि जब कभी तुम परस्त्री के साथ बलात् ऐसा करना चाहोगे तो तुम्हारे सर कट-कट जायेंगे ।

कामामोहाभिभूतात्मा नाश्रौषीत्तद्वचो मम।
याच्यमानो मया देव स्नुषातेऽहमिति प्रभो ॥
यत्सर्वं पृष्ठतः कृत्वा बलात्तेनास्मि धर्षिता ।

जब रम्भा ने यह बतलाया तो, नलकूबर ने शाप दिया :

'तस्मात्स युवतीमन्यां ना कामामुपयास्यति।
यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम् ॥
मूर्धा तु सप्तधातस्य शकलो भविता तदा ।

वा० रा० उ०— २६—५४—५६ ।

५४. अवश्य ही तुम्हें राम को जीतने में बड़ी शङ्का भी रही है । तभी तो तुमने सन्यासी का वेष बना कर उनकी पत्नी को हर लाने का यत्न किया है ।

तस्य दूतमपि वेत्सि चयेन पातितस्तव सुतोऽक्षकुमारः।
इत्युदारमभिभाष्य स तूष्णीमास्त मौनमुचितं खलु मूर्ते ॥५५॥

इतीरितं मातृगुरोर्वचस्तत् प्रशंसतस्संसदि यातुधानात्।
अङ्गारवर्षैरिव लोचनानां व्रातैः किरन्निन्द्ररिपुर्बभाषे ॥५६॥

पथ्यं पथोपत्यमयं व्यपेतं वशी विशङ्कं वदतु प्रसह्य।
निन्दन्ति ये तद्युपदेशलाभात् तद्दन्तमद्यैव पिनष्टि मुष्टम् ॥५७॥

शङ्का कुतो मस्करिवेषलक्ष्म्या वयं न सञ्चस्करिमात्मरूपम्।
मा योषितन्नीनशदुग्रमग्रे दृष्टं वपुस्तामिति गोपितं नः ॥५८॥

विनोपभोगं भवने भवन्तु सीतादयो मे वशगस्य देव्याः।
अनन्तकोशस्य नृपस्य रत्नं शिखान्तमारोहति किञ्चिदेव ॥५९॥

५५. तुम उसके दूत (हनुमान) को भी जानते हो जिसने तुम्हारे पुत्र को मारा है। इतनी सारगर्भित बात कह कर माल्यवान चुप हो गया। (ठीक ही है) जब सुनने वाला मूर्ति के समान बैठा रहे अर्थात् उस पर उपदेश का कोई असर न हो तो फिर चुप रह जाना ही उचित है।

५६. माल्यवान के द्वारा कहे हुए उपदेश की सभा में प्रशंसा करते हुए राक्षसों को देखकर इन्द्र का रिपु रावण, उन राक्षसों की ओर आंखें तरेर कर, जैसे अङ्गार की वर्षा कर रहा हो, देख कर बोला।

५७. ये मनस्वी माल्यवान निःशङ्क होकर जो खामखाह हमारे विरुद्ध पथ्य की बात कह रहे हैं, वे कहा करें। परन्तु अन्य लोग जो लाभ के बहाने हमारे आचरण की निन्दा करेंगे उनको यह हमारा घूंसा अभी ही पीस डालेगा।

५८. हमें क्या शङ्का है ? हमने तो भिखारी का रूप नहीं बनाया है। (भिखारी का रूप तो राम ने बनाया है, यह भाव है) उनकी पत्नी को ये उग्र राक्षस लोग जो सामने बैठे दिखाई पड़ रहे हैं, कहीं नष्ट न कर दें, इसलिए हमने उसे छिपा दिया है।

५९. मैं तो देवी मन्दोदरी के वश में हूं। सीता ऐसी कितनी (नगण्य) स्त्रियां हमारे महल में पड़ी हैं। जिसके पास स्वयं रत्नों का अनन्त कोश है वह किसी खास ही रत्न को सिर पर चढ़ाता है।

दिग्दन्तिदन्तायुधभिन्नरत्नकेयूर बन्धज्वलितांसपीठः ।
सोऽयं भुजो मे पणबन्धबुद्धिं युद्धैकलब्धो न ददाति कर्तुम् ॥६०॥

यं शक्रः प्रतिपद्य खण्डितबृहद्धामानतो मानतो
विभ्रष्टैरुपवीज्यते प्रतिदिनं यश्चामरैश्चामरैः ।
कातर्यातुरचेतसः प्रतिकथात्कामानवान्मानवात्
विष्णुस्तन्नजयेज्जितद्विरदराड्वैरावणं रावणम् ॥६१॥

कर्तुंम शक्तोहमाजौ शरभ मुखगतन्यंकुमारं कुमारं
नो वै मन्ये तृणाय त्रिभुवनमखिलं संहरन्तं हरन्तम् ।
युद्धे वेदाम्बुनाथं प्रथमतरजितं पाशवन्तं वशान्तं
कास्था जन्येषु भीत्या तरलतरदृशि स्यान्नरे वानरेवा ॥६२॥

भीमं संग्रामभूमौ रिपुकुलजयसंयोगदायागदायाः
पक्षमैलेन सोढ्वाचलितगुरुधृतिः कं प्रहारं प्रहारम् ।
लीलोदस्तैकहस्तक्षतदलितमुखच्छिन्न दन्तं न दन्तं
सोऽहं नेतुं समर्थो भुजतरुघटनाबन्धनेशं धनेशम् ॥६३॥

६०. दिग्गजों के दाँत रूपी आयुध से तोड़े हुए रत्नों से जड़े केयूरबन्ध से जिसके कंधे अलंकृत हैं ऐसी भारी भुजा इस युद्ध का अवसर पाकर किसी सन्धि की बात नहीं करती।

विशेष—उपर्युक्त श्लोकों में रावण ने माल्यवान की प्रत्येक शंका का उत्तर दिया है।

६१. जिस रावण की सहायता प्राप्त कर इन्द्र की सेवा पति-परित्यक्ता कामिनियों का समूह करता है और जिस पर मान-भ्रष्ट देव-वृन्द प्रतिदिन चँवर डोलाते रहते हैं तो का भी मनुष्यों की कौन गिनती ? उस रावण को जिसने हस्तिराज को जीत लिया है विष्णु भी नहीं जीत सकते।

६२. युद्ध में मैं कार्तिकेय को एक छोटे बच्चे के समान पकड़ कर शरभ के मुख में छोड़ सकता हूँ (जो उन्हें कच्चा चबा डाले)। मैं सम्पूर्ण त्रिभुवन संहार करने वाले शिव को तिनके के समान भी नही मानता। पाश धारण करने वाले वरुण को, जिसे मैं पहिले ही जीत चुका हूँ, उसे तो मैं अपने वश में ही जानता हूँ, तब फिर मनुष्यो एवं वानरो की क्या हस्ती है जिनकी आँखें डर के मारे सदा आर्द्र रहती हैं।

६३. ऐल के द्वारा संग्रामस्थली मे शत्रुवर्ग पर जय का सयोग प्रदान करने वाली गदा के अचानक प्रहार को सह कर अविचल्ति महान् धैर्य वाला मैं अनायास ही एक हाथ से ही विक्षत किये गये और दलित मुख एवं टूटे दाँत वाले चिल्लाते कुबेर को अपनी भुजा-रूपी तरु के बन्धन में ले आ सकता हूँ।

एवं नेतुं न शक्यो नयविदुशनसायं स मोहं समोहं
निर्दोषावस्समूह क्षितपतितनयं यानवन्तं नवन्तं।
तद्यातेति प्रतस्थे कुलिशहतिकृतव्यासमांसे समांसे
-न्यस्य स्कन्धे पतन्तं त्रिदशजन वधूहासहारं सहारम् ॥६४॥

इति पञ्चदशः सर्गः।

६४. तब वह रावण, उन लोगों से जो राम के प्रशंसक थे और जो राम के पास जाने के लिये उत्सुक थे, यह कह कर कि "मैं नीतिज्ञ उशानस (शुक्राचार्य) के समान हूं, मुझे इस प्रकार घबड़वाया नहीं जा सकता; तुम लोग पृथ्वीपति (राम) के पास, जिनके साथ निर्दोष राजाओं का समूह है, चले जाओ," (ऐसा कह कर) अपने मांसल कन्धे पर जिसका मांस वज्राघात से कट गया था, अपने हार को जिसने सौंदर्य में देवाङ्गनाओं के हास को जीत लिया था, झटके से डालकर, वहाँ से चला गया।

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त।

अथ षोडशः सर्गः

अथ दिवसविधेयमिन्द्रशत्रोर्निरवसितं प्रतिहारतो विदित्वा ।
अनुमतिमधिगम्य तस्य भानुः गिरिमपरान्तमहार्णवस्थमीये ॥१॥

अरुण करदृढावकृष्टरश्मि प्रणमितकन्धरभुग्नचारुघोणाः ।
दिवसकरहया गिरीन्द्रभित्तेर्जघनपतद्रथनेमयो वतेरुः ॥२॥

सरभसनिपतद्घनान्धकार भ्रमरकुलैरवलुप्यमान मूर्तिः ।
अपसरण विधानमोहमानः पयसि भयादिव मज्जतिस्म भानुः ॥३॥

अरुणितमथ सन्ध्यया मुहूर्तं तदनु तमोभिरुपात्त कोशरन्ध्रम् ।
कुमुदमलिगणो ददर्श दूरादरुणसितेतर वारिजाभिशङ्की ॥४॥

सरसिजमणिवेदिकासुभिन्नप्रचुरतरङ्गकणावकीर्णवाते ।
उपवनसरसीरुहं दिनान्ते हतमिव शीतरयेण संचुकोच ॥५॥

१. तब द्वारपाल से यह जान कर कि रावण का दिन भर का काम समाप्त हो गया, सूर्य उसकी अनुमति लेकर, पश्चिम महासागर में स्थित अस्ताचल पर चले गये ।

विशेष—यहां से बड़ा ही सुन्दर, सूर्यास्त, सन्ध्या एवं रात्रि का वर्णन आरम्भ होता है।

२. (ढालपर) अरुण (सूर्य का साथी) ने बड़ी दृढ़ता से, अपने हाथों से राम को खींचा, जिसके कारण घोड़ों के कंधे झुक गये और उनके सुन्दर नयने तिरछे हो गये, इस प्रकार सूर्य के घोड़े, पहाड़ की चोटी से नीचे उतरे और (उतरते समय) रथ के पहिये उनकी जांघों से सट गये ।

३. सहसा घने अन्धकार से परिवेष्टित हो जाने के कारण, जैसे भ्रमरों के समूह ने उसे घेर लिया हो, सूर्य, भागने की इच्छा से, डौल लगाकर पानी में डूब गया ।

विशेष—जब मनुष्य को मधुमक्खियों का झुंड घेर लेता है तो वह जान बचाने के लिये पानी में बूड़ जाता है। तद्वत् ।

४. सन्ध्या के कारण जिसका गर्भ (भीतरी भाग) क्षण भर के लिये पहिले लाल हो गया था और फिर अन्धकार के कारण श्यामल हो गया, ऐसे कुमुद को देख कर भ्रमरो के झुंड को शङ्का हुई कि यह लाल कमल है या नील कमल ।

५. सन्ध्या के समय, माणिक्य की वेदी पर, हवा के कारण, टकराने से सरोवर की बहुत सी लहरियों से सिञ्चित, उपवन का कमल, तीव्र शीत से जैसे पीड़ित होकर, सिकुड गया ।

द्रुतमपसरतेति भानुरस्तं सरसिरुहेषु दलार्गलाः पतन्ति ।
भ्रमरकुलमिति ब्रुवन्निवालिः क्वणितकलं विचचार दीर्घिकायाम् ॥६॥

सति दिवसपरिक्षयस्य योगे निपतितसद्वयसस्तमोऽभिभूताः ।
विनमितचलमस्तका बभूवुः समुपहता जरसेव वृक्षगुल्माः ॥७॥

विगलितवति तिग्मभासि सन्ध्या परिगतलोहिततारकं नभस्तत् ।
त्रिदशशरशत व्रणावकीर्णं हृदयमनुव्रजति स्म रावणस्य ॥८॥

दिवसकरभयादिवोपलीनो जलधिजलान्तरितस्तुषाररश्मिः ।
रविरपचलितो नवेतिबोद्धुं नभसि करानिव चारयांबभूव ॥६॥

प्रथम गमितमन्थकारिभावं पुनरतिपिङ्गलतारकं विधाय ।
भुवनमथ कलात्मना समस्य त्रिनयनरूपमलम्भयत्प्रदोषः ॥१०॥

दिवसविगमलङ्घितस्य भानोरवनतिरुन्नतिरिन्दुमण्डलस्य ।
अविकलवपुषः समानकालं नभसि तुलामधिरूढयोरिवास्ताम् ॥११॥

६. "जल्दी से निकल भागो, सूर्यास्त हो गया, कमलों पर उनकी पँखुड़ी रूपी कुंडी बन्द हो रही है", भ्रमरों के समूह को यह चेतावनी देता, एक भृंग भनभनाता हुआ, सरसी पर इधर-उधर चक्कर लगाने लगा ।

७. दिन के अवसान पर, वृक्षों के कुञ्जों ने, जैसे बुढ़ापे के कारण, अपने हिलते हुए मस्तकों को झुका दिया, और अन्धकार से आक्रान्त उसे छोड़ कर पक्षिगण (अपने-अपने स्थान पर बसेरा लेने) चले गये ।

८. सन्ध्या के समय, सूर्य के ढल जाने पर, लाल-लाल तारों से व्याप्त आकाश, रावण के हृदय की भाँति लगता था, जिसमें देवताओं के बाणों से लगाये हुए अनन्त घाव हों ।

६. सूर्य के डर से छिपा हुआ चन्द्रमा, जो समुद्र के जल के भीतर था अब (सन्ध्या हो जाने पर) यह जानने के लिये कि सूर्य चला गया या नहीं, अपने करों को (कर=हाथ= रश्मि) (बाहर निकाल कर) आकाश में चारों ओर फेर रहा है ।

१०. सन्ध्या ने पहिले तो अन्धकार का भाव ग्रहण किया। फिर अतीव पिङ्गलवर्ण तारिकाओं का सृजन किया । तदनन्तर अपनी कलाओं के द्वारा (चन्द्रमा से) सम्पूर्ण भवन का एकीकरण किया । इस प्रकार उसने त्रिनेत्र (शिव) का रूप धारण किया ।

११. दिन के अन्त होने पर, एक ही समय में, सूर्य के अस्त होने और सम्पूर्ण कलाओं से चन्द्रमा के उदय होने से ऐसा लगता है जैसे वे आकाश में, तराजू पर एक-एक पलड़े पर बैठे हों ।

उदयमरुणिमां परित्यजन्तं प्रविसृजति स्म शशाङ्कमच्छबिम्बम् ।
चषकममलमिन्द्रदिङ्मुखेन स्फटिकमयं मधुनीव पीयमाने ॥१२॥

शठमिवदयितं दिशः प्रदोषं मुहुरधिगम्य रुषेव भिन्नवर्णाः ।
स्थितिमुपरिपयोधरस्य सन्ध्याविलसितकुङ्कुममण्डनममार्जुः ॥१३॥

क्षिपति निशि पयोघरे निशान्ते रहयति किं तिमिरोत्तरीयमाशा ।
इति रचितविपर्ययस्य साक्षिस्फुटमिव कौमुदमाततान हासम् ॥१४॥

परभृतरुचितासमं हिमांशोरुदयगिरेरुदितस्य मण्डलेन ।
अतिपटु पटलं विपाट्य विश्वं विवरगते विहितं नु संहृतं नु ॥१५॥

१२. उदय होने के समय की ललाई को छोड़ते हुए, चन्द्रमा का स्वच्छ बिम्ब, ऐसा लगता है, जैसे पूर्व दिशा ने स्फटिक के शुभ्र चषक (मदिरा का प्याला) से मदिरा पी डाली हो।

१३. दिशाएं बार-बार यह देखकर कि प्रदोष (सन्ध्या) तो बड़ा धोखेबाज प्रेमी है जैसे मारे गुस्से के विवर्ण हो गईं और अपने स्तनों (श्लेष=बादलों) पर विलास करते हुए चित्रण को उन्होंने मिटा दिया।

विशेष—प्रदोष के समय दिशाओं का रंग क्षण-क्षण में बदलता है और अन्त में सब रंग मिट जाते हैं, यह प्राकृतिक नियम है।

१४. यह दिशा (नायिका) अपनी अन्धकार रूपी चादर, सन्ध्या के समय अपने स्तनों पर ओढ़ लेती है और रात्रि के समाप्त होने पर वह क्यों उतार कर फेंक देती है। उसके इस उलटे व्यवहार को देखने वाला कुमुद जोर से हँसा।

विशेष—सन्ध्या समय दिशायें अन्धकार से ढंक जाती हैं और फिर प्रातःकाल स्वच्छ हो जाती हैं। यह प्राकृतिक नियम है। सन्ध्या हुई, कुमुद फूला। उसके फूलने को कवि कहता है कि वह हँसा। वह क्यों हँसा? इसलिये कि उसने देखा कि दिशा रूपी नायिका को सन्ध्या के समय अँधेरे में जब उसे अपने को ढकने की कोई आवश्यकता न थी तब तो वह अपने स्तनों को अन्धकार रूपी चादर से ढंक लेती है और प्रातःकाल जब उसे स्तनों को ढंक लेना चाहिये तब वह उस चादर को उतार कर फेंक देती है। ऐसी उल्टी रीति को देख कर वह हँसा। यह भाव है।

१५. उदयाचल पर निकले हुए चन्द्रमा के मण्डल ने, कोयल की तरह काले विश्वभर के अति घने अन्धकार को छिन्न-भिन्न करके, क्या गुफाओं की कन्दरा में रख दिया है या उसे नष्ट ही कर डाला?

इह हरिणकलङ्ककान्तिलेशैः सहपतिता मृगलक्षणस्य कान्तिः ।
अलिभिरवततैन्यंधत्त वापी कुमुदवनैरिति शङ्कितं जनेषु ॥१६॥

अचिरसमुदिताय हारगौरैः हिमशिशिरैरनुगृह्णते करौघैः ।
उदकलवपरम्पराभिरर्घ्यं शशिमणितोरणमिन्दवे ततान ॥१७॥

द्युतिभिरवजितो निशाचरीणामहमतुलस्य न केवलं मुखस्य ।
अयमपि हरिणो जितः कटाक्षैरिति जगतामिव दर्शयन् मृगाङ्कम् ॥१८॥

घृणिभिरधिपुरं पुरस्सुवेलक्षितिधरमस्तकजर्जरैः पतद्भिः ।
प्रमदमधिमनो नितम्बिनीनां अभिनवनिर्झरशङ्कया वितन्वन् ॥१९॥

मनसि मनसिजं मनस्विनीनामविरलमुन्नमयन्निजेन धाम्ना ।
द्विपदशनरुचिः पदं कलानामुदयगिरेरुदियाय दिक्प्रदीपः ॥२०॥

१६. 'यहाँ पर चन्द्रमा की कान्ति, उसके हरिण रूपी कलङ्क के टुकड़ों के साथ गिर पड़ी है'—इस प्रकार उस झील में फूले हुए कुमुद समूह को, जिन पर भृङ्ग मंडरा रहे थे, देखकर लोगों ने शङ्का की।

१७. जैसे ही चन्द्रमा ने उदय होकर, चन्द्रकान्त मणि से बने हुए तोरणों को, अपने हिम के समान शीतल और हार के समान शुभ्र किरणों से अनुगृहीत किया (त्योंही उन पर चन्द्रकिरणें पड़ीं) तो उन्होंने (तोरणोंने) जल के कणों की धार से उसको अर्घ्य दिया।

विशेष—चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से चन्द्रकान्त मणि से पानी बहता है, ऐसा कहना है।

१८. "इन निशाचारियों के अनुपम मुखों की कान्ति 'से हमीं केवल नहीं हारे हैं। देखो यह मृग भी उनके कटाक्षों से हार गया है", ऐसा कहता हुआ वह (चन्द्रमा) जैसे दुनिया को अपने मृगाङ्क को दिखला रहा है।

विशेष—कान्तानां कुवलयमप्यपास्तमक्ष्णोः शोभाभिर्न मुखरुचाहमेकनैव।
सहर्षा वलिभिरतरितीव मायल्लोलोर्मौ पयसि महोत्पलं ननतः निभाय।

१९. सामने सुवेल पर्वत के शिखर पर छिटक कर गिरती हुई किरणों के द्वारा, सुन्दर नितम्ब वाली स्त्रियों के हृदय में, एक नये निर्झर की शङ्का उत्पन्न कर उनमें काम का सञ्चार करता हुआ।

विशेष—श्लोक १९ और २० 'विशेषक' है। २०वें श्लोक में 'उदयगिरेरुदियाय दिक् प्रदीपः' के साथ अन्वय होगा।

२०. मनस्विनी स्त्रियों के मन में, अपनी प्रभा से, निरन्तर कामोद्दीपन करता हुआ, हाथी दांत के समान शुभ्र, कलाओं का आश्रय स्थान, दिशाओं का प्रदीप, (चन्द्रमा) उदयाचल से उदय हुआ।

गगनसरसि चन्द्ररूप्यकुम्भे व्यपसर्रति स्म निपातिते रजन्या ।
तदुपहित तरङ्ग धूतनीलीनिकरइवातिघनस्तमः प्रवाहः ॥२१॥

सुरकरिणइवाहतः करेण प्रवितत सन्तमसाम्बुराशिरिन्दोः ।
अनुपहतगतिर्दिगन्तवेलावलयवनानि विलङ्घयन् प्रतस्थे ॥२२॥

प्रियविरहसमागमाश्रयाणांमुखकमलानि निशा नितम्बिनीनाम् ।
उदितवति मृगाङ्कचन्द्रविम्बद्युतिभिरिवोडुपतावलञ्चकार ॥२३॥

पथिकयुवतिदृष्टयोऽनुजग्मुः सरसिजरागमणिश्रिय रुचैव ।
शशिनि समुदिते शशाङ्ककान्तं किरणवृतं क्रियया निदर्शयन्त्यः ॥२४॥

अपिहितसलिलेन निष्प्रदेशं कुमुदवनेन कुमुद्वती विरेजे ।
घननिपतित भृङ्गचित्रभासा मृगरिपुचर्मं कृतावकुण्ठनेव ॥२५॥

निशिपयसि पदानि कुर्वतीषु ग्रहनिकरप्रतिमासु मल्लिकाक्षः ।
इतरमपि जलाशयं निकूजन् समुपससार कुमुद्वतीति हृष्टः ॥२६॥

२१. जब रात्रि (नायिका) ने चन्द्ररूपी चाँदी के घड़े को आकाश रूपी सरोवर में गिराया तो उससे उठी हुई लहरों ने सेवार के समूह रूपी घने अन्धकार को दूर फेंक दिया।

२२. चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से अन्धकार का समुद्र उमड़ कर दिगन्त के किनारे पर कड़े के समान स्थित वनों में चला गया जैसे देवताओं के हाथी ऐरावत के सदृश उन्हें वहाँ खदेड़ दिया हो।

२३. रात्रि ने चन्द्रमा के उदित होने पर प्रिय विरह के बाद मिलन का आश्रय पाने वाली नितम्बिनियों के मुख कमलों को मृग से अंकित शशि की किरणों से मानो अलंकृत किया।

२४. पथिकों की (विरहिणी) की आँखें जो पहिले माणिक्य की प्रभा की तरह लाल थी, परन्तु जब चन्द्र उदय हुआ तो उसकी किरणों से घिर जाने के कारण वे चन्द्रकान्त-मणि के (स्वाभाविक) काम को दिखलाने लगीं।

विशेष—पथिकों की (विरहिणी) स्त्रियों की आँखें पहिले वियोग के शोक से केवल लाल थीं, परन्तु चन्द्रमा के उदय होने से वे रोने लगीं। यह भाव है।

२५. कुमुदिनी की लता, जिसने अपने पुष्पों के समूह से जल को ढँक लिया था और जो भृङ्गों के झुंड के उन पर बैठ जाने से रंग-बिरंगी हो गई थी, ऐसी लगती थी जैसे उसने चीते की खाल को ओढ़ लिया हो।

२६. रात्रि के समय तैरते हुए मल्लिकाक्ष (हंस विशेष) ने एक दूसरे तालाब में तारिकाओं के समूह की परछाँई पड़ते देख, यह समझ कर कि वह कुमुद्वती है, बड़े हर्ष से कूदता हुआ वहाँ चला गया।

इति तुहिनरुचौ विकीर्णधाम्नि प्रचुरतमोभिदुरस्वरश्मिजाले ।
मनसि मकरकेतनस्य यूनां विलसितमात्मनि विक्रिया विवव्रुः ॥२७॥

स्वयमपि विरचय्य पत्रभङ्गीर्वदनहिमद्युतिलक्षणं कयाचित् ।
चिरयति हृदयेश्वरे रमण्या नयन जलेन फलच्युतां निरासे ॥२८॥

न भवति दयितस्य सन्निकर्षे फलरहितो विरहेषु तस्य रागः ।
इति मनसि निधाय यावकेन व्यचरयदन्यतरा न दन्तवासः ॥२९॥

इतरयुवतिपादघातचिह्नं सरससमर्पित यावकं पदं यत् ।
उरसि न दयितस्य तद्विवेद स्फुटमणिकुण्डल रागरुद्धमन्या ॥३०॥

प्रियवचनविधायिनो न भर्तुः चलदलकच्युत चूर्णलेशमक्ष्णोः ।
मदनसमुचिताङ्गसङ्गिदृष्टेर्व्यपनयति स्म मुखानिलेन काचित् ॥३१॥

सुरपतिरिपवः प्रियानिरस्तश्रवणसरोरुह निर्वृतेऽपि दीपे ।
रतिषु ददृशुरेव काञ्चिरत्नद्युतिपरिभितमिस्रमूरुमूलम् ॥३२॥

२७. जब शीत रश्मि चन्द्रका ने चाँदनी छिटका कर अपने रश्मि जाल से घने अन्धकार को मिटा दिया, तो कामदेव ने युवा पुरुषों के हृदय में अपने विलास का विस्तार किया।

२८. एक रमणी ने, जिसने अपने चन्द्रमा के समान मुख को स्वयं अपने हाथों से चित्रित किया था, जब देखा कि उसके हृदय के स्वामी के आने मे बहुत देर हो गई है, तो उसने उस चित्रण को, निरर्थक समझ कर, अपने आँसुओं से धो डाला।

२९. 'जब प्रेमी पास रहता है तो यह यावक लगा नहीं रहता। और जब वह (प्रेमी) पास नहीं रहता तो उसकी कोई आवश्यकता नही रहती।' ऐसा अपने मन में सोच कर एक दूसरी स्त्री ने अपने ओठों पर यावक नहीं लगाया।

विशेष—जब प्रेमी पास रहता है तो ओंठों पर यावक रहने नहीं पाता। चुम्बनों से वह उसे मेट देता है। यह भाव है।

३०. अपने प्रियतम के वक्ष पर, किसी दूसरी रमणी का लगाया हुआ गीले यावक का पद-चिह्न, उस स्त्री के (माणिक्य) मणि के बने हुए कुण्डल की प्रभा में छिप गया। (*अर्थात् कुण्डल की प्रभा के कारण उसने नही देख पाया, यह भाव है।*)

३१. एक आज्ञाकारिणी स्त्री ने अपने लहराते हुए बालों से पति की आँखों में गिरे हुए 'पाउडर' (सुगंधित चुकनी) को मुँह से फूंक कर नहीं हटाया। क्योंकि उस समय उसकी आँखें उसके कामासक्त करने वाले अङ्गों को देख रही थीं।

३२. यद्यपि प्रेयसी ने अपने कान में लगे हुए कमल को फेंक कर दीपक को बुझा दिया था पर देवताओं के शत्रु, राक्षसों ने, रति के समय मेखला की मणियों से निकली हुई प्रभा से उसके उरु भागों को देख लिया।

विवसनविहितोतगूहनानां घनजघनस्तनकुम्भकुङ्कुमेषु ।
अपि परिगलितेषु कामिनीनां न विगलितानि तनूदराश्रयाणि ॥३३॥

चरणतल सरोरुहेण यत्त्वां प्रहृतवती शिरसि प्रियातिकोपे ।
स किलपरमनुग्रहः प्रसादे हृदिरचिते तव कीदृशो नु लाभ. ॥३४॥

अधरपुटमिदं मदार्तरामारभससमर्पितदन्त खण्डितं ते ।
अयि शठ परिशान्तये रुजायाः नयन जलेन निषिञ्चसि प्रसक्तम् ॥३५॥

करकिसलयगोपितं मुखं त्वं किमिह विधाय वदस्ययं ममाग्रे ।
तिरयसि दशनक्षतं प्रियायाः वयमुत गौरवभाजनं किमेवम् ॥३६॥

इति वचसि रुषा परिस्खलन्त्यः प्रणयिषु राक्षसयोषितो विपक्षैः ।
परिमिलितविसर्जितेषु रूक्षं नयनजलग्रथितं वचो वितेनुः ॥३७॥

अपि तव दयिते समीपभाजि श्वसितरयग्लपिताधरस्य कान्तिः ।
चरणनिपतिने निपातितस्ते न च करुणा परिमन्थरः कटाक्षः ॥३८॥

३३. कामिनियों के वस्त्रों के उतार डालने पर, आलिङ्गन से उनकी उभरी हुई जाँघों और स्तनों का कुंकुम तो पुँछ गया पर उनके पतले कटि प्रदेश का कुंकुम नहीं पुंछा ।

३४. कुपित होने के कारण अपने चरण कमल से जो उसने (प्रिया ने) तुम्हारे सर पर आघात किया है और फिर तुम पर हृदय से प्रसन्न हो गई है, तो इससे अधिक तुम्हारा क्या लाभ हो सकता है ।

३५. अरे धूर्त ! काम-पीड़ित होकर उस ललना ने जो तुम्हारे ओंठों को जोर से काट लिया है तो उसके घाव को शान्त करने के लिये तू उसे अपने आँसुओं से सींचता है । (कितना बड़ा वंचक है तू ! यह भाव है ।)

३६. मेरे सामने तुम अपने किसलय के समान हाथ से मुख को छिपा कर बोलते हो । इसका कारण यह है कि तुम्हारी प्रिया ने जो तुम्हारे ओंठो को दांत से काट लिया है उसे छिपाना चाहते हो या हमारा आदर किया चाहते हो ।

विशेष—कहीं-कहीं यह प्रथा है कि गुरुजनों से बोलने के समय, लोग आदर के लिये, मुंह के सामने हाथ कर लेते हैं।

३७. जब उनके प्रेमियों को सौतों ने अपने गाढ़ आलिङ्गन से मुक्त किया तो राक्षस पत्नियां अपनी आँखों के जल से रुंधे हुए, क्रोध के कारण अटक-अटक कर, इस प्रकार कठोर वचन बोलीं ।

३८. "जब तुम्हारा प्रेमी (सौत को छोड़ कर) तुम्हारे पास आ गया तो क्या दीर्घ निश्वास तुम्हारे अधरों की कान्ति पर नहीं छा गये ? क्या तुम्हारे नयनों के कटाक्ष, करुणा से ढीले नहीं पड़ गये जब वह तुम्हारे चरणों पर गिर पड़ा ?"

स्तनतटनिहितः करोऽवधूतः परिगदिते समधिश्रितं च मौनम् ।
विहसितमपि सान्त्वने सरोषं प्रणयिजने युवतेरयं हि दण्डः ॥३९॥

सखि जहिहि रुषं हिनस्ति पश्चात्तव तरलं हृदयं पुरानुतापः ।
इति निपुणसखी गिरा निरासे मनसि निशाचरयोषितोऽभिमानः ॥४०॥

यदि चिरयति दूति वल्लभो मे भृशमजनि त्वयि किं रुषोवकाशः ।
निजमतिरभसं यतो विदश्य क्षतिभिरिमं समयूयुजस्त्वमोष्ठम् ॥४१॥

मधुकुसुमविलेपनादि भागग्रहण विदर्शितसौहृदय्यवृत्त्या ।
अयमपि च सखि स्वयं वृतस्ते प्रियपरिभोग सुखस्य संविभागः ॥४२॥

दशन पदमतिस्फुटं विभाति स्फुरति तनुः श्रमवारिसिक्तमास्यम् ।
अवितथमभिधत्स्व कामिनीं त्वां कुटिलगतिर्ननु दष्टवान् भुजङ्गः ॥४३॥

अवितथमिदमात्मनिर्विशेषा सखि भवसीति वचः पुरा यदुक्तम् ।
अभिदयितमनुष्ठितं त्वया हि स्वयमखिलं मम यत्नतो विधेयम् ॥४४॥

३९. जब उसने अपने हाँथ को तुम्हारे स्तन-तट पर रखा तो तुमने (उस हाँथ को) हटा दिया, (उसके) बोलने पर तुमने चुप्पी साध ली, और उसके अनुनय विनय करने पर तुम (बनावटी) गुस्से से हँस दीं, अपने प्रेमी के प्रति युवतियों का यही दण्ड होता है।

४०. 'हे सखी ! क्रोध मत करो। बाद में (अर्थात् गुस्सा उतर जाने पर) तुम्हारा पश्चाताप तुम्हारे कोमल हृदय को सालेगा।' इस प्रकार एक चतुर सखी के कहने पर उन राक्षस पत्नियों के मन से अभिमान निकल गया।

विशेष—"जहिहि कोपं दयितोऽनुगम्यतां पुरानुशेते तव चञ्चलं मनः।
इति प्रियं काञ्चिदुपैतु मिच्छतीं पुरोऽनुनिन्ये निपुणः सखीजनः।
—किरातार्जुनीयम् ८, भारवि

४१. यदि हमारा प्रियतम (तुम्हारे पास) आने में देर करता है तो तुम क्यों इतना अधिक क्रोध दिखला कर अपना ओठ काटे डालती हो ?

४२. मैंने जब इतने मित्र भाव से मदिरा, पुष्प, विलेपन आदि तुम्हारे साथ बाँट कर लिया है तो हे सखि ! इससे तुम्हारा भी तो प्रियतम के साथ संभोग का सुख बढ़ गया होगा।

४३. उसके दाँत काटने का घाव स्पष्ट देख पड़ रहा है, शरीर काँप रहा है, श्रम के कारण मुँह पसीने-पसीने हो रहा है, सच-सच बताओ कि तुम्हारी कामासक्त अवस्था में उस कुटिल सर्प ने तुमको डसा है कि नहीं।

४४. हे सखि ! किसी समय तुमने कहा था कि तुम और हम बिलकुल एक समान हैं। वह बिल्कुल सच निकला, क्योंकि जो कुछ तुमने मेरे प्रेमी के साथ किया वह स्वयं मुझे यत्न से करना चाहिये था।

इति रचितरुपः सहासगर्वं श्रमजलबिन्दुचितं मुखं दधत्याः ।
श्रवणकटुनिशाचरस्य बध्वाश्चलित धृतेरुपदूति वाग्जजृम्भे ॥४५॥

श्वसित हृतरुचिर्वराधरोष्ठः करतलसंक्रमितश्च पत्रलेखः ।
निजगदतुरुपागते चिरेण प्रणयिनि राक्षसयोषितः प्रचिन्ताम् ॥४६॥

विफलपरिकरा विधायदूतीस्तदनु समेत्य च पृष्ठतो निलीनैः ।
युवतिनिगदितं सरोप गर्वं परिहृषितैरुपशुश्रुवे तदीशैः ॥४७॥

क्षितिरियमधरस्य यत्सुरासु स्रुतसहकार रसाहिता तदस्तु ।
अतरल हृदयस्य गण्डबिम्बे तव कतरोद्य नखक्षतस्य हेतुः ॥४८॥

युवतिनयनचुम्बनेषु पक्ष्मप्रविरचिता पटुरञ्जनस्य राजिः ।
तव चपलनिरूपिता नवोद्यत्प्रविरलरोम्णि कथञ्चिदुत्तरोष्ठे ॥४९॥

युवति मुखगतेन लोचनेन स्फुटमपि मे न शृणोपि जल्पितानि ।
मुखमधुर भुजङ्ग येन सत्यं कुटिलगते नयनश्रवोऽपि जातः ॥५०॥

४५. इस प्रकार सुनने में कड़वे और क्रोध एवं ताने से भरे हुए वचन उस राक्षसी के जो अधीर हो उठी थी और श्रम के कारण पसीने से भरे मुख से, दूती के प्रति वचन निकले ।

४६. जब उस राक्षस की पत्नी का प्रेमी देर से आया तो उसके (राक्षस की पत्नी के) निश्वास से अधरों की चमक निकल जाने से, और उसके पर के चित्रण (चिन्ता से बार-बार रगड़ने से) हथेली पर उतर आने से उसकी चिन्ता का पता चलता था ।

विशेष—'श्वसित चलित पल्लवाधरोष्ठे ।' किरातार्जुनीयम् १०—३४, भारवि ।

४७. जब दूतियाँ प्रेमियों को बुला लाने में असफल हो गई तो वे (प्रेमी लोग) वहाँ चुपके से आकर पीछे छिप गये और वहाँ से उन युवतियों के क्रोध और गर्व भरे वचनों को बड़े हर्ष के साथ सुना ।

४८. यह हो सकता है कि तुम्हारे अधरों पर जो छाला पड़ गया है वह मदिरा में आम का रस गिर जाने से हुआ हो । पर हे कठोर हृदय वाली ! यह तो बताओ कि तुम्हारे गालों पर यह नखक्षत कैसे हुआ ?

४९. हे उतावले ! (उस) युवती की आँखों का चुम्बन लेने से जो तुम्हारी भींजती हुई बीड़र मसों में उसकी बरौनी का कज्जल लग गया है, वह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है ।

५०. (उस) युवती के मुख की ओर तुम्हारी आँखें लगी होने के कारण मेरी स्पष्ट बातों को तुम सुन नहीं रहे हो । हे चिकनी-चुपड़ी बात करने वाले (भुजालग्न) तुम सचमुच कुटिल हो और (सर्प की भाँति) तुम केवल आँख से सुनते हो ।

इति मनसिजचञ्चलं युवानं रजनिचरप्रमदा निरूपयन्ती ।
अनिमिषनयना सहासवर्गं प्रणयरुषः प्रथनं वचोबभाषे ॥५१॥

स्वतनु वितरणेन तं प्रलोभ्य द्विपमिव वन्यमिहोपनेतुकामा ।
सखि गजगणिकेव चेष्टितासि स्मरति हि सज्जन एव मित्रकृत्यम् ॥५२॥

अकरुणमधिगम्य तं मदर्थे विशसनमेवमसंह्यमास्थितायाः ।
क्षतमिदमधरस्य केवलं ते मम हृदयस्य सखि व्यथातुतीव्रा ॥५३॥

इति सखि हसितां कृतव्यलीकामरुणितलोचनरम्यवक्त्रबिम्बा ।
सुररिपु वनिताऽपदिश्य दूतीमकृतगिरः परुषा रुषापरीतः ॥५४॥

सरसिज मणि कुन्तलोपमुक्तं मधु पपुरङ्गजमन्थरा युवत्यः ।
कथमपि परिनिस्सृतस्तदीयो रस इति मुग्धतया विशङ्कमानाः ॥५५॥

५१. इस प्रकार, उस कामासक्त होने के कारण चञ्चल युवा को दरसाती हुई, उस निशाचरी ने, उसको हिकारत भरी हँसी से, आँखें तरेर कर देखती हुई, प्रेम के कारण उत्पन्न क्रोध से कटु वचन बोली।

५२. हे सखि ! तुमने अपने शरीर के समर्पण से लुभा कर उसे यहाँ बुलाने की चेष्टा की है वह उस हथनी की भाँति है जो बनैले हाथी को लुभा-फँसा लेती है। सज्जन पुरुष मित्र के किये हुये काम को याद रखते हैं (भला मैं कैसे इस उपकार को भूल सकती हूँ) यह भाव है।

५३. हे सखि ! तुमने उस कठोर पुरुष के पास जाकर मेरे लिये क्लेश उठाया है। तुम्हारे अधर पर केवल घाव लगा है। परन्तु मेरे हृदय में उसकी बड़ी तीव्र पीड़ा हो रही है।

विशेष—सत्यमेव कथित त्वया प्रभो
जीव एक इति वत्पुरावयोः
अन्य धारनिहिताः नखव्रणा—
स्तावके वपुषि पीडयन्ति माम्।

५४. इस प्रकार वह तरुणी राक्षसी, जिसका मुख, क्रोध से लाल आँखों के कारण बड़ा सुन्दर लगता था, क्रोध से भरे, कटु शब्द, उस दूती से बोली, जो इतनी छलिया निकली, और जिसे और सखियां हँस रही थी।

५५. लाल कमल के समान मणि अर्थात् माणिक्य के प्याले से ढाली गई मदिरा को पीकर, मदोन्मत्त होने के कारण अलसाई हुई मुग्धा युवतियों को शङ्का हुई कि यह मदिरा किसी न किसी प्रकार स्वयं (चषक से निकल रही है।)

हृदयवदनलोचनेषु तासां मधु मदगन्धवपुः श्रियं निधाय ।
श्रमसलिलकणच्छलेन शुभ्रं बहिरभवच्छर पाण्डुगण्डबिम्बात् ॥५६॥

मुकुलयति सितेतरं सरोजं शशिनि समग्रकलास्पदे तदीयः ।
असितकुवलयद्युति कुरङ्गप्रतिनिधिरत्र ततान सीधुपात्रे ॥५७॥

प्रियगुणशतजर्जरैव पूर्वं मधुषु चिरं परिभोगवत्सुलज्जा ।
न युवति हृदये पदं विधातुं मदमदनास्थिति सङ्कटे विषेहे ॥५८॥

अभिनवरविबिम्ब लोहिनीभिर्द्युतिभिरभिन्नतया मनोहराभिः ।
सरसिजमणिशुक्तिषु प्रणष्टं युवति जनैर्मधु गौरवेण जज्ञे ॥५६॥

स्वयमथ पवनेन सौधपृष्ठे हृतरजसि प्रतिहारचोदितेन ।
किरणमनुपहत्य शीतभासः क्षणमधिगम्य पयोधरैर्निषिक्ते ॥६०॥

सुरयुवतिकदम्बकस्य गीतैरनुगत तुम्बुरुवल्लकी निनादे ।
सपदि परिवृतस्समन्मथेन त्रिदशरिपुः प्रमदाजनेन रेमे ॥६१॥

५६. वह मदिरा उनके हृदय, मुख और नेत्र में, नशा, सुगंध और रंग को (क्रमानुसार) रख कर उनके नरकुल के समान पांडु गालों के बिम्ब पर पसीने के कणों के रूप में स्वच्छ होकर बाहर निकल आई।

५७. जब चन्द्रमा ने अपनी सम्पूर्ण कलाओं से नील कमल को बन्द कर दिया तो उसके (चन्द्रमा के) प्रतिनिधि, कुरङ्ग ने नील कमल के सदृश परछाईं को मदिरा के प्याले में फैला दिया।

५८. प्रियतम के अनगिनती गुणों के कारण तो उसकी लज्जा पहिले ही चूर-चूर हो चुकी थी, परन्तु जब उसने बहुत देर तक मदिरा पी तो उस तरुणी के हृदय में मद और काम के भर जाने से उसे (लज्जा को) पैर रखने तक की जगह न मिल सकी।

५६. माणिक्य का प्याला और मदिरा दोनों ही एक समान मनोहर थे और नवोदित सूर्य के बिम्ब के सदृश लाल थे, इसलिये युवतियाँ प्याले की गुरुता ही से समझ पाती थीं कि (उसमें की) मदिरा समाप्त हो गई।

६०. जब द्वारपाल की आज्ञा से स्वयं पवन देव ने राजमहल को झाड़-पोंछ कर धूल रहित कर दिया और बादलों ने, क्षण भर में, बिना चन्द्रमा की किरणों को रोके छिड़काव कर दिया।

विशेष—श्लोक ६० और ६१ 'विशेषक' है। ६१ वें श्लोक के 'प्रमदा जनेन रेमे' के साथ अन्वय होगा।

६१. जब देवताओं की स्त्रियाँ गा रहीं थीं और तुम्बुर की वीणा उनका साथ कर रही थी तब सहसा कामासक्त होकर उस देवताओं के शत्रु (रावण) ने युवती स्त्रियों के साथ रमण किया।

मधुविनमित्तशातकुम्भकुम्भ सुतमखिलाननसक्तहेमशुक्तिः ।
सपदि दशमुखः पिबन् विजिग्ये सलिलनिधिं दशदिङ् नदीः पिबन्तम् ॥६२॥

तत विततघनाद्य वाद्यजातैः निजकरसन्ततिवादितैः स कः ।
त्रिविधकलपरिग्रहेण वक्त्रैर्युवतिमनर्तयताष्टभिश्च गायन् ॥६३॥

प्रति युवति विषक्तबाहुपङ्क्तिर्दशवदनागत तन्मुखारविन्दः ।
सममथ परितः प्रिया निषण्णाः परिरमयन्न ददौ रुषोऽवकाशम् ॥६४॥

इतरयुवतिदष्टदन्तवासाः वदनततिस्थित सीत्कृतिः प्रियाभिः ।
न वसुमनसिजन्मना शिरस्सु क्षतधृतिभिर्दयितो रुषाभिजघ्ने ॥६५॥

शठ यदि चषकीकृतं मुखं मे किमधरमद्य विखण्डयस्यकाण्डे ।
भवति मधु निपीय भाजनाग्रग्रसनरतिर्न हि कश्चनाप्रमत्तः ॥६६॥

६२. तब उस दशमुख (रावण) ने जिसके प्रत्येक मुख में सोने की सुतुही लगी थी, सुवर्ण के घड़ों से ढरकाई हुई मदिरा को पीते हुए, (ऐसा लगता था जैसे) उसने समुद्र को परास्त कर दिया जो दसों दिशाओं से उसमें गिरती हुई नदियों को आत्मसात् कर रहा हो।

६३. तब वह अकेला रावण अपने हाथों की परम्परा से अनेक प्रकार के वीणा, घन और वाद्यों को बजाता हुआ और आठ मुखों से, मन्द, मध्य एवं तार सप्तकों में गाता हुआ एक युवती को नचा रहा था।

टिप्पणी—रावण के दस मुख थे। आठ मुखों से तो वह गा रहा था; एक से बाँसुरी बजा रहा था, और एक से नृत्य का निदेशन कर रहा था। 'वितत'—यह यंत्र, जैसे वीणा, जिस पर तांत खिंचा हो। 'घन'—काँसे का बना यंत्र जिससे टन-टन कर ताल दिया जाता हो। 'आदि' में बाँसुरी सम्मिलित है, ऐसा लगता है।

६४. उस रावण ने अपने हाथों की पंक्ति से प्रत्येक युवती को जो उसके पास बैठी थी, आलिङ्गन कर, और उनके मुख को अपने दसों मुखों के पास समेट कर (अर्थात् उनका चुम्बन कर) सबों के साथ एक समय में विलास किया। इस प्रकार उसने किसी को भी क्रोध करने का अवसर नहीं दिया।

६५. जब उसके (रावण के) ओंठ को एक तरुणी ने दाँत से काट लिया और (उसके कारण) उसे सभी मुखों से सीत्कार का शब्द निकला तो अन्य सभी युवतियों ने जिनका कामासक्त होने के कारण धैर्य छूट गया था, उसके बाकी नवों सिरों पर प्रहार किया।

६६. 'हे शठ! जब तूने मेरे मुख से मदिरा के प्याले का काम लिया तो तूने बिना किसी कारण मेरे ओंठ को क्यों काट लिया? किसी मदान्ध को मदिरा पीकर प्याले के ओंठ को चबाने की रुचि नहीं होती?'

पिबति कथमिवापरा युवत्या दशन पदैः परिमुद्रितं तवोष्ठम् ।
इति युवतिजनेन राक्षसेन्द्रः स्फुट रचित भ्रुकुटी पताकमूचे ॥६७॥

अथ कटकनिवास दृप्तनागः प्रविततधातुविभूषितः सुमेरुः ।
द्युतिमभृत पुरत्रयस्य भेत्तुः शिरसि मुहुः स्थितशीतरश्मिबिम्बः ॥६८॥

त्रिभुवनभयरोगदानवन्तं द्विपमिव निर्भयमेत्य दानवन्तम् ।
नवशशधरकोटि धामदन्तं दधतमगुः सुरमागधामदन्तम् ॥६९॥

मेरोःशृङ्गंतुहिननिकरस्पर्शशीतश्शशीतः
पृथ्वीभागोऽप्यरुणकिरणैर्व्यक्तमस्तस्समस्तः ।
धुन्वन्पङ्क्ति वहति कुमुद प्रेमलीनामलीना-
मस्यन्वीचीनिलयमनिलस्सारसन्तं रसन्तम् ॥७०॥

लब्ध्वा मुञ्चद्युदधिरुदकह्लासवेलां सवेलां
याता निद्राविगमविरुतीश्चाविरामा विरामाः ।
पाण्डुच्छायामुपयति दिशामाननेनं ननेतं
ताराचक्रं विगत किरणोल्लासमस्तं समस्तम् ॥७१॥

६७. 'जब किसी दूसरी युवती ने तुम्हारे ओंठ को काट कर उस पर चिह्न बना दिया है तब कोई दूसरा कैसे तुम्हारा अधर-पान कर सकता है?' इस प्रकार भौंहों को चढ़ा कर युवतियों ने राक्षसों के स्वामी (रावण) से कहा ।

६८. सुमेरु पर्वत जिसके ढलवान पर मस्त हाथी निवास करते थे, जो बिखरे हुए धातु (गैरिकादिक) से शोभायमान था और जिसके शृङ्ग पर चन्द्रमा का मण्डल था, वह तीन नगरों के विध्वंस करने वाले, शिव की शोभा को क्षण-क्षण मे धारण करता था ।

विशेष—शिव के पक्ष में (१) 'कटक'=कमर के पास (२) दृप्त नागः= भयंकर सर्प। (३) 'प्रविपतत धातु विभूषितः'=भस्म से विभूषित (४) शिरसि=मस्तक पर।

६९. देवताओं के मागध, नशे में चूर, उस दानव के पास (गाना गाकर जगाने के लिये) गये, जो तीनों लोकों को व्याधि और भय का दान देने वाला था, जो मस्त हाथी के समान निर्भय था और जिसके दांत, अर्ध चन्द्र के कोने के समान नुकीले थे ।

७०. बर्फ के चट्टे के स्पर्श के समान शीतल चन्द्रमा मेरु के पर्वत के शृंग पर चला गया । लाल किरणों से पृथ्वी का भाव, अन्धकार से पृथक् दिखलाई पड़ने लगा । कुमुद में प्रेम से घुसे हुए भृंगों को वायु उड़ाने लगी और कूजता हुआ वह सारस लहरियों के ऊपर खड़ा हो गया ।

७१. समुद्र के उतार (भाटा) होने पर सूर्य किनारे से लौट रहा है । चिड़ियां, निद्रा के अवसान पर (जागने पर) निरन्तर चहचहा रही हैं । और दिशाओं का मुख, प्रातःकाल होने पर, पाण्डु हो गया तो समस्त तारा मण्डल, क्षीण किरण होकर, अस्त हो गया ।

विशेष—'विरामा'=वि=पक्षी, रामा=स्त्री—अर्थात् चिड़िया ।

ऋक्षश्रेण्यांविहित परिघोल्लङ्घनायां घनायां
सौमित्रे चागतवति रिपुत्रासहेतौ सहेतौ।
को रामे च घ्नति परभटस्तत्स हस्ते सहस्ते
किं तत्सैन्ये प्रहरति रिपुच्छिद्यशेषेऽप्यशेषे ॥७२॥

रक्षोलोकविनाशनेषु रहितच्छेदं सितो दंसितो
दृप्तः पाणियुगेन दुस्तरतरस्स्वर्हेतिना हेतिना।
युद्धायोपगतः करोति मनसां कम्पंसनः पंसनः
सेयं मानदतावदश्रुतपुराक्रोशायिता शायिता ॥७३॥

नक्तं नक्राधिवासं कुसुमशरशतत्रासितानां सितानां
क्रीडायामङ्गनानां घनकुचकलशैः कातरं तं तरन्तम्।
उत्थाप्यैवं ततस्ते सततरतिसुख व्यासकामं सकामं
तूष्णीमासन् सशङ्खध्वनिपटहरवज्या निशान्ते निशान्ते ॥७४॥

इति षोडशः सर्गः।

७२. जब रीछों की भारी सेना, फाटक को लांघ कर भीतर घुस आवेगी, जब शत्रुओं को दहलाने वाले, सुमित्रा के पुत्र (लक्ष्मण) अस्त्र-शस्त्र के सहित चले आवेंगे और जब राम और उनकी सम्पूर्ण सेना के प्रहार से शत्रु लोग (राक्षस) विदीर्ण हो जांयगे तब आपके पास कौन ऐसा वीर है जो उनके प्रहार को सह सकेगा, जब आप सो रहे हैं।

७३. राक्षसों का अच्छी तरह विनाश करने पर तुले हुए, अपनी दीप्ति से प्रसन्नचित्त, अपने दोनों हाथों में दुर्जेय दिव्यास्त्रों को लिये युद्ध के हेतु आये हुए, राम, हम लोगों के हृदय में कंपकपी पैदा कर रहे हैं। हे मान की रक्षा करने वाले! (रावण), आप नगर के क्रन्दन को न सुन कर, सो रहे हैं।

७४. रात्रि के अन्त में जब शङ्ख की ध्वनि और नगाड़ों का नाद समाप्त हो गया, तब रावण को, जो अपने कमरे में सो रहा था, जो कामदेव के बाणों से व्यथित सुन्दरी स्त्रियों के साथ विलास में रत होकर उनके स्थूल कुच कलश के सहारे रात्रि रूपी समुद्र में तैर रहा था, और जो निरन्तर रति में लिप्त होने से कामासक्त होकर कातर हो गया था, जगा-कर वे मागध चुप हो गए।

सोलहवाँ सर्ग समाप्त।

अथ सप्तदश: सर्ग:

प्रणम्य भक्त्याथ पितामहं महं विधाय बद्धादरमग्नये नये।
स्थितस्सुवेलादचिरादगा दगा दजस्य बन्धुः समरक्षमां क्षमाम् ॥१॥

द्विषो हि तस्यारिनिवारणे रणे विधित्सव. पौरुपदर्पदं पदम्।
हुताशनाग्नि द्युतिभासुरे सुरे विधिं वितेनुर्वलिसंहितं हितम् ॥२॥

अथाञ्जनक्ष्माधरपीवरो वरो गतः सुहृद्वक्त्रविकासदः सदः।
इमानि वाक्यानि दशाननो न नो जगाद वह्निप्रविकसभां सभाम् ॥३॥

यथा भवन्तो मयि धीरतारताः हिताह्वयं प्रेमसुशीभरं भरम्।
वहन्ति नैवं जननी सती सती प्रियात्मजो नाप्यनुकम्पिता पिता ॥४॥

तदेतदस्मिंस्तु कथं भवे भवेदनेकशो यन्मयि नाहितं हितम्।
असौ च कीर्तिर्भुवि सानया नया गुणेन वो मामभिरक्षता क्षता ॥५॥

१. जगत् के स्रष्टा, ब्रह्मा को भक्ति से प्रणाम कर और अग्नि की आदर के साथ, विधिवत पूजा कर, वह उचित नीति का पालन करने वाला, अज का वंशज, सुवेल पर्वत पर से समर भूमि में अविलम्ब आ गया।

२. शत्रु (राक्षस) ने भी युद्ध में अपने शत्रु (राम) को रोकने के लिए ऐसे मौक़े के स्थान को चुनने की इच्छा से जो उनके पौरुष एवं दर्प के अनुकूल हो, प्रज्ज्वलित अग्निदेव का बलि के साथ विधिवत पूजन किया।

३. तब वह श्रेष्ठ रावण जो, अंजन के पर्वत के समान बृहदाकार था और जो मित्रों के मुख को प्रफुल्ल कर देता था, सभामण्डप में गया और वहाँ पर उसने अग्नि के समान लपलपाते सभासदों से ये वचन कहे।

४. जिस प्रकार दृढ़ता से आप लोग हमारे हित में लगे हुए हैं, जो आपके प्रेम से बड़ा स्निग्ध हो गया है, वैसा प्रेम न तो माता और न पतिव्रता पत्नी, न प्यारे पुत्र और न दयालु पिता ही में होता है।

५. पहिले कई अवसरों पर आप लोगों ने मेरा कोई अहित नहीं किया है। अब इस अवसर पर उसके विपरीत कैसे हो सकता है? संसार में मेरा जो यह यश है वह कैसे क्षत हो सकता है जब आप अपनी राजनीतिक प्रतिभा तथा गुणों से मेरी रक्षा कर रहे हैं?

प्रसह्यकर्तुं हृतवैभवं भवं भयं विधातुं च विवस्वतः स्वतः ।
भवत्सु नित्यं ननु शक्तता तता तथापि मानेन न साधुता धुता ॥६॥

बलेन वस्तेन भयानके नके रणस्य भीमस्य बभञ्जिरेऽजिरे ।
प्रकम्पते येन कृते, रवे रवेरनूनभा मातलि सारथी रथी ॥७॥

पुरेव यूयं युधिकातरे तरे जनादितस्तीव्रमसुन्दरं दरम् ।
बले रणस्येऽयुगलोचनं च नः पिशाचिका ताण्डवलासकः सकः ॥८॥

युधि प्रचेता विषवाहिना हिना जनस्य कण्ठे कृतशृङ्खलः खलः ।
सलीलवीक्षाविधितर्जितो जितो भवद्भिराक्रोश हुताशनैः शनैः ॥९॥

प्रकाशितक्रोध समुद्भवो भवो गणध्वजिन्या च समन्ततस्ततः ।
प्रयाति यो भीतिमजय्यतोयतो न कोपरत्नस्यति हस्ततस्ततः ॥१०॥

परद्विपासृक्स्रवलोहितोऽहितो निकृत्तविद्याधर चारणे रणे ।
उमासुतः शक्तिवियोजितो जितो भवद्भिरभ्रध्वनिभैरवे रवैः ॥११॥

६. आप शिव के वैभव को बलपूर्वक छीन सकते हैं और आप स्वयं सूर्य के हृदय में भय उत्पन्न कर सकते हैं। सर्वदा आपकी शक्ति का इतना विस्तार रहा है। इतने पर भी, गर्व के कारण आपने हमारे प्रति अपनी साधुता नहीं छोड़ी।

७. कौन ऐसा है जिसे आपकी दुर्धर्ष सेना ने घोर समर भूमि में नहीं पछाड़ा? मातलि जिसका सारथी है ऐसा इन्द्र भी जिसका तेज सूर्य से कम नहीं है, रथ पर चढ़ कर आपकी सेना के कोलाहल से काँप उठता है।

८. आप युद्ध में वैसे ही निर्भय हैं जैसे पहिले थे। राम भर्त्य है। उससे बहुत डरना आपके लिये अशोभन है। हम लोगों की सेना जब युद्ध-भूमि में उतरेगी तब उसके सामने यह तीन नेत्र वाला, पिशाचियों का नचनियाँ क्या चीज है?

९. मनुष्यों की गर्दन मे विषाक्त सर्प की रस्सी डालने वाला, यह शठ, वरुण आपकी साधारणसी दृष्टि ही से डपटा जा चुका है और केवल गालियों से आप लोगों ने उसे परास्त कर दिया है।

१०. जब अपने क्रोध को प्रदर्शित करते हुए और अपने गणों की सेना से घिरे हुए, शिव डर जाते हैं तो इन अजेय भुजाओं से और कोई दूसरा क्यों न भयभीत हो जाय?

११. युद्ध में विद्याधरों और चारणों को मार कर, आप लोगों ने, पार्वती पुत्र (कार्तिकेय) की, जो शत्रुओं की सेना के हाथियों के रुधिर से लाल वर्ण हो गये थे, अपने मेघ के समान भीषण नाद से जीत कर, शक्ति को छीन लिया था।

जयन्त्यमित्रा युधि संनयं नयं समुन्नता यत्र च शूरता रता।
तमप्यपर्यं मदवर्जितं जितं गुरुं भवद्भिः क्षतविग्रहे ग्रहे ॥१२॥

जनाधिपः संयति धामतो मतो जहाति नित्योन्नत शासनस्सन ।
प्रपद्य सन्नांति महाबलं बलं रणाभि दीक्षाविधिसंवरं वरम् ॥१३॥

बलद्विपः प्रोच्छ्रितगोपुरं पुरं जयाद्भिरुन्मूलिततोरणे रणे।
स्थितैर्भवद्भिर्बलदामदे मदे न संग्रहीता रिपुभङ्गदा गदा ॥१४॥

रणे हृताखण्डलपौरुषो रुषो रयेण तन्वन् महतिस्वरं स्वरम्।
सुरेषु को नारिभयंकरं करं न्यपातयद्यो जयभागुरुं गुरुम् ॥१५॥

जिता न शक्त्या युधिभीमया मया सविष्फुलिङ्गायुध सञ्चया चया।
असौ भवद्भिः कृतयाचिता चिता मरुच्चमूरङ्घ्रिपु नामिता मिता ॥१६॥

।
॥१७॥

१२. राजनीति में प्रतिभावन्, देवताओं के गुरु (बृहस्पति) जिन्हे युद्ध में शत्रु नही जीत सकते और जिनमें उच्चकोटि की वीरता भरी है, उनका भी गर्व आप लोगों ने, उस लड़ाई में, जिसमे शत्रुओं के शरीर क्षतविक्षत हो गये थे, चूर्ण कर दिया था।

१३. यह जनाधिप (कुबेर) जिसके शौर्य के कारण, उसका शासन प्रतिदिन उन्नत हो रहा है, रण में आकर हमारी नीति में बलवती सेना के सामने, जो युद्ध विद्या में चतुर है, अपना (लड़ने का) इरादा छोड़ देता है।

१४. ऊँचे-ऊँचे मीनारों वाले, इन्द्र के नगर के प्रवेश द्वार को जड़ से उखाड़ कर जब आपने उसे जीता तब मद में मत्त, आप लोग तो, अपने साथ शत्रुओं का नाश करने वाली, अपनी गदा (भी) नहीं ले गये थे।

१५. क्रोध के आवेश में भयानक गर्जन करते हुए और युद्ध में इन्द्र के पौरुष को खण्ड-खण्ड करते हुए, आपमे कौन ऐसा जय की इच्छा रखने वाला वीर है, जिसने देवताओं के वक्ष पर शत्रुओं को दहलाने वाली, अपनी भारी भुजा को नही मारा।

१६. देवताओं की अपार और संगठित सेना, जिसमे लपलपाते हुए अस्त्रों का समूह था, और जिसे मेरी 'शक्ति' नही हरा सकी उसे आप लोगो ने हमारे चरणों पर झुका दिया। (अर्थात् उसे जीत लिया)।

१७. (यह श्लोक मूल मे नही है।)

रणस्य युक्ता फणवन्धुरा धुरा वितन्वती दर्शितरंहसं हसम् ।
भुजङ्गसेना प्रियसंयता यता बलेन वो वासुकि चोदिता दिता ॥१८॥

अनन्तनाम्नश्च फणावतोऽवतो विषैरमित्रानभिहिंसतस्सतः ।
स्थितस्य तेजस्य विखण्डिते डिते सुरारिभिः प्रस्फुरदीहता हता ॥१९॥

इति प्रतापैरिरितापदं पदं श्रितैर्भवद्भिः सहसेनयाऽनया ।
स जीयतां संयति मानवो नवो गृहीत मौञ्जीकृतमेखलः खलः ॥२०॥

यमेत्य नष्टः कुलशेखरः खरः कृतं च मे वैरमसाधुनाऽधुना ।
अनेन दर्पादभिभाविना विना विनाशनीयो भुवि कोऽपरः परः ॥२१॥

यतो विनाशेन विवर्जितोर्जितो रिपुप्रवीराङ्ग विदारणे रणे ।
न संमुखं तिष्ठति वासवः सवः कथैव का संभृतवानरे नरे ॥२२॥

यशस्युपेते ममता नवं नवं सहे न दैन्यं बलहानिजं निजम् ।
करोमि यद्यङ्घ्रि युगानतं नतं जुहोमि हस्तौ कटकोचितौ चितौ ॥२३॥

१८. सुन्दर फणों से संयुक्त, युद्ध का भार उठाये हुए, और तेजी के साथ-साथ हँसी बिखेरती हुई, वासुकी के नेतृत्व में नागों की सेना को आप लोगों की सेना ने टुकड़े-टुकड़े कर दिया ।

१९. नागों की रक्षा करने वाला अनन्त, जो शत्रुओं को विष से मार डालता है, जो अपने अखंडित तेज के कारण मौज से अपने स्थान पर अडिग है, देवताओं के शत्रु आप लोगों ने उसकी उद्दीप्त इच्छा का विनाश कर दिया ।

२०. आप लोगों ने अपने प्रताप से शत्रुओं को सन्तप्त करने की प्रतिष्ठा पाई है, अपने इस सेना के साथ, इस दुष्ट को जो नौसिखिया मनुष्य है और जो घास की बनी करधनी पहिनता है, युद्ध मे जीते ।

२१. जिसने हमारे कुल के सिरमौर खर को मार डाला, जो दुष्ट अब मुझसे वैर ठानता है, और मारे गर्व के हमारे ऊपर आक्रमण करता है, उसके अतिरिक्त, संसार में, और दूसरा कौन है जिसका विनाश किया जाय ?

२२. जब शत्रुओं का नाश करने वाली सेना के सामने, इन्द्र जिसका यश अपहरण कर लिया गया है, मुंह सामने नहीं कर सकता तो इस मनुष्य की कौन गिनती, जिसने बन्दरों को एकत्र कर रखा है ?

२३. मेरा यश जो नया-नया (अर्थात् पहिली बार) क्षत हुआ है और उसके कारण अपने बल की हानि होने से जो (मुझे) ग्लानि हुई है, वह मुझसे सही नहीं जाती । या तो मैं उसे (राम को) अपने चरणों पर नत करूंगा या इन भारी भुजाओं को, जो बाजूबन्द पहिनने के योग्य हैं, अग्नि में झोंक दूंगा ।

मुखं यदीयं मदषट्पदा पदा विहन्यते फुल्लकुशेशया शया ।
असौ दहन्ती स्मरधामनो मनो हतं निरीक्षेत सदेवरं वरम् ॥२४॥

सुता नरेन्द्रस्य सबान्धवं धवं निरीक्ष्य युद्धे महतीहतं हतम् ।
बलानुरक्ते मयि तद्विधा द्विधा प्रयातु शोषं व्रजतो रसा रसा ॥२५॥

सभैव मुक्ताध्वनि कम्पदं पदं वितन्वती शात्रवमाकुलं कुलम् ।
विधातुकामा स्फुरदङ्गदा गदा शुभाथ-हारेण विवलगता गता ॥२६॥

जगाम काश्चिन्निजवेश्मनो मनो विधाय तन्व्या मृदुवालकेऽलके ।
भृशं किरन्त्याश्रु पयोधरे धरे निरीक्ष्यमाणो बहुचिन्तया तया ॥२७॥

विलासिनी पायित सत्सुरोऽसुरो वहन्नुरः कुङ्कुमचर्चितं चितम् ।
ययौ विमानादतिपानतो नतो विगृह्य भूचुम्बनलम्पटं पटम् ॥२८॥

तथापरः कङ्कटयोऽभितोऽभितो धृतं विसर्पन् मदवासितं सितम् ।
रणाय बद्धांशुक सुन्दरो दरो गजं जगामासुरयोनिजं निजम् ॥२९॥

२४. यह सीता, जिसके मुख पर विकसित कमल के धोखे में मत्त भौंरे आक्रमण कर रहे हैं, और जो मेरे कामासक्त मन को दग्ध कर रही है, वह देवर के सहित अपने पति को मरा हुआ देखे ।

२५. अपने बन्धु-बान्धवों सहित अपने पति को युद्ध में मरा देख कर इस राजपुत्री (सीता) का हृदय प्रेम-विहीन हो जाने से दो टूक होकर सूख जाय ।

२६. इस प्रकार (रावण के) कहने पर सभा चमचमाते अङ्गदों और झूलते हुए हारों से सुशोभित, पृथ्वी को कँपाने वाले पदचाप का विस्तार करती, शत्रुओं के कुल को व्याकुल करने की इच्छा से, विसर्जित हुई ।

२७. एक राक्षस, अपनी छरहरी प्रेयसी की मुलायम अलकों में मन को छोड़कर अपने घर के बाहर चला गया और वह (प्रेयसी) बड़ी चिन्ता से अपने स्तन और अधर पर आँसू निरन्तर गिराती हुई उसको निहार रही थी ।

२८. एक राक्षस, जिसको उसकी विलासवती (प्रेयसी) ने बहुत बढ़िया मदिरा पिला दी थी, अपने वक्ष पर उसके कुंकुम की चित्रकारी लिये हुए (जो प्रिया के आलिङ्गन करने से उपट आई थी), अधिक मदिरा पीने से झुका हुआ, और जमीन पर लथरते हुए वस्त्र को पकड़े महल से निकला ।

२९. एक दूसरा (राक्षस) कमर में सुन्दर फेंटा लपेटे, कवच पहन कर, रण के लिये उद्यत, असुरों के नस्ल वाले, अपने सफेद हाथी के पास, जो मद के कारण सुगन्धित था और जिसे चारों ओर से लोग पकड़े थे, चला ।

द्रुतं दृढैर्वर्मभिराततस्ततः समारुरोहाहव तत्परः परः ।
सृजन्तमाधोरणकामदं मदं बलं दधानं मदवेगजं गजम् ॥३०॥

कृता बलौघेन तथा यता यता रजस्ततिः प्रावृतदिग्घना घना ।
यथा रवेरश्वपरम्परा परा ययौ निमज्जत्खुरमालयालया ॥३१॥

ततो विनिर्गम्य बलं पुरः पुरः स्थितं ययौ निग्रहवद्विपं द्विषम् ।
कपीन्द्रमाजौ विहितत्वरं त्वरं वहन्तमन्तस्स्थित पन्नगं नगम् ॥३२॥

उपेत्य गत्या मदमन्दया दया वनौकसः स्वीकृतशोभया भया ।
प्रवाल शोभाजित विद्रुमै द्रुमैः दृढं निजघ्नुः गिरिसन्निभानिभान् ॥३३॥

असृक्स्रवैराहव दारुणारुणा चचार दीप्ता निजवर्चसा च सा ।
पताकिनीवीतभयामयो मयो विनिर्जितः संयति मायया यया ॥३४॥

द्विषद्भिरस्तस्थ महोरगैरगैर्हतस्य कस्यापि समन्ततस्ततः ।
स चर्म मांसे हि विदारिते रिते गतायुषः प्रस्फुरदस्थिता स्थिता ॥३५॥

३०. तब एक दूसरा (राक्षस) मजबूत जिरह बख्तर से ढका हुआ, युद्ध के लिये तत्पर, तुरन्त उस हाथी पर चढ़ गया जो मद के कारण बड़ा बलवान् हो गया था और जो महावत की उपेक्षा कर निरन्तर मद बहा रहा था।

३१. बढ़ती हुई सेना से उठे हुए घने धूल के समूह ने दिशाओं और बादलों को इतना आच्छादित कर दिया कि सूर्य के घोड़ों के नश्वर खुरों की पंक्ति उनमें (धूल के समूह में) धँस कर कष्ट पाने लगी।

३२. नगर के बाहर निकल कर राक्षसों की सेना, सामने खड़े हुए, (अपने) शत्रु, वानरों के के स्वामी, के पास पहुँच गई, जो मूर्तिमान विष लगते थे और जो युद्ध के लिये आतुर, फुर्ती से पहाड़ उठाये थे, जिसके भीतर सर्प भरे थे।

३३. अपनी सुन्दर एवं मद के कारण धीमी चाल से (उन) निर्भीक और निर्दय वानरों ने, आगे बढ़ कर, पर्वत के समान हाथियों पर, वृक्षों से, जिन्होंने (अपने) अँखुओं से मूँगे को मात कर दिया था, जोर का आघात किया।

३४. युद्ध में दारुण, बहते हुए रुधिर से लाल, और अपने प्रताप से देदीप्यमान, जिसने भय और व्याधि से रहित मय (दानव) को माया के बल से पछाड़ दिया था ऐसी (राक्षसों की) सेना (युद्ध भूमि में) घूमने लगी।

३५. जब एक राक्षस को, शत्रुओं ने, सर्पों से भरा पहाड़ फेंक कर मारा तो उसकी खाल और मांस उघड़ कर चारों ओर बिखर गये और वह मर गया। केवल उसका चमकता हुआ अस्थि पञ्जर खड़ा रह गया।

विपाट्य कश्चिद्विज खर्वटं वटं शिखाभिरम्भोदवितानगं नगम् ।
मुमोच सैन्यस्य यथं दिशन् दिशन् निनादयन् संयति तारवै रवै ॥३६॥

विपाट्य वेगादितरो नदन्नदं निपात्यशैलं जितभूभुजैर्भुजैः ।
रुरोज कस्यापि गदाकृती कृती ययौ सभूमिं रथ पक्षतः क्षतः ॥३७॥

पतद्भिरस्त्रैरभिदारितो रितो भुवोऽपरः शोणितशीतले तले ।
अशेत सर्पद्दशनांशुना शुना हतो विलुप्तः परिराविभिर्विभिः ॥३८॥

तथापरो भूरुह धारिणारिणा हतो दृढं कुङ्कुमपिङ्गले गले ।
विवृत्तदृष्टिर्युधि मोहितो हितो महीतलं शोणित मिश्रितः श्रितः ॥३९॥

बहून्निहत्य द्युतिभासिनाऽसिना पपात पश्चादसुदारिणा रिणा ।
नगेन कुञ्जस्थित भोगिनागिना हतस्फुरन्मस्तक कर्परः परः ॥४०॥ -

जिनैर्बलैरेव सुरक्षितौ क्षितौ वितत्य तेजोजितभास्करौ करौ ।
अशेत कश्चिज्जितवैरिणाऽरिणा हतो रणे विक्रमवस्तुतः स्तुतः ॥४१॥

३६. एक (बन्दर) ने एक बरगद के पेड़ को, जो चिड़ियों का निवास स्थान था, जिसकी (छतनार) डालियाँ, चंदोवे के समान बादलों तक पहुँचती थीं और जिसके निनाद से दिशायें गूँज उठीं, सेना की ओर फेंका ।

विशेष—खर्वट पहाड़ की तराई का ग्राम । वह बरगद का पेड़ इतना बड़ा था जैसे चिड़ियों के बसने का कोई ग्राम हो । यह भाव है।

३७. एक चतुर वीर ने अपनी भुजाओं से, जिनसे उसने राजाओं को जीत लिया था, नाद करते हुए झरने से युक्त एक पहाड़ी को फुर्ती से उखाड़ कर फेंका तो एक शत्रु का शरीर और (उसकी) गदा चूर-चूर हो गये और वह आहत होकर, रथ के एक ओर से भूमि पर गिर पड़ा ।

३८. शत्रु के चलाये हुए बाणों से, सब ओर से चिथड़े-चिथड़े किया हुआ एक दूसरा, रुधिर से शीतल भूमि पर लेट गया, और उसे कुत्ते ने अपने चमचमाते दांतों से और शोर मचाती हुई चिड़ियों ने अपनी चोंच से टुकड़े-टुकड़े कर डाला ।

३९. इसी प्रकार युद्ध में एक दूसरे (शत्रु) को, पर्वत को उठाये हुए एक शत्रु ने उसके केसर के समान पिङ्गल वर्ण गर्दन पर जोर से आघात किया तो उसकी आँख विवृत हो गई और वह बेहोश होकर रुधिर से सनी भूमि पर गिर पड़ा ।

४०. एक दूसरा (राक्षस), अपनी चमचमाती तलवार से बहुतों को मार डालने के बाद, एक प्राण लेने वाले शत्रु के हाथ मारा गया, जिसने (एक) पहाड़ से, जिसमें सर्प और हाथी रहते थे, उसके खोपड़े को तोड़ डाला ।

४१. एक (राक्षस) जो युद्ध में अपने विक्रम की प्रशंसा के साथ आया था, वह किसी विजयी शत्रु के हाथ से मारा जाकर, सेना से सुरक्षित और सूर्य की चमक को हराने वाली भुजाओं को पसार कर पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

इति क्षताफेनवसासृजो सृजो रुचिप्रतानेन सुचारुणाऽरुणा।
सुरारिसेना पुरमुद्रतं द्रुतं ययौ समेपि स्खलितापदापदा ॥४२॥

एवं सैन्यं जितमधिगतत्रासमस्तं समस्तं
श्रुत्वा रोषज्ज्वलितवदनो भासमानस्समानः
लङ्कानाथो नृपसुतमुपानीतदारं सदारं।
हन्तुं युद्धे तनुजमवदद्भीमहासं महासम् ॥४३॥

इति सप्तदशः सर्गः।

४२. इस प्रकार देवताओं के शत्रुओं (राक्षसों) की सेना पीटी जाकर, फेनिल रुधिर और चर्बी से चमकती हुई, लाल होने के कारण जो बड़ी सुन्दर लग रही थी, चिल्लाहट से भरे नगर के भीतर, आपत्ति की मारी, समतल भूमि पर भी लड़खड़ाती हुई तेजी से भागी।

४३. इस प्रकार अपनी सम्पूर्ण सेना को भयत्रस्त होकर हारी हुई सुन कर, अभिमानी लङ्काधिपति (रावण) का ज्योतिवान चेहरा क्रोध से जलने लगा। (तब) उसने अपने भाई, धनुर्धारियों में श्रेष्ठ (इन्द्रजित) से, जो भयङ्कर अट्टहास करने वाला था, राजपुत्र (राम) को जिसकी पत्नी को वह उड़ा लाया था, युद्ध में, घीय कर मार डालने के लिये कहा।

सत्रहवां सर्ग समाप्त।

अथ अष्टादशः सर्गः

संग्रामं शक्रजिद्यास्यन् प्रादक्षिणयदीश्वरम्।
स्निग्धमालोकितः पङ्क्त्या तस्यैव परितो दृशाम् ॥१॥

प्रणम्य च ततो भक्त्या विज्ञाय समयं मयम्।
निर्जगाम पुरः कर्षन् केतुभिःशवलं बलम् ॥२॥

गूढ चतुर्थम्—

क्वणन्तश्चक्रितैश्चापैरसृग्गन्धकृतौजसः।
घोरेषु विर्तात तत्र सृजन्तश्चक्रिरे रणम् ॥३॥

नगनिर्भिन्नमातङ्गघटाघटमुखोज्झितैः।
युद्धमासीद्दुरालोकं स्नातयौघमसृग्जलैः ॥४॥

रजस्सन्तमसच्छित्यै विततार परिज्वलन्।
ग्रावप्रहतमातङ्ग दन्तकोशोद्भवोऽनलः ॥५॥

१. युद्ध के लिये जाते हुए, इन्द्रजित ने रावण की प्रदक्षिणा की, जिसकी आंखों की पंक्ति उसे चारों ओर से प्रेम से देख रही थी।

२. तब भक्ति से मय को प्रणाम कर, समय को उपयुक्त जान वह रंग-बिरंगी ध्वजाओं से लहराती हुई सेना को खींचता हुआ आगे बढ़ा।

विशेष—खींचता हुआ—वह आगे आगे चला। सेना पीछे पीछे चली। जैसे वह सेना को खींचे लिये जा रहा हो। यह भाव है।

३. गूढ़ चतुर्थम्—रुधिर के गंध से जिसमें तेजी आ गई थी, ऐसे झनझनाते हुए धनुषों से बाणों की भयङ्कर वर्षा करते हुए उन्होंने युद्ध किया।

४. पहाड़ों की चोट से विदीर्ण हाथियों के समूह के मुख से बहते हुए रुधिर की गंध से उत्तेजित, खून से भीगे योद्धाओं ने ऐसा युद्ध किया कि उन पर आंख नहीं ठहरती थी।

५. पत्थरों की मार से हाथियों के दांतों के कोष (जड़) निकली हुई अग्नि की ज्वाला धूल से जनित अन्धकार को भेदती हुई चारों ओर फैल गई।

सारासिरूरुसुरूराः सारासारासु सूरसः ।
ससार सारसारासः सुरासारिः ससार सः ॥६॥

एत्य शोणिसंसिक्तरजश्छेदेन दर्शितौ ।
बबन्ध रावणिर्वीरौ राघवौ भोगिपाश्यया ॥७॥

विवेश पुरमेवाद्य भद्धे तत्र विशारदः ।
गत्या निर्जितमातङ्गमन्थरक्रमहेलया ॥८॥

पादयमकम्—

दधानौ नृपती खिन्ने शतधा मनसी तया ।
दृष्टौ विवशयाऽर्नातिशतधाम न सीतया ॥९॥

आदियमकम्—

विराजं तमिदं दीप्त्या विराजन्तं स्मृतिक्षणे ।
सहसन्नासितो भ्रात्रा सहसन्नास्पदागतम् ॥१०॥

६. वह (सः) स्वर्ग का शत्रु (सुर-आस-अरि) मजबूत तलवार (सार-असि) लेकर सुन्दर जंघा और वक्ष वाला (उरु-सु-उरु-उराः) जिसको बाण की तीव्र वर्षा करने में मजा आता था (स-अर-आसार-असुसु-रहाः) हंस के समान गम्भीर नाद करता हुआ (स-सार-सारस-आरासः) आगे बढ़ा (संसार)।

७. आते ही रावण के पुत्र, (इन्द्रजित) ने उन दोनों राघव वीरों (राम और लक्ष्मण) को जो रुधिर से सनी धूल के छिद्रों से दिखलाई पड़ते थे नागपाश से बाँध लिया।

८. तब वह साहसी उन्हें बाँध कर, हाथी को जीतने वाली मन्थर गति से बड़ी सरलता से नगर में घुसा।

विशेष—हेलया=सरलता से=अनादर प्रदर्शित करते हुए।

९. शोक से विवश सीता ने, दोनों राजपुत्रों को जिनके मन में हजारों व्यथाएं थीं, देखा पर यह न देख सकी कि उनको पीड़ा पहुँचाना असम्भव है जिससे उनका तेज हजार गुना बढ़ गया है।

१०. अपने भाई के साथ बैठे हुए राम ने, अपनी दीप्ति से देदीप्यमान्, पक्षिराज गरुड़ से जो केवल स्मरण मात्र से वहाँ आ गये थे, हँस कर यह कहा—

प्रतिलोमम्—

पक्षिराजतयामेय हिंसारागहितान्तक ।
कन्तताहिगरासाहि यमेयातजराक्षिप ॥११॥

इत्युक्तगरुडग्रस्तपन्नगाहितविस्मयैः ।
आस्फोटस्फोटितानीकश्रुतिरेसे कपीश्वरैः ॥१२॥

चतुरक्षी—

रुरोरारैररोरोरि हीहोहाहाहिहीहहि ।
ततेतात्तुत्तितो तोतौ विववाववववाव ॥१३॥

कुम्भ कर्णोऽथ रक्षोभिरबोधि हृदि ताडितः ।
स्वयंकृतखरक्राथवातधूतैः कथञ्चन ॥१४॥

चमूपतिर्बहिस्तस्थौ सेनया सहसासुरः ।
कुम्भकर्णं प्रतीक्ष्याथो सेनया सहसासुरः ॥१५॥

११. पक्षिराज होने के कारण ओ परिमेय ! हिंसा में अनुरक्तों के हितों के विनाशक, जरा-रहित विस्तृत सर्पों की निष्क्रियता के कारण ! किसी अलौकिक सर्प के अन्त के लिए प्रक्षेप करो।

१२. राम से इस प्रकार कहे जाने पर, जब गरुड़ सर्पों को निगलने लगे, तो विस्मय से भर, बन्दरों के सेनानायक इतनी जोर से ताल ठोकने लगे कि सेना के योद्धाओं के कान के परदे फटने लगे।

१३. रुरु मृग की हिंसा के प्रेरक, हे गमनशील, अरे हवनकर्ता, हाहाकार कर सर्पों के पास जाने वाले (गरुड़) ने वेगपूर्वक गमन के कारण व्यथा से गमन करने वाले राम लक्ष्मण की विष्णु की भांति रक्षा की।

१४. तब राक्षसों ने जो कुम्भकर्ण के स्वयं सांस लेने की तीव्रता से लड़खड़ा रहे थे, उसके वक्ष पर आघात करके किसी तरह उसे जगाया।

१५. अपनी शक्ति से देवता के समान (सहसा–सुरः) वह बन्दरों की सेना का अध्यक्ष, सेना नायकों के साथ (स–इनया–सेनया) विभीषण (स–असुरः) के सहित, कुम्भकर्ण की प्रतीक्षा में बाहर आकर खड़ा हो गया।

विशेष—सहस=शक्ति। इन=नायक, स्वामी।

समुद्गयमकम्—

अभिरामाशुगासन्ना सा सेना विभया सती ।
अभिरामाशुगासन्ना सा सेना विभया सती ॥१६॥

उपविष्टः पुरो वप्रभूधरस्य शिरस्तटात् ।
संख्ये दृष्टिं समासज्य क्रोधेन विकृताननः ॥१७॥

गोमूत्रिका—

आसादितवसास्वादक्षतस्तुतिरगोत्किरः ।
ससार तरसा पादघातपातितगोपुरः ॥१८॥

शिरांसि कृतटङ्कारं चर्वतोऽस्य वनौकसाम् ।
सिषेच शोणितं वक्षः सद्यः संन्त्यज्य सृक्कणी ॥१९॥

तच्छूलपातनिर्भिन्नपिष्टाशिष्टा महाचमूः ।
अङ्गदेन पितुर्धीरं जगदे विद्रुता दिशः ॥२०॥

अर्धभ्रमकम्—

सुभासासातियतातिभासुरा दर्पभाविता ।
साराधीरासशोभाया सादरा युधि सर्पति ॥२१॥

१६. चमचमाती और द्रुतगामी बाणों वाली वह सेना, निर्भय होकर (शत्रुओं की) सेना के बिलकुल निकट खड़ी रही। स्वामी के निकट होने के कारण (स-इना=स्वामी के साथ) सीता का भय दूर हो गया।

१७-१८. क्रोध के कारण जिसका मुख भयङ्कर हो गया था, पहाड़ी परिखा पर बैठ कर, सामने युद्ध की ओर देखते हुए,

१९. बन्दरों को चबाने के कारण उनके सिरों के कड़कड़ा कर टूटने से, मुंह के दोनों कोनों से बहते हुए रुधिर ने उसके (कुम्भकर्ण के) वक्ष को भिगो दिया।

२०. अपनी पिता की बड़ी सेना जो उसके (कुम्भकर्ण के) त्रिशूल से पिस जाने से और दिशाओं में भाग जाने से बच रही थी, उससे अङ्गद धीरता से बोले।

२१-२२. अपनी सुन्दर दीप्ति से (सु-भासा), जिसने समस्त दुखों को दूर कर दिया था (अति-यात-अतिः), प्रभा से सम्पन्न (भासुरा), गर्व से भरी (दर्प-भाविता), बलवती (सारा), साहसी (धीरा) शोभायमान (स-शोभा-अया), निर्भय होकर (स-अदरा) वह शत्रुओं की सेना, कुम्भकर्ण को आगे करके युद्ध के लिए बढ़ रही है और रण से भागने वाले, तुम लोगों की पंख काट डालने की इच्छा करती है।

इयं वः शात्रवी सेना रणे वैमुख्यमायताम् ।
छेतुमिच्छति पुच्छाग्रं कुम्भकर्णपुरस्सरी ॥२२॥

हनुमन्नातुरो भूत्वा मा गा युध्यस्व निर्भयम् ।
ननु स्कन्नादरोऽसौ त्वा वेगाद्विध्यति निर्दयम् ॥२३॥

गोमूत्रिकामुरजबन्धश्च—

सुते संयति वैमुख्यं याति क्षीरोदजन्मनः ।
सुषेणे लम्भयेदन्यः कस्तं त्रासरसंज्ञताम् ॥२४॥

गूढ संबन्धः—

दोपपात्रपराधीनखलं एष वद क्षमः ।
त्वं सशैलेन हस्तेन ही न किं हंसि राक्षसम् ॥२५॥

आद्यन्तयमकम्—

ततं दर्पेण सततं परस्संग्रामतत्परः ।
सत्वाढ्यो बाधते सत्वामरं तेजोजितामरम् ॥२६॥

भुनक्ति भवति त्रासस्रस्तहस्तेऽद्य केसरी ।
नैर्ऋतग्राहदन्ताग्रग्रासात्कोऽन्यो वनौकसः ॥२७॥

२३. हे हनुमान् ! घबरा कर मत भागो, निर्भय होकर युद्ध करो क्योंकि (भागने से) वह तुम्हारा अनादर कर बड़ी निर्दयता से तुम्हें बीधेगा ।

२४. जब धन्वन्तरि के पुत्र (सुषेण) युद्ध से भाग जायेंगे तो भय से त्रस्त उन्हें कौन लौटा लावेगा ?

२५. यह बतलाइये कि जब आपमें क्षमता है तो आप अपने हाथ में पहाड़ लेकर इस दुष्ट और पापी राक्षस का वध क्यों नहीं कर डालते ? यह बड़ा आश्चर्य है ।

२६. वह (कुम्भकर्ण) गर्व से सदा के लिये तत्पर रहता है, और (अपने) बल से हमारे पिता को और आपको, जिसने तेज से देवताओं को जीत लिया है, सताता है ।

२७. जब डर से आपही के हाथ ढीले पड़ जायेंगे तो और दूसरा ऐसा सिंह है जो इस राक्षस रूपी घड़ियाल के दाँतों से जो बन्दरों को निगलने के अभिलाषी हैं, बचावेगा ।

आद्यन्तयमकम्—

तेनते सुरसाराशसामाभीतजिताहिना ।
नहिताजित भीमा सा शरासार सुतेनते ॥२८॥

नैकसेयकसन्त्रस्तः संपदः खलु हीयसे ।
राज्यं तव जयेनास्तु तदेव गहनं गिरेः ॥२९॥

सर्वतोभद्रम्—

सासारासससरासासा साहुसाप्यप्यसाहसा ।
रसापाततपासारा सव्यतक्षक्षतव्यसः ॥३०॥

गृहेऽपि सुलभो मृत्युः शिवं युद्धेऽपि कस्यचित् ।
प्रभुं त्रासेन ते जन्ये यतस्त्यक्तुमसाम्प्रतम् ॥३१॥

गुरजवन्धेनश्लोकद्वयम्—

किं यासि कपिहास्यारहामी तत्राहमाकुकः ।
हसानिरमयाकाशं स वीक्ष्य रणमार्गलम् ॥३२॥

पतत्सु राघवे वैरिविशिखेष्व विशङ्कितम् ।
पौरुपस्यापरं कालं किं सौमित्रिरुदीक्षते ॥३३॥

२८. ओ देवताओं के बल की आशा, ओ लक्ष्मीरहित (राक्षसों) से अभीत वीर, डर कर भाग रहे हो, क्योंकि बाण चलाने वालो के पुत्रों में श्रेष्ठ, हमारी भयंकर योद्धाओं को जीतने वाली सेना तुम्हारा हित करने वाली नहीं हो रही है।

२९. निकषा के पुत्रों (राक्षसों) से डरने के कारण आपका वैभव नष्ट हो जायगा। (ईश्वर करे) आपका घना पर्वत राज्य विजय से वैसा ही बना रहे।

३०. सार अर्थात् बल की स्थिति को प्राप्त करने वाली, बाण प्रक्षेपण से युक्त, साहस एवं ह्रासहीन (सेना) सूर्य तेज से युक्त है। हे पृथ्वी को नम्र कर देने वाले हनुमान् (तुम) कर्मों (योगादि) को नष्ट करने वाले राक्षसों के प्रहार को दूर करने वाले हो।

३१. अपने घर में भी सरलता से मृत्यु हो सकती है और रणभूमि में भी कल्याण हो सकता है। इसलिये अपने स्वामी को लड़ाई के मैदान में छोड़ना तुम्हारे लिये उचित न होगा।

३२. रणस्थल में माया को ग्रहण करने वाले उत्साही अंगद ने युद्ध की माया के प्रतिरोधक, शोभा से प्रकाशमान हनुमान से कहा, हे कपियों के हास्य को ग्रहण करने वाले क्यों जाते हो?

३३. जब राम पर शत्रुओं के बाणों की निरन्तर वर्षा हो रही है तो क्या लक्ष्मण अपनी वीरता दिखाने का कोई और दूसरा अवसर ढूंढ रहे हैं?

हेयहासरवस्या मा न सेना विहिताहृनः ।
सातचेतनपाता सा लव्या किं वहुनासिना ॥३४॥

अर्थ चतुष्टयवाचः—

बृहत्फलकरः श्रीमांस्तुङ्गको वरवावणः ।
किन्न गोपतिरेप त्वं प्रथते परमोदयम् ॥३५॥

रणं सद्यशसः क्षेत्रं स्थितस्तेजस्यखण्डिते ।
सन्त्यजन् सह सैन्येन हरिराज न राजसे ॥३६॥

निरौष्ठयम्—

न याचारयुतो रामः प्रयासरहितोऽश्रमः ।
न याति रणतो भीमश्रिया सारश्च्युतोपमः ॥३७॥

संख्ये संख्यमिहासंख्यशस्त्रसंपातभैरवे ।
विघत्स्व तस्य लोकोऽन्यः सर्वस्मिन्नसुखेसुखे ॥३८॥

यासि सक्षतमम्वाशं शंसितात्रासमान्य सा ।
सदद्धा घमसामास सस्ययागमबुद्धिया ॥३९॥

३४. अनुचित अट्टहास शब्द करती, अलक्ष्मी युक्त सेना क्या तलवार से काटने योग्य नहीं है, जो भागते प्राणियों को गिरा रही है ।

३५. हे हनूमान तुम बड़े फल देने वाले, ऊँचे स्थान को जाने वाले, अधिक बलशाली को भी रोकने वाले हो । यह जितेन्द्रिय क्या श्रेष्ठ उन्नति नहीं विस्तारित करता ? अवश्य ही करता है ।

३६. हे वानर राज ! तुम्हारी वीरता अखण्डित है । यह अच्छा नहीं लगता कि तुम अपनी सेना के सहित युद्ध छोड़ कर चले जाओ, जब युद्ध ही स्वच्छ यश का क्षेत्र है ।

३७. जब नीति एवं व्यवहार में कुशल, कभी न थकने वाले प्रयास रहित, अपने भयङ्कर तेज के कारण बलवान और अनुपम राम रण से पीछे नहीं हटते ।

३८. यहाँ (इस लोक में) असंख्य शस्त्रों की वर्षा से भीषण रणक्षेत्र में लड़ने से उसका फल दूसरे लोक में, स्वर्ग-प्राप्ति है, सुख ही सुख है ।

३९. हे हनूमान, तुम डर कर लड़खड़ाते शब्द बोलते हो, भय खाते हो, प्राणियों को नष्ट करने वाली राक्षस सेना तुम्हारी शान्त सेना को खाने के लिए दौड़ रही है, तुम तेजस्वी रूप धारण करो ।

आसेन जहतो जन्ये जनेशं तं गुणाधिकम्।
किन्न भ्रश्यति शुभ्राभ्रविभ्रमं भवतो यशः ॥४०॥

तनसानधमा सारा सातायासवरास्थिता।
नरता न समाधीरा मता हासस्वरानता ॥४१॥

जालकद्वयम्—

भ्रमद्भिर्भूरिभिर्भेरीरवैर्गम्भीर भैरवैः।
भ्राम्यन्मन्दरमन्थानक्षुभ्यत्क्षीरार्णवोपमा ॥४२॥

जालेन श्लोकत्रयम्—

कृपाणज्योतिरालोकस्फारदुर्दर्शना तता।
प्रकणच्छर संघात संरावपिहितश्रुतिः ॥४३॥

सा राक्षसकरस्तस्तरामा पात्र स्वधाध्वना।
सा रासापानयागाय ह्रसावनधर स्वनम् ॥४४॥

जालेनश्लोकचतुष्टयम्—

द्विपतामायुधैरेवं अस्मदीया पताकिनी।
विह्वला चलितादित्यद्युतिभिः प्रतने कृता ॥४५॥

४०. अगणित गुणों से सम्पन्न जनता के स्वामी, उन्हें (राम को) डर के मारे युद्ध मे छोड़ देने से जो आप का शुभ्र बादल के समान यश है क्या भ्रष्ट न हो जायगा ?

४१. प्राणियों की शोभा प्राप्त करने वाली यह जनता (सेना) है। निरन्तर प्रयास में लगी, विजय-लक्ष्मी से युक्त, धीर, हास स्वर से अविनत यह है।

४२. गम्भीरता के कारण भीषण, और सब ओर व्याप्त, बहुत से भेरियों के नाद से भरी, और घूमते हुए मन्दर पर्वत के मथने से क्षुब्ध क्षीर सागर के समान है।

४३. जो तलवारों की विस्तृत चमक से दिखलाई नहीं पड़ती थी और जिसने शर-समूह की सनसनाहट से कान का मार्ग रोक दिया था।

४४.

४५. रण में शत्रुओं के अस्त्रों ने, जिन्होने चमक में सूर्य को हरा दिया था, हमारी सेना को विह्वल कर दिया है।

निरन्तरानुप्रासम्—

ततातीति ततोतीता तात तातात्ततत्ततौ ।
ततो तोतितततैतेतो ताते तुत्तितते ततिः ॥४६॥

इति श्रुत्वा निववृते तां गिरं कपिभिर्दिशः ।
अपथत्याजनेसाधोर्निन्दा हि निशितोऽङ्कुशः ॥४७॥

अयं प्रतिलोमः—

तेहिकासुकसन्त्रास सत्रसंकसुकाहिते ।
तेनुरापदमत्याग गत्यापदपरानुते ॥४८॥

आयतामायतां वृष्टिं शृङ्गिशृङ्ग महीरुहैः ।
कुम्भकर्णं किरन्तं तं नलनीलौ रणस्पृहौ ॥४९॥

मात्रापहारयथेष्टमात्रादानाभ्यां श्लोकत्रयम्—

अपितु द्युतिमत्यस्य नीलस्सेहे न वै व्यथाम् ।
सहेति क्षितिजच्छिन्न प्रवीरस्स क्षितिस्तुतः ॥५०॥

ततो हतहुताशात्मसंभवे पतिते नले ।
प्रार्थयन्त वलं शत्रोः क्रव्यमत्तुं निशाचराः ॥५१॥

४६. हे (स्वप्रताप से) शम्भु का विस्तार करने वाले (शिवरूप) हनूमान, हे अतिशय गमनशील ! 'तात' 'तात' शब्दों को ग्रहण करने वाले (वानर, राक्षस आदि) की फैली पंक्तियों वाले, विपक्षी भटो के अत्यल्प विस्तृत आगमन वाले व्यथा के विस्तार से युक्त फैले संग्राम मे यहाँ से वहाँ तक अपने प्रति श्रद्धा विस्तारित करते हुए, शत्रुओ का भक्षण करते हुए जाओ ! जाओ !

४७. यह सुन कर बन्दर लोग दिशाओं से लौट आये । बुरे मार्ग में जाने वालों के लिये साधुजनों की फटकार तीखा अंकुश होती है ।

४८. कुत्सित प्राणों को धारण करने वाले शत्रुओं के लिए (युद्ध रूप) यज्ञ में शब्द करते सुन्दर शत्रुओं, वाले संग्राम में चरणों पर गिरते शत्रुओं द्वारा स्तुति करते रहने पर निरन्तर विनाश विस्तारित किया ।

४९. युद्ध करने की इच्छा से नल और नील, कुम्भकर्ण के पास पहुँचे जो पहाड़ों की चोटियों से वृक्षों की निरन्तर वर्षा कर रहा था ।

५०. और कान्ति का परित्याग कर उस प्रकृष्ट वीर नील ने हानि उठा कर बाणों से छिदने पर 'हा' करते हुए साधारण भूमि-जन्मा की भाँति व्यथा नहीं सही, ऐसा नहीं ।

५१. जब अग्नि के पुत्र (नल) मारे जाने से गिर पड़े तो राक्षस लोग शत्रु की सेना को मारने के लिए बढ़े ।

द्व्यक्षरानुप्रासः—

ततारीति रतीताती तन्तितारुतेरिताः।
ततारारिततीरेता रत तारारतौरतः ॥५२॥

प्रत्यागत्य ततः क्रुद्धः कुम्भकाहृतिमूर्च्छितः।
विदश्य दशनैर्नासान्नीयमानश्चकर्त सः ॥५३॥

क्रोधादविहितस्वान्यमश्नतश्शस्त्रमालिनीम्।
राघवायुधघातेन पेते तस्याङ्गभूधरैः ॥५४॥

सन्नयोऽसन्नयो रुद्धो दानादानाकुलालिभिः।
नागैर्नगैरिवोच्छ्रायैः सन्नासन्नारिविक्रमः ॥५५॥

भाषोत्प्रेक्षितम्—

नागास्सरसगण्डास्ते विन्दुचित्र मुखान्विताः।
सपताकावृतिभृशं चक्रुस्सन्नाटकोपमाः ॥५६॥

५२. विस्तृत शत्रु रूपी ईति (आपदा) के साथ संयोग प्राप्त (भिड़े) शत्रुओं द्वारा छेड़े युद्ध के लिए प्रेरित, विजयेच्छा से ऊँचे स्वरों में ललकारती, विश्राम न करने के कारण चंचल पुतलियों (नेत्रों) वाली सेना निरन्तर आगे बढ़ी।

५३. जब कुम्भकर्ण के आघात से सुग्रीव मूर्छित हो गये और वह (कुम्भकर्ण) उन्हें ले जाने लगा तब (होश में आकर) सुग्रीव लौट पड़े और उन्होंने क्रुद्ध होकर दाँतों से उसकी नासिका काट ली।

५४. क्रोध के आवेश में अपना और पराया न पहिचान सकने के कारण वह (कुम्भकर्ण) सेना को निगलता जा रहा था। तब राम के शस्त्रों के प्रहार से उसके पहाड़ के समान अङ्ग कट-कट कर गिरने लगे।

५५. शत्रुओं की सेना जिसका सञ्चालन-क्रम नष्ट हो गया था, और जिसके शौर्य का ह्रास हो गया था, उसका मार्ग, हाथियों ने जो ऊँचाई के कारण बादल के समान लगते थे, और जिन पर भृंग मद पीने के लिये व्याकुल थे, रोक दिया।

५६. सजल कपोल वाले, विन्दु चित्र से युक्त मुख वाली पताका शोभित आवृति बहुल वे गज नाटकोपम हो गये, क्योंकि उन्होंने सरस अंकों से युक्त, विन्दु, चित्र वर्णन तथा मुख से युक्त एवं पताकाओं वाले नाटकों की भाँति आवृति की।

शिलीमुखमुखक्षुण्णकुमुदं सप्लवङ्गमम् ।
स शरारि रणं रामो ग्रीष्मे ह्रदमिवाविशत् ॥५७॥

तन्मन्त्रसाधनादीनि व्यर्थयन्तो रिपुद्विपाः ।
तेन लुप्तैकरदनाः कृताः केचिद्विनायकाः ॥५८॥

मुक्तासारा द्विजैश्शुभ्रैः भूषिता मेचकत्विषः ।
तेन केचित क्षयं नीताः शरदेव पयोमुचः ॥५९॥

शरैरुत्सारिता दूरं हत्वा रामस्य वेगिभिः ।
वभ्रभुर्जर्भरैर्वंशैः मातङ्गा निर्मदीकृताः ॥६०॥

रक्षस्सैन्यनगो रामबाणक्षिप्तजडोऽपि सः ।
अचलश्शत्रुसेनायाः प्रपेदे नैव सह्यताम् ॥६१॥

५७. तब राम उस रणक्षेत्र में, जो बाणों, शत्रुओं और वानरों से भरा था और जहाँ कुमुद नाम का वानर बाणों की नोक से घायल हो गया था, ऐसे घुसे जैसे घोड़ा, ग्रीष्म में उस सरोवर में घुसता है जहाँ शरारि पक्षी कलरव करते हैं, जो मेढ़कों से युक्त है और जहाँ भृंग अपने मुख से कुमुद का रस चूसते हैं।

विशेष—श्लोक में श्लेष है :
(१) शिलीमुख=बाण=भ्रमर (२) कुमुद=वानर=कमल। (३) प्लवंगम्=वानर=मेढक। (४) शरारि=पक्षी विशेष=(शर, बाण, अरिशत्रु (५) राम=रामचन्द्र=घोड़ा।

५८. शत्रुओं के उन हाथियोंने जिन्होने उनके मंत्र से अभिषिक्त अस्त्रों तथा अन्य साधनों को व्यर्थ कर दिया था, उनका एक दाँत उन्होंने तोड़ डाला और उन्हें विनायक=गणेश=विना नायक अर्थात् महावत के कर दिया।

५९. बहुत से हाथी जो सफेद दाँत से विभूषित थे, जिनका चमड़ा श्यामल रंग का था और जिनमें गजमुक्ता का प्राचुर्य था, उन्हें रामने नष्ट कर दिया जैसे शरद् ऋतु में बादल नष्ट हो जाते हैं।

विशेष—शरद् ऋतु के प्रसंग में —मुक्त-आसराः द्विजैः=पक्षिगण।

६०. राम के तेज बाणो से दूर फेंके गए जिन हाथियों का मद बहना बन्द हो गया और जिनकी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी इधर-उधर घूमने लगे। जैसे मातङ्ग जाति के लोग दूर भगाये जाने के कारण अस्तव्यस्त गृहस्थी के साथ बराबर घूमते रहते हैं।

विशेष—मतंग=हाथी=जाति विशेष। वंश=रीढ़=गृहस्थी।

६१. राक्षसों की सेना में गये, राम के बाण से फेंके गये भी उस पर्वत को शत्रु सेना सह न सकी।

प्रहस्तशुकधूम्राक्ष प्रजङ्घनृसुरान्तकान् ।
विद्युज्जिह्वमहापार्श्वमकराक्षमहोदरान् ॥६२॥

हत्वा भूयः स्वलाङ्गूलैः वेष्टयित्वा दृढं करीम् ।
स्थितेष्वङ्घ्रिपहस्तेषु यूथपेषु वनौकसाम् ॥६३॥

नाशमिन्द्रजितः श्रुत्वा निर्जगाम दशाननः ।
कृती सेनाकृतेनाथ रुन्धन् रासेन रोदसी ॥६४॥

रावणस्यभवत्तत्र रणः सौमित्रितापनः ।
व्याप्तसर्वदिगाभोगज्याघोषजयघोषणः ॥६५॥

सौमित्रपत्रिणामित्र क्रुद्धे धनुषि खण्डिते ।
वधाय विद्विषो भीमशक्तिश्शक्ति समाददे ॥६६॥

सन्दष्टकम्—

ततः क्रोधहतं चक्रे चक्रे शत्रुभयङ्करम् ।
करं युद्धे पतन्नागे पतन्नागेन्द्रगौरवः ॥६७॥

६२-६३. जब फिर वन्दरों की टोलियाँ अपनी पूँछों से दृढता से कमर कस कर और हाथों में वृक्ष लिये, प्रहस्त, शुक, धूम्राक्ष, प्रजङ्घ, नरान्तक, सुरान्तक, विद्युत् जिह्व, महापार्श्व, मकराक्ष, महोदर (राक्षसों) को मार कर खड़ी थीं।

६४. तब इन्द्रजित का विनाश सुन कर चतुर रावण अपनी सेना के गर्जन से पृथ्वी को कँपाता हुआ बाहर निकला।

६५. तब लक्ष्मण को सन्तापित करने वाला युद्ध रावण ने किया और धनुष की टङ्कार एवं जय घोष से दिशायें व्याप्त हो गईं।

६६. जब लक्ष्मण के बाण से उसका धनुष कट गया तब उस भयङ्कर पराक्रमी रावण ने शत्रु (लक्ष्मण) के वध के लिये 'शक्ति' उठा ली।

६७. तब उस युद्ध में जहां हाथी गिर रहे थे, रावण ने जो हस्तिराज से अधिक भारी था, शत्रुओं के लिये भयङ्कर अपने हाथ को रोष के आवेश में युद्ध-भूमि पर पटका।

चक्रे रणं वानर-का-न्तकारी, चक्रे रण-न्वा-नूर्-कान्त-कारी।
चक्रे रणं वा-नरका-न्तकारी, चक्रे, रणन्वानर-कान्त-कारी ॥६८॥

अर्धयमकम्—

युद्धेतिजेये तरसा रसन्तं युद्धेतिजेये तरसा रसन्तम्।
परं ससाराहतशक्तिहेत्या परं ससार-आहतशक्ति हेत्या ॥६९॥

सवितारमिवापरमस्तमितं स निरीक्ष्य भुवं परमस्तमितम्।
चरितुं कवचैश्शबलं स्वबलं निजगौ मनुजेशबलं स्वबलम् ॥७०॥

यमकावलिः—

महता महता समरे समरे विभया विभया सहिता सहिता।
विशदा विशदा शुभया शुभया जनता जनता न हिता नहिता ॥७१॥

व्युदस्तधरणीरुहक्षितिधरायुधं विद्रुत-
प्रधानकपिसर्वतश्चपलदृष्टि तद्विह्वलम्।
न कश्चिदपि रक्षितुं युधि शशाक शाखामृगः
सुरारि कवलं बलं हृतबलं प्रयादात्मनः ॥७२॥

६८. सेना में गरजते हुए (चक्रे—रणन्) रावण ने जो वानरों तथा अन्य जीवों की प्रसन्नता का अन्त करने वाला था (वानर-क-अन्तकारी) युद्ध किया (रणं-चक्रे)। उसी प्रकार राम ने भी, जिन्होंने नरकासुर का अन्त किया था (नरक-अन्त-कारी) और जो वानरों को प्रसन्न कर रहे थे (वानर-कान्तकारी) शत्रुओं की सेना को क्षुब्ध करने वाला जय घोष कर (रणं-चक्र-ईरणं-चक्रे) युद्ध किया।

६९. इस युद्ध में (युद्धे) जो युद्ध के शस्त्रों से जीता जाने वाला था (युद्ध-हेति-जेये) वह रावण फुर्ती से (तरसा) शत्रु (पर) अर्थात् लक्ष्मण की ओर बढ़ा, जो अजित पराक्रम से भरपूर थे (अति-जेयेतर-सार-सान्त), और 'शक्ति' से ऐसा तीव्र आघात किया जिससे आहत व्यक्ति का बल नष्ट हो जाता है और उसे बड़ा कष्ट पहुँचता है (आहत-शक्ति-ह-इत्या)।

७०. साक्षात् अस्त होते हुए सूर्य के समान लक्ष्मण (अधर) को आहत और धराशायी देख कर रावण ने अपनी सेना से जिसमे रंग-बिरंगे शस्त्र थे, राम की सेना में, जो बहुत शिथिल हो गई थी, घुसने के लिये कहा।

७१. महान वीरों के संग्राम में अविनष्ट, (वीरोचित) कान्ति के कारण भयरहित, सहायक मित्रों से युक्त, दुर्गुणों से रहित अतएव निर्मल किन्तु शीघ्रमय से आक्रान्त रावण की सेना ने अज (राम) के लिए नम्र विभीषण आदि के प्रति पूर्णरूप से हितकारिणी होकर (राम की सेना मे) प्रवेश किया।

७२. वृक्ष और पर्वत रूप आयुध को बिसरा देने वाले, प्रधान वानरों को चारो ओर भगा देने वाले, चंचल दृष्टि और विह्वल, देवताओं के शत्रु रावण के ग्रास बनने, बलरहित भागते अपने सैन्य को कोई वानर रोक न सका।

चक्रवृत्तम्—

पिङ्गं शोणितनिर्गमेन करणं भिन्नं सुरेन्द्रद्रुहा
यत्नं प्राप्य दधानया विकलितेष्वोजस्सुचक्षुद्दशा ।
तिग्मांशोस्तनयस्य पूर्वकलनामुल्लङ्घयन्त्या भिया
यान्तं क्वापि विहाय संयतिरतिं हानिस्पृशा सेनया ॥७३॥

बिभ्राणं वदनं सरोरुहमणि क्षोदारुणं दारुणं
देहैर्भीपणमुग्रवक्त्रदशनैः आसन्नखैस्सन्नखैः ।
रामोऽथ स्वबलं प्रसह्य समरे सन्त्रस्यतो ग्रस्यतो
बाणेनोपरुरोध वर्त्मनि करच्छन्नादिना नादिना ॥७४॥

इति अष्टादशःसर्गः ।

७३. रावण के आघात से रुधिर निकलने के कारण जिसका शरीर लाल हो गया था और बल क्षीण हो जाने से जिसकी आँखें न्नाव रहीं थीं और जिसके सब प्रयत्न रावण ने निष्फल कर दिये थे ऐसी वानरों की जर्जरित सेना, लड़ाई का हौसला छोड़ कर, डर के कारण सुग्रीव के पूर्वाचरण को मात करती हुई, लड़ाई के मैदान से मालूम नहीं कहाँ भाग गई ।

विशेष—सुग्रीव के पूर्वाचरण से तात्पर्य है सुग्रीव का बड़ी तेजी से भागना जब बालि ने उसे खदेड़ा था ।

७४. पद्मरागमणि के समान अरुण मुखवाले तीक्ष्णमुख (ऊंची कूद के कारण) समीपवर्ती आकाश वाले, उग्रमुख और दाँतों से दारुण अपनी सेना को शत्रुभक्षक निर्भय रावण सेना के संग्राम में हाथ से ढँके शरीर को भी भक्षण कर जाने वाले, शब्द करते बाणों से राम ने बलात् रोक दिया ।

अठारहवाँ सर्ग समाप्त ।

अथ एकोन विंशस्सर्ग:

अथारिणावर्त्मनि कालनेमिना रयादयश्चक्रनिभेन निहृंत: ।
कथंचिदेनं विनिगृह्य मारुति: समुद्वहन् भूधर श्रृङ्गमाययौ ॥१॥

हविर्भिषग्भूधरसानुतो नुतो महौषधिं प्राप्य मुदा ततस्तत: ।
चकार रामावरजं हृतक्लममं पुन: समुन्मीलित वीक्षणं क्षणात् ॥२॥

रथस्तत: सारथिनामरुत्वतो मरुन्नदीमारुतकम्पितध्वज: ।
अरान्तरासक्त पयोदखण्डक: प्रभोरुपानीयत सूनवे भुव: ॥३॥

सुरेश्वरप्राजितृहस्तसङ्गिना करेण सव्येन सवासवोपम: ।
तदन्य हस्तस्थ शरासन: शनै: समारुरोह प्रथृतं वरुथिनम् ॥४॥

रणं दिदृक्षु: सुरसंहतिर्घनं समाक्षिपत्संमुखमागतं रुषा ।
परस्पराघात निवृत्त वृत्ति तत् बलं च तस्थौ निहितेक्षणं तयो: ॥५॥

१. जब रास्ते में, लोहे के चक्र के समान प्रतिभावान, शत्रु, कालनेमि ने हनुमान पर बड़े जोर से आघात किया तो उन्होंने उसे किसी न किसी तरह परास्त किया और पहाड़ की चोटी उठाये हुए आ पहुँचे ।
२. तब (चारों ओर से) प्रशंसित, वैद्य सुषेण ने, बड़ी प्रसन्नता से उस पहाड़ी की ढलवान से, महौषधि लेकर, उससे, राम के छोटे भाई (लक्ष्मण) की थकान दूर कर दी और और एक क्षण में उन्होंने (लक्ष्मण ने) आँखें खोल दीं।
३. तब इन्द्र का सारथी, (मातलि) पृथ्वीपति के पुत्र (राम) के पास रथ लाया, जिसकी ध्वजा आकाश गङ्गा की वायु से लहरा रही थी और जिसके पहियों के आरों के बीच-बीच में मेघ के टुकड़े चपके थे ।
४. तब बाँये हाथ से इन्द्र के सारथी का हाथ पकड़ कर और दाहिने हाथ में धनुष लिये, इन्द्र के समान, राम धीरे से रथ पर चढ़े ।

टिप्पणी—प्राजृति=सारथी ।

५. युद्ध को देखने की इच्छा से, देवताओं की घनी भीड़ रोष से बादलों को हटाती हुई सामने आ गई। और दोनों सेनायें (राम और रावण की) बिना एक दूसरे पर वार किये (आज्ञा की प्रतीक्षा में) दोनों पर दृष्टि गड़ाये खड़ी रहीं।

विशेष—तस्थु: प्रेक्षन्त संग्रामं नाभिजघ्नु: परस्परम् ।
पश्यतां विस्मिताक्षाणां सैन्यं चित्र मिवाबभौ ॥ १०९-४—५, वा० रा०, युद्धकाण्ड ।

पुरन्दराराति मरातिसूदनः शरं सलीलं शरधेस्समुद्धरन् ।
उपाययौ सायक दष्ट कार्मुकं रणे रणस्थं रथिको महारथम् ॥६॥

शरं सृजत्वं प्रथमं प्रतीच्छवेत्युदीरणानन्तरमिन्द्रविद्विपः ।
विपाटयन्तः श्रुतिमस्य निस्वनैर्निपेतुरुग्रैरभिराममाशुगाः ॥७॥

विभिद्य रामञ्छलमादिपूरुषं हृता यथा दुष्प्रसहेन पाप्मना ।
प्रपद्य तिर्यंगतिमस्य सायकाः क्षणेन पातालमपि प्रपेदिरे ॥८॥

मुखैरसक्तं दशभिर्दशाननो नदन् तटित्सन्निभहेमभूषणः ।
युगान्तमेघप्रतिमो महेषुभिः ततान धाराभिरिवान्तरं दिवः ॥६॥

वनं ततस्तत्र शरप्रभञ्जनक्षतावनम्रीकृत भूरुहौषधी ।
महापगापात परास्तनामित स्फुटत्तटीकाननकान्तिमाददे ॥१०॥

न केवलं वारिणि वारिधेरगैर्नरेन्द्रसूनुर्विजयाय विद्विपः ।
बबन्ध भानोरपि सेतुमायतं पथि प्रतानेन घनेन पत्रिणाम् ॥११॥

६. शत्रुओं का विनाश करने वाले राम, रथ पर चढ़े हुए, सरलता से, तरकश से तीर निकाल कर, लड़ाई के मैदान में, महारथी, इन्द्र के शत्रु (रावण) के पास, जो धनुष पर तीर चढ़ाये हुए खड़ा था, पहुँचे।

७. 'या तो तुम पहिले बाण छोड़ो या पहिले मेरे बाणों का सामना करो'। राम के इतना कहते ही, देवताओं के शत्रु (रावण) के द्रुतगामी बाण अपनी भयङ्कर ध्वनि से राम के कान के परदे फाड़ते हुए सामने गिरे।

८. राम को जो अपने रूप में आदि पुरुष थे, छेद कर उसके (रावण के) बाण, जैसे अपने भयङ्कर पाप से भरे हुए तिरछे होकर एक क्षण में पाताल में घुस गये।

विशेष—जैसे पापी पुरुष तिर्यक योनि में जन्म लेता है, वैसे ही इन लोगों का भी पतन होने पर वे तिर्यक—तिरछे होकर पाताल में गये—यह भाव है।

६. बिजली के समान लपलपाते सुवर्ण के गहने पहिने, अपने दसो मुखों से, निरन्तर अट्टहास करते हुए, प्रलयकाल के मेघ के समान, उस रावण ने, अपने भयङ्कर अस्त्रों से, वर्षा के समान आकाश के बीच के स्थान को भर दिया।

१०. तब शरों के प्रहार से उस वन विभाग के वृक्ष टुकड़े-टुकड़े हो गये और जड़ी-बूटियाँ झुक गईं। उस समय वह वनस्थली ऐसी लगती थी जैसे नदी के तीर का वन वृक्षों सहित जिसका तट एक बड़ी नदी की बाढ़ के टक्कर से झुक कर भहरा पड़ा हो।

११. राजपुत्र (राम) ने शत्रु को जीतने के लिये न केवल समुद्र पर सेतु बांधा बल्कि अपने बाणों की घनी परम्परा से सूर्य के रास्ते में भी पुल बांध दिया।

॥१२॥

निरन्तराकर्षण सृष्ट संपदः प्रसक्त संचालविधिर्धनुर्गुणः ।
ररक्षवक्षो नृवरस्य रक्षसः कृत प्रणादं पततोऽस्य पत्रिणः ॥१३॥

शरस्य मोक्षः प्रथमं महीभुजः ततश्च तद्वैरि शरीरविक्षतिः ।
इति क्रमोगादनुमानगम्यतां अलक्ष्य वेगेषु शरेषु धन्विनः ॥१४॥

असौ शरातानमयं मरुन्नदी विधाय रूपं पतिता नु सस्वना ।
जयः श्रियः संक्रमणाय भास्वतः पथि प्रयुक्तो न महेषुसंक्रमः ॥१५॥

कटु क्वणन्तः तपनस्य दीधितिं तिरोदधाना निकरेण पत्रिणः ।
विहाय बाणासनमस्य विद्विषः स्वयं प्रहर्तुं नु नभः समुद्गताः ॥१६॥

बृहत्पृषत्कग्रथिता मरुत्पथे मृगं ग्रहीतुं मृगराजशायिनम् ।
प्रसारिता नु प्रसरं निरुन्धती रविप्रभाया गुरुवागुराततिः ॥१७॥

१२.

१३. निरन्तर खींचते और छोड़ते रहने के कारण, झनझनाती हुई, धनुष की प्रत्यञ्चा से, पुरुषश्रेष्ठ (राम) के नाद कर गिरते हुए बाणों से राक्षस (रावण) ने अपने वक्ष की रक्षा की ।

१४. राम इतनी फुर्ती से बाण चलाते थे कि वे (बाण) दिखलाई नहीं पड़ते थे । अतः उनका धनुष से पहिले निकलना और शत्रु के शरीर में उसका लगना केवल अनुमान से जाना जा सकता था ।

१५. क्या यह सुर नदी, बाणों के वितान के रूप मे शब्द करती हुई गिर रही है अथवा जय-लक्ष्मी के आने के लिये आकाश में, सूर्य के रास्ते में, पुल बाँध दिया गया है ।

१६. तीखी ध्वनि करता हुआ रावण का शर-समूह, सूर्य की किरणों को ढँक कर उसके (सूर्य के) शत्रु, रावण के धनुष से निकल कर सूर्य को मारने के लिये, क्या स्वयं आकाश में जा रहे हैं ?

विशेष—रावण सूर्य का शत्रु है। रावण के शर स्वामि-भक्त हैं। कवि कहता है कि क्या बाण धनुष से निकल कर स्वयं सूर्य को मारने जा रहे हैं। यह भाव है।

१७. क्या सूर्य के मार्ग में, बड़े-बड़े अस्त्रों से बिना हुआ यह एक भारी जाल है जो सूर्य के प्रकाश को रोक कर, चन्द्रमा पर सोते हुए मृग को पकड़ने के लिये बिछाया गया है ।

टिप्पणी—वागुरा=जाल।

विधाय नाराचमयं समन्ततः सृजन्ति धारानिकरं नु वारिदाः ।
इति क्षणं क्षीणबलेन तत्रतत् बलेन तीव्रं मुमुहे महाहवे ॥१८॥

अशेषमन्तः कृतसैनिकं तयोर्बृहद्भुजस्तम्भ निबद्धमायतम् ।
निरस्ततिग्मद्युतिरश्मि भूयसा रुरोध तद्बाणवितानमम्बरम् ॥१९॥

चकर्त शत्रोरधिजत्रु राघवः शरेण बाहुं शरसन्ततिच्युतः ।
बभार तच्छेदविनिर्गतो मुहुर्दृढं करोऽन्यो निपतच्छरासनम् ॥२०॥

ततस्ततं घर्मजलस्यरेखया रिपुर्महेन्द्रस्य सुतस्य भूभृतः ।
लुठज्जटा सन्तति वेल्लितं ज्वलत्तटं ललाटस्य बिभेद पत्रिणा ॥२१॥

अथ भ्रुवोरन्तर लक्ष्यहाटकप्रदीप्तपुङ्खेण शरेणराघवः ।
श्रिय ज्वलत्पिङ्ग ललाटतारकां उवाह रूपस्य विरूपचक्षुषः ॥२२॥

शरैरुपक्रोशपदे नृपात्मजशिशरो रिपोरच्छिन्नदर्प भाषिते ।
प्रणादतः शेषमुदीरयन् मुहुः शिरोऽपरं प्रादुरभूदविक्षतम् ॥२३॥

१८. "क्या इन मेघों ने अपनी वृष्टि को सब ओर बाणों में परिवर्तित कर दिया है ?" इस प्रकार उस महायुद्ध में (रावण की) सेना को, जिसका बल क्षीण हो गया था, क्षण भर के लिये भारी शङ्का हुई ।

१९. दोनों (राम और रावण) की भारी भुजाओं पर आधारित, आकाश में फैले हुए, दोनों के शरों के बने हुए छत्र ने, सम्पूर्ण सैनिकों को अपने नीचे कर, सूर्य की रश्मियों को रोक दिया।

२०. राम ने अपनी बाण परम्परा से छूटे हुए शर से, रावण की गरदन के नीचे की हड्डी से उनके हाथ को, जो निरन्तर बाण छोड़ रहा था, काट दिया, परन्तु प्रत्येक बार काटने पर उसी स्थान पर दूसरा हाथ उत्पन्न हो जाता था जो गिरते हुए धनुष को दृढ़ता से पकड़ लेता था ।

टिप्पणी—जत्रु=कंधे के नीचे की कमानीदार हड्डी ।

२१. तब इन्द्र के शत्रु (रावण) ने राजपुत्र (राम) के ललाट-स्थल को, जो पसीने के कारण चमक रहा था, और जिस पर उनके बाल की लटें लोट रही थीं, बाण से छेद दिया ।

२२. ऐसे शर से जिसके पंख सुवर्ण के समान चमक रहे थे, भौंहों के बीच में मारे जाने से, राम ने त्रिनेत्र शिव की शोभा को धारण किया जिनके मस्तक पर जलती हुई लाल आँख थी ।

२३. राजपुत्र (राम) ने जैसे ही शत्रु (रावण) के एक सिर को, जिससे अभी आधे ही गाली के शब्द निकल पाये थे, काट डाला तो एक दूसरा अक्षत सिर, बचे हुए गाली के शब्दों को बार-बार चिल्लाता हुआ, उत्पन्न हो गया ।

ददर्श भल्लाभिनिपातपातितप्रकीर्णमौलीनि समुद्गताननः ।
मुखानि दन्तक्रकचक्षताधर प्रवर्तिता सृक्कि निशानि राक्षसः ॥२४॥

बृहद्विपत्सक्तपृषत्कपातित स्वमस्तकप्रस्तरणे रणे स्थितः ।
स युध्यमानो महिमान माहवे विदर्शयामास नृलोक दुर्लभम् ॥२५॥

तयो रयो बाणरयोपबृंहितस्फुटत्ध्वनिस्फोटित कर्णमाहवम् ।
गरुत्मदाशी विषपातदुःसहं निरीक्षितं तं वितितार तत्समम् ॥२६॥

अथो हिताय प्रहितं मरुत्वता सुरद्विषो मर्म निगद्य मातलिः ।
नरेन्द्र पुत्राय तनुत्रभेदिनं विपत्रपत्रं वितितार पत्रिणम् ॥२७॥

विकर्षणादस्य मरुन्मरुत्सखप्रसन्नसत्पुङ्ख फलेन वेगिना ।
स्वयं च तन्मर्म विवक्षुणा यथा शरेण मूलं श्रवणस्य शिश्रिये ॥२८॥

स तेन भीमं रसता भुजान्तरे गिरीन्द्रसारेण शरेण मर्मणि ।
हतः सुराणामहितो महीयसा पपात भीमेन रवेण रावणः ॥२९॥

२४. उस राक्षस (रावण) ने (नये) निकले हुए सिर से अपने पुराने कटे हुए सिरों को देखा, जिनके मुकुट बाणों के लगने से छिन्न-भिन्न हो गये थे, जिनके अधर उन्हीं के दाँतों के आरे से कट गये थे और उनसे रुधिर बह रहा था।

२५. उस युद्ध-भूमि में जहाँ शत्रु (राम) के भारी बाणों से बिंधे हुए उसके सिर पड़े थे, डट कर लड़ते हुए उसने (रावण) ने ऐसी वीरता दिखलाई जो संसार में दुर्लभ थी।

२६. उन दोनों (राम और रावण) के युद्ध का नाद जो बाणों के नाद से तीव्रतर हो गया था, कान के परदे फाड़े डालता था। और गरुड़ और सर्प रूपी बाणों के आपस में टकराने से असहनीय हो गया था। ऐसा युद्ध जिसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती और जिसकी समता उसी युद्ध से की जा सकती है, जो लोग खड़े देख रहे थे।

२७. तब (राम को) रावण का मर्म स्थान बताते हुए मातलि ने उनके हित के लिये इन्द्र का भेजा हुआ एक अद्भुत बाण दिया, जिसमें उसके (रावण के) जिरह-बख्तर के भेदने की शक्ति थी।

२८. तब वह द्रुत गति वाला बाण जिसके अग्रभाग और चमकते हुए मुख में अग्नि और मरुत थे, खींचने पर राम के कान के मूल तक पहुँचा। जैसे वह उनके (रावण के) मर्म-स्थान को स्वयं बतलाने की इच्छा कर रहा हो।

२९. जब राम ने, भयङ्कर ध्वनि करते हुए, और पर्वतराज के समान भारी शर से उस देवताओं के शत्रु रावण के वक्ष-स्थल के मर्म-स्थान में मारा तो वह दहाड़ता हुआ गिर पड़ा।

निकृत्य रक्षोधिप मर्म मार्गणः पपात पातालतले महीयसः ।
कृतापराधो भुवनत्रयाधिपं निहत्य भीत्येव तिरोबभूषया ॥३०॥

अथ क्षितिस्तत्क्षणबद्धनिस्स्वना चचाल भीतेव शरेण ताडिता ।
पपात वृष्टिः कुसुमस्य राघवे दिवो निवृत्तेव रिपोर्यशस्ततिः ॥३१॥

सुता नरेन्द्रस्य परासुरीश्वरस्त्वया विपक्षक्षतवृत्तिरीक्षिता ।
इतीव काञ्च्या विनिपत्य पादयोर्निरुध्यमानापि ययौ रणाजिरम् ॥३२॥

द्विधा न यातं निजमिन्द्रजिद्गुरौ सुता मयस्योपगतेऽपि वैशसम् ।
शुचा नु रोषेण नु मुक्तनिस्स्वनं रुरोज पाणिद्वयपातनैरुरः ॥३३॥

नृपात्मजा संग्रह विग्रहेण यत् बभूव यत्नादपि तस्य दुर्लभम् ।
तमिन्द्रशत्रुश्चिरवाञ्छितं क्षणादवाप देव्या मृदुबाहुबन्धनम् ॥३४॥

हृदि प्रियाभावकृशानुदीपिता भिदामुपैतीति यथा विशङ्किनी ।
विलोचने तामनुताप विह्वलां असिञ्चतामश्रुजलेन सन्ततम् ॥३५॥

३०. तब उस महापुरुष (राम) का बाण, राक्षसराज (रावण) के मर्म-स्थल को चीर कर पाताल में घुस कर छिप गया । जैसे उसने तीनों भुवन के स्वामी (रावण) को मार कर कोई पाप किया हो ।

३१. पृथ्वी पर बाण के गिरने से वह उसी क्षण प्रतिध्वनित हो उठी और भय से काँपने लगी । और राम के ऊपर आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई । ऐसा लगता था जैसे शत्रु (रावण) के यश का समूह पलट कर राम के पास आ गया हो ।

३२. यद्यपि नरेन्द्र की पुत्री (मन्दोदरी) की मेखला सरक कर उसके पैर पर गिर पड़ी और उसे रोक कर कहा कि 'तुम्हारे पति मर गये । तुमने अपनी आँखों से शत्रु के किये हुए विनाश को देखा है ।' फिर भी वह रणभूमि में गई ।

३३. मय की पुत्री (मन्दोदरी) ने दोनों हाथों से अपनी छाती जोर-जोर रोकर पीटी परन्तु, उसका शरीर इन्द्रजित के पिता (अर्थात् अपने पति) के मरने पर भी टूक-टूक नहीं हुआ, या तो (पति के मरने पर) शोक के कारण, या (पति के साथ) न जा सकने से क्रोध के कारण।

३४. एक क्षण में रावण को उस देवी (मन्दोदरी) के सुकोमल हाथों का आलिङ्गन प्राप्त हो गया जो राजपुत्री (सीता) को हर लाने से लड़ाई हो जाने के कारण, यत्न से भी दुर्लभ हो गया था ।

३५. अपने प्रिय (रावण) के मरने से, हृदय में जलती हुई अग्नि से वह कहीं टूक-टूक न हो जाय, इस शङ्का से, शोक से विह्वल मन्दोदरी को उसके नेत्र, अश्रुजल से उसे निरन्तर सींचते रहे ।

प्रियस्य बाणव्रणरन्ध्ररोधिनं महीरजस्संचयमश्रुवर्षिणी ।
प्रिया परासोरपि खेदशङ्कया सकम्पहस्ता शनकैरपाहरत् ॥३६॥

मयात्मजाया नयने मुहुर्मुहुः प्रियेण पूर्वं परिचुम्ब्य लालिते ।
तदाश्रुभिश्चक्षु पुटान्तनिस्सृतैर्हतस्य तोयाञ्जलिमस्य तेनतुः ॥३७॥

पुरानुरक्तो रति दायिनि प्रियः प्रियामुखस्यावयवेषु यत्र सः ।
तदा तदापत्कृतशोकशोषितः स एव सावेगमकम्पताधरः ॥३८॥

कृशोदरी काञ्चनकुम्भसन्निभं कुचद्वयं रावण(?)मिमात्मनः ।
गते दिवं तत्र विलोचनच्युतैर्जलैरपस्नानविधावयोजयत् ॥३९॥

शुचा मुखेन व्यपनीतरोचिषा सुता मयस्य व्यथिता तपस्विनी ।
विलापमेवं करुणं समाददे दिशि क्षिपन्ती कृपणे विलोचने ॥४०॥

प्रियस्य सोऽयं पिशिताभिकाङ्क्षिभिर्वृकैर्विकृष्यावयवोऽपि कम्पितः ।
प्रहर्षमाशाविषयं विधाय मे पुनर्यथार्थावगमे निरस्यते ॥४१॥

३६. यद्यपि रावण के शरीर मे प्राण नही रह गया था, फिर भी इस शङ्का से कि कही उसे कष्ट न हो, वह मन्दोदरी, आंसू बहाती हुई, बाणों के किये हुए घाव के छिद्रों को रोकने वाली, जो भूमि पर एकत्रित धूलि थी, उसे अपने कांपते हुए हाथों से, धीरे-धीरे हटाने लगी ।

३७. जिस मन्दोदरी की आंखों का, पहिले रावण ने अनेकों बार चुम्बन और लालन किया था, उन्ही आंखों की कोर से बहते हुए अश्रुजल से उसने मरे हुए रावण को जलाञ्जलि अर्पित की ।

३८. वही अधर जो पहिले प्रिया के मुख मे सबसे अधिक आनन्द दायी था और जिस पर वह अनुरक्त था, वह अब उसके (रावण के) मरने की व्यथा से सूख कर शोक के आवेश से कांपने लगा ।

३९. उस पतली कमर वाली मन्दोदरी ने, सुवर्ण-घट के समान दीप्तिमान अपने दोनो स्तनों को, जैसे अपने नेत्र से बहते हुए अश्रुजल से, स्वर्ग में गये अपने पति को, अन्तिम स्नान कराने के लिये नियुक्त किया हो ।

४०. तब वह दुखी और दीन, मय की पुत्री (मन्दोदरी), जिसके मुख की कान्ति शोक से नष्ट हो गई थी, अपने कातर नेत्रों से दिशाओं की ओर देखती हुई, इस प्रकार रोने लगी ।

४१. "मेरे प्रिय (रावण) के अङ्ग, मास-लोलुप भेड़ियों से खींचे जाने के कारण जो हिलते हैं, उससे मेरे हृदय में आशा का सञ्चार होता है कि उनमे अभी प्राण है और उससे मैं प्रसन्न हूँ । परन्तु जब मुझे पता चलता है कि वे निष्प्राण है तब मैं उन्हें (उन अङ्गों) को छोड़ देती हूँ ।"

त्रिलोकभर्तुर्वनितासु तादृशी न काचिदासीदनवद्यलक्षणा ।
अलक्षणायामपि यत्प्रसादतश्चिरं ध्रियेताविधवा यशोमयि ॥४२॥

इयानल निग्रह एव मानिनं धुरि व्यवस्थापयितुं सुमेधसाम् ।
प्रियं सुरारक्षत विग्रहेऽपि यत् यशो हरन्ति श्वसितं न साधवः ॥४३॥

पुरन्दरानेन पुरापराभवं कृतं कृथाश्चेतसि माति मानिना ।
मुखादिमं दण्ड धरस्य तेजसश्च्युतं नमन्तं तव पाहिपादयोः ॥४४॥

प्रवेपमानाधरपत्रसन्तति विलोकदृष्टि भ्रमरं त्वदिष्टये ।
स्मरासिना देव निकृत्तमुज्ज्वलं त्रिलोक भर्तुः मुखपद्मसंचयम् ॥४५॥

विधाय वित्तस्य कृते कृतीजनः कुवेर वैरं सहबन्धुभिर्बुधः ।
सतिप्रवृत्ते परतः पराभवे कुलस्य कृत्यैः कुरुते सहार्थताम् ॥४६॥

गुरो गुरोरस्य गुरुप्रसादने चतुर्मुख त्वं चतुरस्य नक्षसे ।
विकीर्यमाणं भुवि विष्किरैरिमं शिखासमूहं मणिवन्मनस्विनः ॥४७॥

४२. त्रिलोक के स्वामी (रावण) की (इतनी) पत्नियों में क्या एक भी ऐसी सौभाग्यवती नहीं थी जिसके कारण मुझ अभागी को सौभाग्यवती होने का यश मिलता ।

४३. इतना पराभव बहुत पर्याप्त है कि एक स्वभिमानी पुरुष के ऊपर एक बुद्धिमान् व्यक्ति रख दिया जाय । हे ईश्वर ! मेरे प्रिय (रावण) की रक्षा कीजिये । युद्ध में भी साधु लोग यश का हरण करते हैं, प्राण का नहीं ।

४४. हे इन्द्र ! अपने हृदय में यह वैमनस्य न रखिये कि किसी समय में इन्हीं ने (रावण ने) दर्प के आवेश में आपको पराजित कर दिया था। आपके चरणों पर गिरे हुए, तेज से च्युत इनको यम के मुख से रक्षा कीजिये ।

४५. हे ईश्वर ! त्रिलोक के स्वामी (रावण) के इस कटे हुए उज्ज्वल, मुख कमल के समूह को, जिसके अधर की पँखुरियाँ कांप रही हैं, और जिसमें चञ्चल भ्रमरों के समान आँखें हैं, काम-वासना की तलवार ने आपकी तुष्टि के लिये काट डाला है ।

४६. हे कुबेर ! धन के लिये बुद्धिमान् आदमी भी अपने भाई-बन्धुओं से लड़ाई ठान लेता है। परन्तु जब किसी बाहरी व्यक्ति से पराभव की प्रवृत्ति होती है तो वह अपने भाई-बन्धु का साथ देता है ।

४७. हे ब्रह्मा ! आप, गुरुजनों को प्रसन्न करने में चतुर रावण के पितामह हैं । इस मनस्वी के मुकुटों के समूह को आप नहीं देखते, जिसे मनकों (मणि के दाने) की तरह चिड़ियाँ पृथ्वी पर बिखेर रही हैं ।

तथातिदीनैः परिदेविनाक्षरैर्नलोकपालेषु गतेषु विक्रियाम्।
असत्प्रमाणेन च शब्दमात्रमित्युदीरितं तत्र जनेन देवताः ॥४८॥

विपाण्डु गण्डाधरबिम्बसंश्रया विशेषकालक्तकमण्डनश्रियः।
सखीव तत्कालविधेयवेदिनी ममार्ज तस्या नयनाम्बु सन्ततिः ॥४९॥

जने विधिज्ञे विधिमौर्ध्वदैहिकं सुरद्विषः कुर्वति वैदिकाग्निभिः।
प्रिया ततः स्नानविधौ जलाशयं बलेन नीता परिगृह्य बन्धुभिः ॥५०॥

असौ विभिन्ने चरमे च कर्मणी कृशानुपाथाकर दाह गाहने।
अभिन्नवृत्त्योरिह युक्तमावयोर्भृशं भजे ते इति नादमाददे ॥५१॥

शिखापरिस्पृष्ट सिरावकुञ्चनात्करेषु मुष्टिं वलयत्सु मानिनः।
हतेऽपि सम्यग्ज्वलितं नभस्वता न भीत भीतेन हिरण्यरेतसा ॥५२॥

पुमानमित्रस्य पुरं पुरातनः प्रविश्य मायामनुजो विभीषणे।
निसृष्टराज्यो रजनीचरैश्चिरं सभां स भेजे परितः सभाजितः ॥५३॥

४८. जब देवताओं पर (मन्दोदरी के) दीन क्रन्दन का कोई असर नहीं हुआ तो लोगों ने कहा कि देवताओं के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। वे केवल नाम मात्र के देवता हैं।

४९. उसकी (मन्दोदरी की) आँखों से बहते हुए आँसुओं की झड़ी ने, एक सखी की भाँति जो यह समझती है कि ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिए, उसके अधर और पीले गालों पर लगे हुए, लाक्षारस एवं श्रृङ्गारिक बेल-बूटों को धो दिया।

५०. जब अन्त्येष्टि क्रिया की विधि को जानने वाले लोग उस देवताओं के शत्रु (रावण) का वैदिक अग्नि-संस्कार कर रहे थे तब उसके बन्धु उसकी प्रिया (मन्दोदरी) को स्नान कराने के लिये, जबर्दस्ती जलाशय पर ले गये।

५१. "अन्तिम समय की, दो विभिन्न क्रियायें, (एक तो) अग्नि-संस्कर (रावण के लिये) और (दूसरी) जल से स्नान (मेरे लिये), हम दोनो के लिये जिनका आचरण एक दूसरे के प्रति अभिन्न रहा क्या उचित है? मैं तो तुरन्त तुम्हारा अनुकरण करूंगी।" इस प्रकार उसने क्रन्दन किया।

५२. जब अग्नि की लपटों के कारण उसकी शिराय एठनी लगी और उसके हाथों की मुट्ठियाँ बँध गईं तो अग्नि डर के मारे धीमे-धीमे जलने लगा, यद्यपि पवन देव ने उसे मार डाला था।

विशेष—पवन अग्नि का मित्र है। श्वास का निकल जाना ही मृत्यु है। यह भाव है।

५३. तब वह पुराण पुरुष, जिसने माया से मनुष्य (राम) का रूप धारण किया था, नगर (लङ्का) में प्रवेश कर और विभीषण को राज्य सौंप कर, चारो ओर निशाचरों से देर तक अभिनन्दित होकर सभा-भवन में पहुँचे।

निधि कलानामथ लक्ष्मणान्वितं हितं वहन्तं कुमुदस्य सैनिकाः।
प्रणेमुरिन्द्रद्विप- दास्यनिर्गतं शिवेन रामाह्वयमिन्दुराद्रतम् ॥५४॥

कृतास्पदं धामनि कौशिकद्विषो जयेन दीप्तं दशकण्ठसूदनम्।
हृतानुरागेण जगाम वीक्षितुं सुता नृपस्य त्रिजटादिभिर्वृता ॥५५॥

विपाण्डुनो धूसरवेणिरोचिषः पदं दधत्या वपुरीक्षितुर्मनः।
तया शुचः स्थानमुपाहिता रतिः प्रियस्य चक्रे गलदश्रुधारया ॥५६॥

भयं विमृश्य प्रतिसंहृते क्षणे जनापवादादथ रावणद्विपि।
मनस्विनी मन्युनिरन्तरा गिरः परिस्खलन्तीरिति दीनमाददे ॥५७॥

श्रयं सरोजस्य परं पराभवन् वपुर्विनिद्रस्य कटाक्षषट्पदः।
निपातितस्ते यशसो विपर्ययं मयि स्वयं पुष्यति वीर कीदृशम् ॥५८॥

५४. तव कुमुद वानर के हितू, लक्ष्मण सहित, समस्त कलाओं से परिपूर्ण, चन्द्रमा के समान जो इन्द्र के शत्रु (रावण) के मुख से बचकर निकल आये थे ऐसे शुभ लक्षणों से सम्पन्न राम को सैनिकों ने प्रणाम किया।

विशेष—चन्द्र भट के सन्दर्भ में—'कलानिधि'=कलाओ से सम्पन्न। 'लक्ष्मण'=मृगलाच्छन युक्त। 'कुमुद' कमल जो चाँदनी में फूलता है। 'हितवहन्तं'=विकसित करते हुए। 'इन्द्रद्विप'=राहु। 'शिवे न आद्रितं'=शिवने जिसको मस्तक पर चढ़ा कर आदर किया है।

५५. तव राजपुत्री (सीता), प्रेम से प्रेरित होकर, त्रिजटा आदि से घिरी हुई, रावण का विनाश करने वाले, प्रतापी राम को देखने की इच्छा से, जहां वे (राम) बैठे थे, गई।

५६. पीला शरीर, धूलि धूसरित केश, आंखों से अश्रु की धारा निकलती हुई, सीता को देख कर, राम शोक से भर गये और उनके हृदय से आनन्द निकल गया।

५७. तब, जब रावण के शत्रु (राम) ने, जनापवाद के भय से, सोच-विचार कर, अपनी आंखों को सीता की ओर से फेर लिया, तो वह मानिनी, क्रोध से भरे हुए, रुक-रुक कर ये दीन वचन बोली—

५८. "हे वीर! फूले हुए कमल के शरीर को पूर्ण रूप से हराने वाली, भृङ्ग के समान ये आपकी आंखें मुझ पर पड़ जायेंगी तो आपके यश को क्या हानि पहुँचेगी?

अविच्छिदामस्य विवृद्धिमेयुषः तवाननादर्शन जन्मनस्त्वया ।
चिरप्रवृत्तस्य कृतं कृतात्मना कथं न विच्छेदनमात्रमश्रुणः ॥५६॥

दुःखासिकामसुतरां सुतरां प्रपद्य वैवर्ण्यं सम्पदमितादमिता तपोभिः ।
तस्थौ गुणैरविकलं विकलङ्कमेवमुक्त्वा वचः क्षतमदान्तमदान्तमृत्युम् ॥६०॥

शोकं तयानुपरमं परमं प्रपद्य प्रोक्तं कृपार सहितं सहितं सवाष्पैः ।
श्रुत्वा विशुद्धिजननं जननन्दनार्थं चक्रेऽनलं तरुचितं रुचितं प्रियायै ॥६१॥

आत्मप्रभावरमितैरमितैरुदस्त्रं दृष्टाग्र वानरबलैरबलैनमग्निम् ।
क्षत्रौजसा कृतरसा तरसा विविक्षुः सा सत्यवाग्रसमयं समयं चकार ॥६२॥

क्रोधाकृष्टत्रिदशवनितोत्तंसमच्छेदशास्यं
चेतस्यस्मिन् विनिहितपदं तं समच्छेदशास्यम् ।
नाथाकार्षं यदिहतमहा सत्व सा रामदाहं
गच्छेयं तद्रिपुहतमहा सत्व सा राऽमदाहम् ॥६३॥

५६. "आपकी आत्मा पवित्र है। आप हमारे आँसुओं को, जो आपके दर्शन न मिलने के कारण, बहुत दिनों से, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए, निरन्तर बह रहे हैं, क्यों नहीं रोक देते ?"

६०. आसानी से पार न की जा सकने वाली दुःख की दशा मे पड़ कर विवर्ण हो गयी, तपस्या के द्वारा निग्रह को प्राप्त कर लेने वाली सीता गुणो से पूर्ण, कलङ्कहीन, मद की परिणति को नष्ट करने वाले, दमनकारिणी मृत्यु से रहित राम से ये बातें कह कर चुप हो गयी।

६१. अनन्त शोक और करुण-क्रन्दन से कहे गये, उसके (सीता के) वाक्य सुन कर, उन्होंने (राम ने) सीता को अग्नि-परिशुद्धि द्वारा, जनता को सन्तुष्ट करने के हेतु और इसी कारण रुचिकर-पेड़ों के कुन्दों को एकत्र कर, अग्नि तैयार कराई।

६२. तब अनगिनती, बलवान् बानरों के सामने, जिनकी आँखें अश्रुपूर्ण थी, सत्य बोलने वाली सीता ने क्षत्रिय-बल से प्रेरित होकर, तुरन्त अग्नि में प्रवेश करने की इच्छा से यह शपथ ली—

६३. "हे राम ! यदि इस रावण को, जिसे आपने मार डाला है, जिसने क्रोध से देवताओं की वनिताओं का वस्त्र खींचा था (अर्थात् वस्त्र खींच कर घसीट लाया था), जिसका शासन अकाट्य था, जिसने हमारे वैभव को निःसार कर दिया है, हे नाथ, यदि मैंने अपने हृदय में उसे स्थान दिया हो तो मैं अग्नि में जल जाऊँ।"

स्वप्ने नापीन्द्रशत्रुस्य यदि सह मया जातुवैश्वानरेमे
दाहः स्वप्नोपि मा भूतत इह सुमहत्यद्यवैश्वानरेमे ।
वाक्यं स्मैवं सुदीना वहुविगलितदृग्वारिसत्याह तेन
क्रूरं धाम स्वकीयं सपदिहुत भुजावारिसत्याह तेन ॥६४॥

इति एकोन विंशत्सर्गः ।

६४. "यदि उस कुत्ते, इन्द्र के शत्रु, रावण ने मेरे साथ स्वप्न में भी रमण न किया हो, तो यह भयङ्कर अग्नि मुझे तनिक भी दहन न करे।" इस प्रकार जब यह सती (सीता) दीन होकर आँखों से आँसू बहाती हुई बोली, तो अग्नि ने तुरन्त अपने दारुण तपन को रोक दिया।

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त।

अथ विंशतितमस्सर्गः

अथ स्फुरत्काञ्चनभित्ति पुष्पकं विमानमारुह्य विभीषणान्वितः ।
समं सुमित्रात्मजवानरेश्वरैः खमुत्पपात स्वपुरी यियासया ॥१॥

ललाट विन्यस्तकराग्रवारिताप्रभाकरांशुस्रवजिह्मितेक्षणैः ।
निशाचरैरस्य विमानमीक्षितं विवेश भृङ्गोदरसन्निभं नभः ॥२॥

चिरप्रवासानलधूमसन्निभां करेण वेणीमवमोचयन् स्वयम् ।
उदस्रचक्षुः परिरभ्य वक्षसा मिथः प्रियामेवमुवाच राघवः ॥३॥

जनेन रामाकृतिरत्नमीदृशं समीयते नाकृतपुण्यकर्मणा ।
इति स्वयं चिन्तयतः पदे पदे मम स्फुरत्यात्मनि भूरि गौरवम् ॥४॥

जगद्द्वयं द्वावधितिष्ठतः प्रिये पतिव्रतालाभविभूतिगर्वितौ ।
अहं भवत्या भृतको महीतलं महामुनिः स्वर्गमरुन्धतीपतिः ॥५॥

१. तब विभीषण को साथ में लिये, लक्ष्मण और वानर नायकों के साथ, राम पुष्पक विमान पर, जिसके दोनों पक्ष सुवर्ण की भाँति चमचमा रहे थे, अपनी राजधानी में जाने की इच्छा से, चढ़कर आकाश में पहुँच गये ।

२. वह विमान, जिसे राक्षस लोग, सूर्य के आतप को रोकने के लिये, अपने हथेलियों को ललाट के सामने किये हुए देख रहे थे और जिनकी आँखें, सूर्य के किरणों के पड़ने से तिरछी हो गई थीं, भृङ्ग के समान चमकीले आकाश में घुस गया ।

३. (तब) राम स्वयं अपने हाथ से (सीता की) चोटी को, जिसकी कान्ति चिर प्रवास की अग्नि के धुँए के समान थी, खोलते और अपनी आँखों में उमड़ते हुए आँसुओं को भरे हुए, अपनी प्रिया का आलिङ्गन कर, चुपके से इस प्रकार बोले—

४. जब मैं अपने हृदय में सोचता हूँ कि तुम्हारे समान नारी-रत्न किसी पुरुष को बिना पुण्य-कर्म किये नहीं मिल सकती, तो पद-पद पर मेरे हृदय में महान गौरव का स्फुरण होता है ।

विशेष—"प्रवर्तते नाकृत पुण्य कर्मणा"—किरातार्जुनीयम्—१४–३. भारवि ।

५. हे प्रिये ! दोनों जगत् मे केवल दो ऐसे व्यक्ति रहते हैं, जिन्हें पतिव्रता पत्नी पाने के सौभाग्य का गर्व है । पृथ्वी पर तुम्हारा अनुचर मैं और स्वर्ग में अरुन्धती के पति महर्षि वसिष्ठ ।

पतिव्रतायास्तव देवि तेजसा हृतप्रभावो निहतो निशाचरः ।
मनुष्यमुक्तः कथमन्यथा शरः क्रमेत लोकत्रितयस्य जेतरि ॥६॥

इदं विधायोचितमङ्कमासनं भुजेन मत्कण्ठतटावलम्बिनी ।
समीरणाकम्पितपक्ष्मसन्ततो दृशौ मुहुः पातय देवि दिङ्मुखे ॥७॥

दिगङ्गना हारि बृहत्पयोधरा दृशौ दहन्ती वडवामुखेन नः ।
शुभाशुभैरश्वमुखीव सेविता गुणैरियं दण्डधरेण रक्ष्यते ॥८॥

अमूमधः पश्य जवेन पुष्पके नभस्समाक्रामति ते वियोगतः ।
समुद्भवच्छोकरयेण तापिना कृशीभवन्तीमिव रक्षसः पुरीम् ॥९॥

पयोधिरत्नालयमीक्ष्यते समं समुन्नमद्वीचिविभिन्नमप्यदः ।
निमज्जतीवाम्बुनिधौ समन्ततः क्रमेण लङ्का सहशैलकानना ॥१०॥

विशालशृङ्गशिखरैरधिष्ठितो विभाति वल्मीक इवैष भूधरः ।
यतस्स्रवन्त्यः सरितः समन्ततः परिस्फुरन्त्यः कुटिला इवोरगाः ॥११॥

६. हे देवि ! तुम्हारे पातिव्रत के तेज ने उस निशाचर के प्रभाव का (पहिले ही) नाश कर दिया था । नहीं तो मनुष्य का छोड़ा हुआ बाण उस त्रैलोक्य के जीतने वाले को कैसे पकड़ में ला सकता था ?

७. हे देवि ! हमारी गोद में बैठ कर अपने हाथों को हमारी गर्दन में डालकर, अपनी आँखों से, जिनकी बरौनियों की पंक्ति हवा से हिल रही है, दिशाओं की शोभा को बार-बार देखो ।

८. (वह देखो) किन्नरी के समान दक्षिण दिशा को जिसके बड़े-बड़े स्तन लुभावने हैं, जो हमारी आँखों को वाड़याग्नि से झुलसा रही है और इस प्रकार शुभ और अशुभ गुणों को धारण करने वाली है, दण्डधर (यमराज) रक्षा कर रहे हैं ।

९. नीचे देखो । जैसे-जैसे पुष्पक विमान, आकाश में तेजी से आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वह राक्षसों की पुरी (लङ्का), जैसे तुम्हारे विछोह से पीड़ित होकर दुबली (छोटी) होती जाती है ।

१०. पयोधि (हिन्द महासागर) और रत्नालय (बंगाल की खाड़ी अथवा रत्न द्वीप लङ्का) यद्यपि उमड़ती हुई लहरों के परस्पर टकराने से, एक दूसरे से पृथक् है फिर भी (विमान के ऊपर से) एक दूसरे से मिली हुई लगती है और बनों और पहाड़ों सहित वह लङ्का द्वीप, समुद्र में धीरे-धीरे सब ओर से डूबता हुआ मालूम होता है ।

११. यह विशाल शृङ्ग एवं शिखर वाला पर्वत, दीमकों का बनाया हुआ मिट्टी का ढेर लगता है और जिससे चारों ओर निकलती हुई नदियाँ, टेढ़े-मेढ़े सर्प की भाँति चमचमा रही हैं ।

सचन्दनेयं मणिचित्रमेखला परिस्फुरन्नीलतमालकानना ।
हृदि प्रियेव प्रमदं तनोति नः सुवर्णकूटानुगशैल सन्ततिः ॥१२॥

क्रमादतिक्रामति पुष्पके घनं सविग्रहोल्लङ्घनशङ्कया यथा ।
तिरोदधानं गगनं समन्ततः प्रवर्धते मण्डलमुष्णदीधितेः ॥१३॥

विधाय पादौ दृढमक्षपाटके विसृज्य देहं गगने सकौतुकाः ।
अमी समीपागतमेघभित्तिषु स्पृशन्ति विद्युद्वलयं वलीमुखाः ॥१४॥

इदं क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीगुणं विमानमग्रे दशनस्य पुष्करम् ।
निधाय कर्णौ विनियम्य निश्चलं सकौतुकं दिग्गज एव वीक्षते ॥१५॥

इदं समासन्नरविप्रदीपितं दधानमुष्णद्युतिकान्तिमण्डनम् ।
अमत्युपाहृत्य करोति निस्वनं विमानमम्भस्तुतिमन्तरम्बुदम् ॥१६॥

सदैव पूर्णो बहुरत्नसंपदाप्युपान्तभागस्थिततालभूषणः ।
अयं समुद्रः परिकर्षति श्रियं प्रचेतसो रत्नसमुद्गसंभवाम् ॥१७॥

१२. यह सुवर्ण के ढेर के समान पर्वतों की श्रेणी जो रत्न-जटित मेखला पहिने है और जिसमें नील वर्ण तमाल के कुञ्ज हैं, हम लोगों के हृदय को प्रेयसी की भाँति आह्लादित करती है।

१३. जब पुष्पक बादलों को पार कर ऊपर उठ रहा था तो सूर्य का मण्डल, जैसे इस डर से कि कहीं यह विमान उसको भी न ढाँक जाय, इतना बड़ा हो गया कि उसने सम्पूर्ण आकाश को घेर लिया।

१४. इन वानरों ने (विमान के) धुरे के किनारे को दृढ़ता से पकड़ कर, अपने शरीर को प्रसन्नता से आकाश में लटका दिया है और निकट में आये हुए बादलों के ऊपर (चमकती हुई) बिजली के घेरे को छू रहे हैं।

१५. यह दिग्गज, सूँड़ को दाँतों के सामने रखकर, अपने कानों को बिना हिलाये-डोलाये, पुष्पक विमान को, जिसमें सोने की घटियाँ खनखना रही हैं, आश्चर्य से देख रहा है।

१६. यह विमान, उन बादलों को, जो सूर्य के समीप आ जाने के कारण गरम हो गये हैं, जो सूर्य की प्रभा से रंग-बिरंगे हो गये हैं और जिनमें से पानी बरस रहा है, अपनी टक्कर से भेद कर, उनके भीतर ध्वनि करता हुआ, चक्कर काट रहा है।

१७. यह समुद्र अनेकों रत्नों से सदा परिपूर्ण होते हुए भी, किनारे पर उगे हुए, केवल ताल-पत्रों के आभूषण को धारण करते हुए, वरुण की रत्नों की पेटारी से उत्पन्न लक्ष्मी को खींच रहा है।

विशेष—यह समुद्र धनवान् होते हुए भी धनलोलुप हो रहा है, यह भाव है।

हरौ हृतेऽसौ हरितुल्यतेजसः क्रतुप्रसङ्गे सगरस्य सागरः।
विभिद्य तत्संभववीरबाहुभिः गभीरभावं किल भूरि लम्भितः ॥१८॥

अयं त्वदर्थे गिरिसेतुराहितः प्रमित्सुनेव प्रथिमावमम्बुधे।
सकौतुकेनावनिमण्डलेन यः प्रसारितो बाहुरिवावभासते ॥१९॥

समुत्प्लुतस्योदधिदन्तिनो मुखे शरीरभागे च विभिन्न संहतिः।
विभाति सा भक्तिवितानभासुरा सितेव भूतिर्नवफेनसन्ततिः ॥२०॥

शिखिप्रभाभासुरविद्रुमद्रुमप्रताननिर्भिन्नतरङ्गसंहतिः।
स्वयं पयश्शोपविशेपनिस्पृहं द्वितीयमौर्वं वहतीव वारिधिः ॥२१॥

विभर्त्ति शङ्खप्रकरावतंसकः प्रवालरत्नाकर एष वारिधिः।
परिभ्रमन्मन्दरकोटिघट्टितव्रणश्रियं प्रस्फुरदस्थिदन्तुरा ॥२२॥

अपूर्वसोमार्घविभावनस्फुरत् फणालपाशाङ्ककपालभूषणः।
ककुत्प्रदेशोऽयमुपैति पश्चिमः सरूपभावं वपुषः पिनाकिनः ॥२३॥

१८. विष्णु के समान तेजस्वी, सगर के यज्ञ में जब घोड़ा चोरी गया तो उनके पुत्रों के बलवान भुजाओं से खोदा गया यह समुद्र बहुत गहरा हो गया।

१९. तुम्हारे लिये, पहाड़ों का बना हुआ, यह सेतु ऐसा लगता है जैसे हँसी-हँसी में पृथ्वी मण्डल ने समुद्र की चौड़ाई नापने की इच्छा से अपनी बाहु फैला दी हो।

२०. (वह देखो) समुद्र में रहने वाली हथिनी के जल के बाहर निकलने पर उसके मुख और शरीर पर ताजा समुद्र फेन की पंक्ति बिखर कर, चमकती हुई, सफेद, धूलि की धारी के समान लगती है।

२१. समुद्र की लहरों के, मूगों के वृक्ष पर टकराने के कारण प्रभा से दीप्तिमान्, वे वृक्ष वड़वानल के समान लगते हैं। हाँ, इनमें जल को सोख लेने की बिलकुल इच्छा नहीं है।

विशेष—वड़वानल तो समुद्र के जल को सोखता रहता है, पर ये वड़वानल के समान चमकते हुए विद्रुम के पेड़ नहीं सोखते, यह भाव है।

२२. शंख का समूह जिसका गहना है, ऐसा विद्रुमों और रत्नों का खजाना यह समुद्र, घूमते हुए मन्दर पर्वत के किनारों की टक्कर से उभरी हुई हड्डियों और घावों से भरा हुआ लगता है।

२३. पश्चिम दिशा, जो अपने स्वामी, नागपाश से विभूषित एवं श्रेष्ठ सोम के अर्घपान से इतस्तत् उद्दीप्त वदन, वरुण की प्रभा से विभूषित थी, शङ्कर के शरीर की समानता को प्राप्त हुई।

विशेष—संध्या के समय पश्चिम दिशा का वर्णन है। वरुण के संदर्भ में : पश्चिम दिशा के स्वामी नागपाश से विभूषित वरुण हैं। पश्चिम दिशा, अर्ध चन्द्रोदय से इधर् तमतमा उठी है, जैसे वरुण ने सोम का अर्घपान किया हो। सोम में श्लेष है : सोम=अर्धचन्द्र = सोम रस। कपाल में श्लेष है : क+पाल=जल के स्वामी=वरुण, दूसरे खोपड़ी। शङ्कर के संदर्भ में : ये ही सब शङ्कर के आभूषण हैं—फणाल=सर्प, अंश=अर्धचन्द्र, कपाल=खोपड़ी। इस प्रकार पश्चिम दिशा का शङ्कर से सादृश्य हुआ।

असौ निजोत्सङ्गलुठत्पयोधरा पतद्विजासन्नतर त्रिविष्टपा।
विदूरतो वृद्धतरेव कामिनी विर्वाजता मेखलयाद्रिसन्ततिः ॥२४॥

हृताम्बरोऽसावुयकण्ठनीलतां समुद्वहन्निन्दुविपक्वमस्तकः।
विभर्ति कान्तावृतभागसुन्दरः श्रियं गिरिर्देवसहस्त्रिशूलिनः ॥२५॥

परिभ्रमन्तो मनुजा महीतले विदूरभावादतिसूक्ष्मदर्शनाः।
विभान्त्यमी वर्त्मनि शुक्लवाससो मुखाहितान्ना इव कीटपङ्क्तयः ॥२६॥

विवर्धमानः किला सोऽयमायतं निरन्तरत्वं प्रसभं दिशन् दिशाम्।
हतः पदा पातितगर्वखर्वतां अगादगस्त्येन रयादगाधिपः ॥२७॥

२४. (यह देखो) जो दूर पर पहाड़ की पंक्ति है, जिसमे कोई ढलवान नहीं है, जिसकी गोद में बादल मडरा रहे हैं, जिस पर पक्षी उड़ रहे हैं और जो (इतनी ऊँची है कि) स्वर्ग के निकट पहुँच गई है, एक अतीव बूढ़ा स्त्री के समान लगती है।

विशेष—(१) नजोत्संग लुठत्पयोधरा'=जिसके स्तन उसकी गोद में लटक रहे हैं। (२) 'पतद्विजाः' जिसके दांत गिर गये हैं। द्विज=दांत। (३) 'आसन्नतर त्रिविष्टया'=जो स्वर्ग के निकट पहुँच गई है अर्थात् मरने के किनारे है। (४) 'मेखलया विर्वाजता' (पर्वत के सन्दर्भ में) ढलवान रहित। (वृद्धा के सन्दर्भ में) करघनी हीन।

२५. यह देवसह नामक पर्वत, जो आकाश को छू रहा है, जिसके समीप का भाग नीली आभा धारण किये है, जिसकी चोटी पर चन्द्रमा विराजमान है, जो विभागों के रत्नों से भरे होने के कारण सुन्दर लगते हैं, शङ्कर की शोभा धारण करता है।

विशेष—शंकर के सन्दर्भ मे :—(१) 'हृताम्बरः'=नग्न। (२) 'उपकंठनीलता'=कण्ठ में नीलापन। (३) 'इन्दु विपक्व मस्तकः'=जिनके मस्तक पर चन्द्रमा है। (४) 'कान्तावृत भाग सुन्दरः'=जिनका पार्वती से घिरा हुआ भाग सुन्दर है।

२६. ये आदमी जो पृथ्वी पर मार्ग मे चल रहे हैं और जो सफेद वस्त्र पहिने हैं, वे इतनी दूर से देखने में इतने छोटे लगते हैं जैसे अपने मुख मे अन्न लिये हुए कतार की कतार कीड़े हों।

२७. यह पर्वत राज जो वहाँ घूमने वालों को सदा आनन्द देता था और जो निरन्तर आगे बढ़ता हुआ दिशाओं को घेरे जा रहा था, उसे अगस्त्य ने, तेजी से पैर से ठुकरा कर चूर्ण कर दिया, वह ठिगना हो गया है।

अयं नगस्सङ्गतनन्दकः सदा मनोज्ञपद्माकरसक्तपादकः ।
अनन्तनागासनबद्धसङ्गतिः हिरण्यगर्भो मधुसूदनायते ॥२८॥

मनोज्ञसौगन्धिकजातिरञ्जितः सपद्मरागारुणतोयसन्ततिः ।
अयं कुणालो बहुसागरप्रिये विराजतेऽनेकविजातिमण्डनः ॥२९॥

परिस्फुरत्काञ्चनकान्तिरन्तिक प्रयाततारो हरिसैन्यसेवितः ।
दिवाकराचुम्बिततुङ्गमस्तको विभाति सुग्रीव इवैष मन्दरः ॥३०॥

सदप्सरोभिः परितोऽभिवेष्टितः समीपवर्तिद्विजराजमण्डनः ।
बिभर्ति पीताम्बर एष भूधरः श्रियं मुरारेरपि रूपसंश्रयाम् ॥३१॥

इहानुगोदं निशि चन्द्ररश्मिभिः निषेव्यमाणौ सुरतश्रमान्तरे ।
प्रियेऽभिजानासि मनोज्ञसंकथौ तटे चरिष्याव उपान्तसैकते ॥३२॥

२८. यह पर्वत, जिसके नीचे के भाग में सुन्दर कमलों के सरोवर हैं, और जो अनन्त हाथियों और 'पीतशाल' के वृक्षों से युक्त है और जिसके गर्भ में सुवर्ण है, वह विष्णु के समान लगता है।

विशेष—विष्णु के सन्दर्भ में
(१) 'संगतनन्दकः'=जो 'नन्दक' नामक तलवार लिये हैं।
(२) 'मनोज्ञ पद्माकर सक्त पादकः'=जिनके पैर सुन्दर लक्ष्मी हाथों से दबा रही हैं।
(३) 'अनन्त नागासनबद्ध संगतिः'=जो अनन्त नाग के आसन पर बैठे हैं।
(४) 'हिरण्यगर्भः'=आदि पुरुष विष्णु।

२९. मनोहर कमल तथा मालती से रंजित, पद्मरागमणि से अरुण जलधारवाला, अनेक पक्षियों की जातियों का भूषण रूप यह कुणाल भी सागरप्रिये, शोभित हो रहा है।

३०. यह चमकते हुए सुवर्ण के समान कान्तिवान, मन्दर पर्वत, जिसके निकट तारिकायें फैली हैं, जिसमें झुण्ड के झुण्ड वानर निवास करते हैं और जिसकी ऊँची चोटी को सूर्य चूम रहा है, सुग्रीव के समान शोभित हो रहा है।

विशेष—सुग्रीव के सन्दर्भ में—(१) 'अन्तिक प्रयात तारा'=जिसके निकट 'तारा' सुग्रीव की पत्नी जा रही है। (२)हरिसैन्य=वानरों की सेना।

३१. यह पर्वत, जो चारो ओर से स्वच्छ जल के सरोवरों से घिरा है, जो निकटवर्ती चन्द्रमा अलङ्कृत है और जिसके ऊपर का आकाश पीतवर्ण है, वह मुरारि बड़ी शोभा को धारण करता है।

विशेष—मुरारि के सन्दर्भ में : (१) 'सदप्सरोभिः'=सुन्दर अप्सराओं से। (२) 'द्विजराज'=गरुड़। (३) 'पीताम्बर'=वस्त्र विशेष।

३२. हे प्रिये! क्या तुम्हें स्मरण है कि रात्रि के समय, रति के श्रम के बाद, गोदावरी के तट पर, बालू रेत में, जब चाँदनी हम लोगों पर पड़ रही थी, हम लोग स्नेहालाप करते घूम रहे थे।

पयः प्रवाहस्सरितस्सरित्पतिं गिरिश्च विन्ध्यं प्रथतेऽमन्तरा।
भुवं समालम्बितुमद्रिमस्तके पयोधिना बाहुरिव प्रसारितः ॥३३॥

अनेकपुष्पप्रकराधिवासिता भुजङ्गविक्षोभितलोलमानसा।
स्पृहावता वेशविलासिनी यथा दिगुत्तरासौ धनदेन सेव्यते ॥३४॥

निषेव्यमाणो हरिभिर्मतङ्गज क्षरक्षरद्भूमिनिषिक्तबाहुभि।
हिमालयस्सानुजरत्नभूषणो गुणश्रियाऽसावनुगच्छतीव माम् ॥३५॥

सधातुकूटं धृतविश्वसंपदः शिवोपभोगप्रणयस्य भाजनम्।
इमं तपस्सिद्धिगुणाय वृण्वते श्मशानकल्पं व्रतिनो विरागिणः ॥३६॥

हतस्समुद्रद्वितयेन वेगतः तटोरसि प्रस्फुरदूर्मिबाहुभिः।
बृहद्दरीनिस्सृतधातुनिर्भरो मुखादयो प्रोद्गिरतीव शोणितम् ॥३७॥

इह प्रवृत्तं रविरश्मिसंगमे पतङ्गकान्तप्रभवं दवानलम्।
निशासु निर्वापयति क्षपाकरः प्रवाहिना चन्द्रमणिस्रुवाम्बुना ॥३८॥

३३. यह नदी का प्रवाह, जो समुद्र और विन्ध्या पर्वत के बीच में फैला हुआ है वह समुद्र की भुजा के समान लगता है जो पृथ्वी को उसके शृङ्ग रूपी मस्तक के पकड़ना चाहता है।

३४. अनेक प्रकार के पुष्पों से सुवासित, सर्पों से विक्षुब्ध और आन्दोलित मानसरोवर से शोभायमान इसे उत्तर दिशा की सेवा, कुबेर बड़ी अभिलाषा से करते हैं।

३५. पर्वतों में पैदा होने वाले रत्नों से विभूषित, जहां (सिंहसे मारे हुए) हाथियों के रुधिर परिप्लुत भूमि पर जिनके पैरों के चिह्न अङ्कित हैं, ऐसा हिमालय, अपने गुणों के उत्कर्ष से जैसे हमारे पीछे-पीछे चला आ रहा है।

३६. इसे (हिमालय को) जिसके शृङ्ग हड्डियों (धातु=खनिज पदार्थ=हड्डी) से भरे हैं, *जिसमे विश्वभर की सम्पत्ति निहित है, जो शिव के उपभोग के कारण उनका प्रियपात्र* हो गया है, विरागी व्रती लोग, तपः सिद्धि के शुभ परिणाम के हेतु, श्मसान के समान वरण करते हैं। अर्थात् वहां तपस्या करते हैं।

विशेष—'व्रतिनः'—देखिये='व्रतिनमिव भस्मसित पुण्ड्कांकितमुखम्'=कादम्बरी। महाव्रती=शैल।

३७. दो समुद्रों से उठती हुई, लहर रूपी बाहुओं के टक्कर से, ढलवान के वक्ष पर जोर से *टक्कर लगने से यह पर्वत, जिसकी बड़ी-बड़ी गुफाओं से, निकल कर धातु (गैरिकादिक)* वह रहे थे तो ऐसा लगता था जैसे वह मुख से रुधिर वमन कर रहा हो।

३८. यहाँ सूर्य की किरणों और सूर्यकान्त मणि के संयोग से निकले हुए दावानल को, रात्रि मे, चन्द्रमा और चन्द्रकान्त मणि के संयोग से निकल कर जल प्रवाह बुझा देता है।

अनेन शैलेन सुरालयस्पृशा तिरोभवन्नैशतमिस्रसञ्चयः ।
विवस्वतो भीत इवोग्रतेजसः परिभ्रमत्यञ्जनखण्डकर्बुरः ॥३९॥

निशि प्रवृत्तोदयया दवानले तुषार वृष्ट्या शमितेऽपि सर्वतः ।
इहौषधिज्योतिषि दत्तदृष्टयः सृजन्ति भीतिं न कुरङ्गयोषितः ॥४०॥

अमुष्य शृङ्गे दुहितुर्महीभृतः तपश्चरन्त्यास्सविता समीपगः ।
शशाङ्कशोभामवहद्विलोचन प्रभाततिश्यामितमध्यमण्डलः ॥४१॥

पतिप्रसादादरमण्डितालका गुहाननासक्तगलत्पयोधरा ।
अधित्यकासौ हिमशैलसंभवा विभर्ति गौरेवि मनोहरं वपु ॥४२॥

३९. अञ्जन के समूह के समान काला, रात्रि का सञ्चित अन्धकार, स्वर्ग को छूते हुए, इस पर्वत में छिपा हुआ, जैसे सूर्य के उग्र तेज से डर कर इधर-उधर घूमता फिरता है।

४०. यद्यपि रात्रि में बर्फ पड़ने से, दावानल बुझ गया था, फिर भी हरिणियाँ, चमकती हुई जड़ी-बूटियों पर आँख गड़ाये थीं और उनका डर नहीं छूटता था।

४१. जब शृङ्ग पर बैठकर, उसकी (हिमालय की) पुत्री (पार्वती) तपस्या कर रही थी तो निकटवर्ती सूर्य, चन्द्रमा के समान शोभायमान हो गया और उसकी (पार्वती की) आँखों की प्रभा से सूर्य मण्डल का मध्यभाग काला पड़ गया।

विशेष—पार्वती सूर्य को एकटक देखकर तपस्या करती थी।
देखिये :—"शुची चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां
शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्र प्रतिघातिनीं प्रभा-
मनन्य दृष्टिः सवितार मैक्षत॥ कुमारसम्भव, ५-२०।

कुमारदास, एक पग और आगे बढ़ जाते हैं। वे कहते हैं कि तपस्या करते समय जब पार्वती एकटक सूर्य को देखती थी तो उसकी आँखों की काली पुतली की परछाईं पड़ने के कारण सूर्य मण्डल का मध्य भाग काला पड़ गया और वह शशांक के समान हो गया।

४२. यह हिमालय के ऊपर की समतल भूमि, जहाँ अलकापुरी, (अपने) स्वामी (कुबेर) के अनुग्रह एवं आदर से सजी हुई है, और जिसकी गुफाओं के द्वार पर लपटे हुए बादल मंडरा रहे हैं, पार्वती के समान शरीर धारण कर रही है।

विशेष—पार्वती के सन्दर्भ में :—(१) 'पतिप्रसादादर मण्डितालका'=जिसके केश कुन्तल को शिव ने प्रेम और आदर से सजाया है। (२) 'गुहानना सक्त गलत्पयोधरा'=जिसके (चिकने) सटकते हुए स्तन कार्तिकेय के मुख में लगे थे। (३) 'हिमशैल सम्भवा'= पार्वती।

असौ गुहा धातु परिस्रवारुणा विलुप्तपक्षस्य तटे महीभृतः।
स्रवन्मुखस्य त्रिदशाधिपायुध व्रणस्य नालीव विभाति रागिणी ॥४३॥

स एष शीतद्युतिहासि निर्झरे विकीर्णवारिः स्फटिकोपलोच्छ्रयः।
गुहानिबद्धप्रतिशब्द भैरवैः अलक्षितोऽपि ध्वनिभिर्विभाव्यते ॥४४॥

शिखासु पुष्पप्रकरो महीरुहां मुहुः किलाधोऽञ्जनशैलभित्तिषु।
क्षणं विनष्टः स्फटिकोपले घनः सितप्रभोयं मरुता विधूयते ॥४५॥

विमुच्यमानस्सितवारिदैरसौ विभाति धातूपलराशिकच्छितः।
समन्ततो भस्मनि भासुरप्रभः प्रयाति वातैरिव वह्निसञ्चयः ॥४६॥

घनस्य तिष्ठन्ति ततो धृताम्भसः तटे पतन्तश्शिरसो महीभृतः।
अमी रवेरूर्ध्वमुखांशुवह्निना पराहतः पादतलेषु किन्नराः ॥४७॥

विकृष्यमाणे सितमेघमण्डले नभस्वतो यो बिसखण्डपाण्डुरः।
विभाति निर्मोकमिव त्यजन्नितः स एष कैलासतटो विलोक्यताम् ॥४८॥

४३. यह गुफा जो (गैरिकादिक) धातुओं के बहने से लाल हो गई है, उस बहते हुए घाव की नाड़ी के समान लगती है जिसे इन्द्र के वज्र ने पहाड़ के किनारे के पक्षों को काट कर किया था।

४४. यह चन्द्रमा को लजाने वाला झरना, जिसका जल स्फटिकशिला पर गिर कर बिखर रहा है, यद्यपि दिखलाई नहीं पड़ता, पर गुफा के भीतर भयंकर प्रतिध्वनि से जाना जाता है।

४५. यह बादल प्रायः वृक्षों के शिखर पर, पुष्पों के समूह के समान लगता है और कभी काले पर्वत के पार्श्व में लोप हो जाता है, और (कभी) स्फटिक की चट्टान पर शुभ्र प्रभा धारण कर वह वायु से हिलने-डुलने लगता है।

४६. धातुओं से समृद्ध इस ऊँचे शृङ्ग पर से जब बादल जाते हैं और वायु जब चारों ओर से धूल उड़ा देती है तो वह अग्नि के समूह के समान चमकने लगता है।

४७. इन किन्नरों के पैर के तलुवे जब सूर्य की ऊर्ध्वमुखी किरणों से जलने लगते हैं तो वे शृङ्ग पर से नीचे कूद कर जल से भरे बादलों के पास खड़े हो जाते हैं।

४८. देखो, यह वह कैलास पर्वत है जो कमल नाल के समान श्वेत है और जो पार्श्व मे स्थिर, श्वेत बादलों के वायु से हटाये जाने पर ऐसा शोभायमान् लगता है जैसे वह केंचुल छोड़ रहा हो।

कुतः कुरङ्ग किरणस्य चन्द्रमाः सदा शिरस्स्पर्शकृतं विभर्ति सः ।
स्वयं च तद्धर्षणजातनिष्पतद्धिमांशुधूलीकृतशुक्लिमाचलः ॥४६॥

लतावितानावरणे शिलातले गिरावमुष्मिन् सुरसिद्धयोषिताम् ।
सुवृत्तकाञ्चीगुणघृष्टिरेखया विदन्ति वृत्तं सुरतं वनेचराः ॥५०॥

उपागतोऽपि ग्रसितुं विलोचन प्रभानिषेकाहितमेचकद्युतिम् ।
मृगीसमूहः परिणामदूषितं विशङ्क्य भूयस्त्यजतीव पल्लवम् ॥५१॥

ननु विदधति पादपूरणानि प्रथितयतावचले किरातदेशाः ।
विशदमतिभिख्ययाः प्रबन्धे रचित इवार्थवतीव विप्रहीनाः ॥५२॥

दुरुत्तरं विवरमुखस्थपन्नगं वनश्रिया परिगतमुत्प्रवालया ।
इति स्तुवन् जलधिमिवाथ भूभृतं सुतो भुवं समवततार भूभुजः ॥५३॥

महर्षयो नरपतिपौरसंहिताः मुखानि तन्नुतिमुखराणि बिभ्रतः ।
उपस्थितश्रियमभिषेक संभृतिं प्रगृह्य तं नृपतिसुतं प्रपेदिरे ॥५४॥

४६. मृग कहाँ से ? यह चन्द्रा सदा किरण का शिरस्पर्श करते हुए, स्वयं उसके संघर्षण की उत्पत्ति से गिरती शीतल किरणों की धूलि से पर्वत को धवल बनाता हुआ धारण करता है।

५०. इस पर्वत पर लता कुन्ज की आड़ में, शिलाओं के ऊपर देवताओं और सिद्धों (एक देवयोनि विशेष) की वनिताओं के किये हुए रति-विलास के समय, (उनकी) गोल करधनी की रगड़ से (शिला पर) खिंची हुई रेखाओं से, वनवासी लोग (सब बात) समझ जाते हैं।

५१. हरिणियों का समूह, खाने के लिए सामने प्रस्तुत पल्लवों को जो उनकी आँख की प्रभा पड़ने से काले पड़ गये थे, उन्हें भ्रष्ट समझकर शङ्का से छोड़ दिया।

५२. इस पहाड़ के नीचे, यशस्वी सिद्धों के साथ-साथ किरातों के आवास उसी प्रकार थे जैसे बुद्धिमान प्रबन्धकर्ता अपनी कृति में पाद पूरण के लिये, निरर्थक अव्ययों का सार्थक की भाँति प्रयोग करता है।

५३. समुद्र के समान, जिसका पार करना दुष्कर था जिसकी गुफाओं के मोहाने पर सर्पों का निवास था, जिसकी वनलक्ष्मी नव पल्लवों से भरी थी, इस प्रकार पर्वत की प्रशंसा करते हुए त्रिभुवन के स्वामी (राम) पृथ्वी पर उतरे।

५४. तब महर्षि लोग और राजे, पौरजनों को, जिनके मुख उनकी (राम की) प्रशंसा कर रहे थे, और अभिषेक की सामग्री लेकर उस राजपुत्र (राम) के पास पहुँचे।

रामोवृतो भरतलक्ष्मणतत्कनिष्ठैः बद्धाञ्जलिर्गुरुविधेयकतैव पृच्छन ।
वीरश्चकार हृदयं सहसा सतीव्रव्रीलावतारविधुरं भरतस्य मातुः ॥५५॥

तस्यानुजद्वयकरस्थितशातकुम्भ कुम्भच्युतं शिरसि राक्षसनाथशत्रोः ।
श्वेतातपत्रतलभाजिनि बद्धधारं मातुर्ममर्ज भरतस्य कलङ्कमम्भः ॥५६॥

दृष्ट्वा राज्यग्रहणविभवं तं महान्तं महान्तं
गत्वा रामे विहितविनतिः सत्सभार्ये सभार्ये ।

सिद्धैः क्रीडानुभवविधिभिर्मानितान्तं नितान्तं
शैलं प्रायाद्गिरिरिव निरातङ्कपीनः कपीनः ॥५७॥

पारावारं नयनसलिलातानमस्यन्नमस्यन्
रामं वर्णस्थितिपरिकरत्रासकान्तं सकान्तम् ।

तेन प्रायात्सुररिपुपतिश्शोकसन्नः लसन्नः
खेदं मा गा इति कृतिसमाश्वासमुक्तः समुक्तः ॥५८॥

५५. भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न से घिरे हुए, हाथ जोड़ कर गुरुजनोचित आदर से हाल-चाल पूछते हुए, उस वीर राम ने तुरन्त भरत की माता (कैकेयी) के हृदय में तीव्र लज्जा को मिटा दिया ।

५६. अपने दोनों भाइयों के हाथ में लिये हुए सोने के घड़ों से, श्वेत छत्र के नीचे बैठे हुए, रावण के शत्रु (राम) के सिर पर धार से गिरते हुए, अभिषेक के जल ने, भरत की माता (कैकेयी) के कलङ्क को धो दिया ।

५७. तब राज्याभिषेक के महान् (महान्तं) वैभव को देखकर वानरों के सरदार (कपमीनः) सुग्रीव ने जो आतंक के मिट जाने से मोटे हो गये थे (निरातङ्क-मीनः) सभासदों (सभार्ये) और भार्या सहित (स-भार्ये), बैठे हुए, राम को विनयपूर्वक प्रणाम किया और अपने पर्वत पर, जिसके पार्श्व के भाग (नितान्तं) सिद्धों (देवयोनि विशेष) की क्रीड़ाओं से नितान्त आदृत थे, पर्वत के समान (सुग्रीव) चले गये ।

५८. अश्रुजल से अति विस्तृत हो गये पारावार में स्थित ब्राह्मणादि वर्णों की स्थिति के लिए भयकर्ता के विनाशक, प्रियासहित राम को नमस्कार करता हुआ शोकावसन्न-राक्षसपति उनसे 'खेद मत करो' ऐसा कहा जाने पर गहरी सांस छोड़कर चला गया ।

चक्रे देवीमुपकृतमुनिस्थानयज्ञो नयज्ञो
वृत्तौ सक्तामणि चलगुणाभ्याससत्यां सत्याम् ।

क्रोधं हन्तीमपि बहुमतासृग्वसानां वसानां
ह्रीशौचाख्ये सततमहते वाससीतां ससीताम् ॥५९॥

नित्यं सद्गुणभक्तिरिन्द्रियदम श्रीसंयतः संयतः
शस्त्रद्योतितमूर्ध्नि भुक्तहृदयोऽमी सङ्गतः सङ्गतः ।

विद्वानस्यकवेः पितार्यहृदयं धीमानितो मानितः
लङ्कैश्वर्यभुजा कुमारमणिरित्यासन्नथः सन्नथः ॥६०॥

ये नारि प्रकृति निराकृतवता सम्मानितो मानितः
यस्य स्वाङ्गमभिघ्नतो रिपुभृशं नाशोऽयितः शेयितः ।

श्री मेघोऽस्य कवेरसौगिल बृहद्धामातुलो मातुलः
दृष्टस्त्रासजडं द्विषामधिगतत्रासेनया सेनया ॥६१॥

५९. नीतिज्ञ राम ने, जो तपोभूमि एवं यज्ञों की रक्षा करने वाले थे, सत्यवादिनी अथवा सती सीता को अपनी रानी बनाया, जो उन शुद्धाचरण के गुणों से सम्पन्न थीं जो सतीत्व के गुणों के अभ्यास मे लगे रहते थे, और जिसने रक्त और मज्जा (के पान में) दत्तचित्त राक्षसों के भी क्रोध का नाश कर दिया था और जिसके लज्जा और शुद्धता ही दो वसनु थे।

६०. सर्वदा इंद्रिय-निग्रह की ससंक्ति से संयुक्त, सद्गुणों में निष्ठावान् और निर्भय तथा विद्वान् मानित नामधेय कवि के पिता थे। वे भली नीति का पालन करने वाले थे। वे लङ्का-नरेश कुमार मणि की सेना में आगे बढ़ कर लड़ने वाले थे। सर्वोच्च अधिकारी होकर उन्होंने युद्ध में, जहां शस्त्र चमक रहे थे (संयतः-शस्त्र द्योतित मूर्ध्नि) जूझ कर (संगतः) अपना प्राण दे डाला, परन्तु वह सज्जनों के हृदय मे प्रवेश कर गये। (आर्य-हृदयम्)

६१. वे अद्वितीय और बड़े तेजस्वी, मेघ नाम धेय कवि के मामा (मातुल) थे, जिन्होंने शत्रुओं को परास्त किया और मानित का सम्मान किया, और जिन्होने अपने चारो ओर शत्रुओं का हनन कर (स्वाङ्ग–अभिघ्नतः) उनके पराजय को सर्वत्र प्रकाशमान् किया (रिपु-भृशं–नाशः–अभितः शोभितः), जिन्हें शत्रु की सेना भय से देख कर कर्तव्य-विमूढ़ हो जाती थी (त्रास–जड) और उसके नायक भी भयभीत होते थे (अधिगत–त्रास–इनया)।

श्रीमानेकः शरण्यः परिभवविवदायाजनानां जनानां
रूपेणानुप्रयातो दिवमतिसुभगं रञ्जयन्तं जयन्तम् ।
भ्राता तन्मातुरन्यः शशिधवलयशःकारणानां रणानां
कर्ता पुत्रोऽग्रबोधिर्जनशिरसि लसद्भासुराज्ञः सुराज्ञः ॥६२॥

आदायैनं दशायां स्थितमपितदह स्स्तनाभ्यां स्तनाभ्यां
तुष्टे तस्मिन् गदानामरिहतपित्रिके पारयन्तौ रयन्तौ ।
आत्मापत्याविशेषं युयतु रहतप्रेमदान्तौ मदान्तौ
यत्सानाथ्यात्स काव्यं व्यरचयदसुरद्विण्महार्थं महार्थम् ॥६३॥

इति विंशतितमस्सर्गः ।

६२. उनकी माता के एक दूसरे भाई थे जिनका नाम धेय अग्रबोधि था । वे एक राजा के पुत्र थे जो बहुत ही भले थे (सु–राज्ञः) और अपनी प्रजा पर आपत्ति तथा अपमान के विषय में उनके एक-मात्र रक्षक थे । उनका व्यक्तित्व स्वर्ग को आह्लादित करने वाले जयन्त के समान था । वे ऐसे युद्ध में प्रवृत्त होते थे जो उन्हें चन्द्र के समान शुभ्र यश देता था और जिनकी आज्ञा लोग सिर-माथों पर बड़ी प्रसन्नता से लेते थे (जन–शिरसि–लसत्–भासुर–आज्ञः) ।

६३. जब उस कवि ने जन्म लिया ही था (तदह–सुस्त–नाभ्यां) और जब वह स्तन पायी ही था (स्तनाभ्यां–तुष्टे) और उसके पिता युद्ध में मारे जा चुके थे, तब उसके दो मातुलों ने उसकी व्याधियों की तीव्रता का निराकरण कर (गदानां–रयं–पार यन्तौ) निरन्तर उसके प्रति स्नेह से भर कर और आत्म-निर्भर (अहत–प्रेम–दान्तौ) एवं मद-रहित (मद–अन्तौ) होकर उसका (कविका) ऐसा लालन-पालन किया जैसे वह उनका ही पुत्र हो । और उन्हीं की सहायता से कवि ने इस विशिष्ट (महा–अर्थ) काव्य की रचना की जिसका अर्थ महान् है (महा–अर्थ) और जिसका विषय उस महापुरुष एवं राक्षसों के शत्रु (राम) का गुणानुवाद है ।

बीसवां सर्ग समाप्त ।

१

चरित्र-कोश

अगस्त्य—वसिष्ठ की भाँति ये भी मित्रावरुण के पुत्र थे (ऋ०-७-३३-१३)। उर्वशी को देख कर मित्रावरुण का वीर्य स्खलित होकर कमल में गिर पड़ा। उससे वसिष्ठ तथा अगस्त्य उत्पन्न हुए (वृहद् ५-१३४)। ऋग्वेद में अगस्त्य के बहुत से सूक्त हैं। एक स्थान पर अगस्त्य का नाम 'सुमेधस' आया है (ऋ० १-१८५-१०)। मान्य तथा मान्दाय जैसे पैतृक नाम भी अगस्त्य के लिए प्रयुक्त मिलते हैं। (ऋ० १-१६५-१४-१५)। मरुत् के लिये लाये हुए पशु को इन्द्र भगा ले गया। अतः वे वज्र लेकर इन्द्र को मारने के लिए प्रस्तुत हुए। उस समय अगस्त्य ने ही मरुत् को सान्त्वना दी और दोनों की मित्रता बनी रही। यह अगस्त्य का कयाशुभीय सूक्त है (ऐ० ब्रा० ५-१६)। कयाशुभीय सूक्त में इन्द्र और मरुत् का विवाद है (ऋ० १६५)।

इनकी स्त्री का नाम लोपामुद्रा था (ऋ० १-१७९-४)। इस सूक्त में अगस्त्य और लोपामुद्रा का संवाद है। अगस्त्य के वृद्ध हो जाने पर लोपामुद्रा उन्हें सम्भोग के लिये प्रवृत्त करती है (ऋ० १-१८२-१)। ऋषियों में ये अत्यन्त वृद्ध थे। अतः इन्द्र ने इन्हें गायत्र्युपनिषद् का उपदेश किया और इन्होंने उसे इषा को सुना कर परम्परा आरम्भ की (जै० उ० ब्रा० ४-१५-१-) १६१।

समुद्र में छिपे हुए असुरों ने इन्द्रादि देवताओं को सताना आरम्भ किया। तब देवताओं ने अग्नि तथा वायु से समुद्र को सुखा डालने के लिये कहा। परन्तु ऐसा करने से समुद्र में रहने वाले प्राणियों का नाश होगा, इसलिये उन्होंने समुद्र को सोखने से इन्कार कर दिया। तब इन्द्र के दिये शाप से मित्रावरुण के वीर्य से यह कुंभ से उत्पन्न हुआ। उनमें अगस्त्य अग्नि है। इन्हें मैत्रावरुणि तथा कुम्भयोनि भी कहते है (मत्स्य ६१-२०१; पद्म सृ० २२, म० व० ९८. द्रो० १५७; १८५; शां० ३४५; ब्रह्माण्ड ३-३५)।

अगस्त्य विरक्त थे तथा पितरों के आज्ञानुसार विदर्भ राज की कन्या लोपामुद्रा से इनका विवाह हुआ। राजकन्या होने के कारण अगस्त्य की अपेक्षा उसे ऐश्वर्य की कल्पना विशेष थी। अपने तप के बल से किसी भी इच्छित वस्तु का संपादन करने की शक्ति रखते हुए तप का अपव्यय करने की अगस्त्य की इच्छा नहीं थी। परन्तु लोपामुद्रा की उत्कट इच्छा देखकर, श्रुतर्वन, ब्रध्नश्व तथा त्रसदस्यु से सम्पत्ति प्राप्त करने का इन्होने प्रयत्न किया। परन्तु सफल नहीं हुए। त्रसदस्यु ने अगस्त्य को इल्वल की अपरम्पार सम्पत्ति का वर्णन सुनाया। तब तीनों राजाओं को लेकर ये इल्वल के पास गये और इन्होंने अपने असीम सामर्थ्य से इल्वल की सम्पत्ति लेकर लोपामुद्रा को सन्तुष्ट किया।

समुद्र में रहने वाले कालकेय ने जब लोगों को बहुत सताना आरम्भ किया तब अगस्त्य ने समुद्र को पी डाला। इसके बाद देवताओं ने कालकेय को मार सबों को त्रास से मुक्त किया। परन्तु उसे समुद्र के बाहर छोड़ने को कहा गया था, अतः उसे पेट में पचा लिया -(पद्म० स. १९, म० व० १०५)।

अगस्त्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अग का अर्थ है पर्वत् अर्थात पर्वत का स्तम्भन करने वाला। (वा० रा० अ० ११)। । वे विन्ध्य पर्वत के गुरु थे। अगस्त्य जब दक्षिण दिशा की

ओर गये तब विन्ध्य ने इन्हें नमस्कार किया। तब इन्होंने विन्ध्य से कहा कि जब तक मैं न लौटूं तब तक तुम इसी प्रकार पड़े रहो। उनके आज्ञानुसार उसने वैसा ही किया। अतः कोई बाधा न होने के कारण दक्षिण से उत्तर का आना जाना आरम्भ हो गया। (म० व० १०४; दे० भा० १०-३-७)।

अगस्त्य पहिले काशी में रहते थे। पर दक्षिण-उत्तर का मार्ग निकालने के लिये इन्होंने काशी में रहना छोड़ दिया। तब अगस्त्य के वचनानुसार काशी विश्वेश्वर रामेश्वर आकर रहने लगे (अ० रा० सार० १०)। काशी में रहने की इच्छा होते हुए भी वे ऐसा न कर सके। तब गोदावरी के तट पर लक्ष्मी ने इन्हें यह वर दिया कि ये उन्नीसवें द्वापर युग में व्यास बन कर काशी में रहेंगे (स्कन्द ४-१-५)। दक्षिण में आने पर इन्होंने एक द्वादश-वार्षिकोत्सव किया। उसमें के ब्राह्मणों को पिप्पल तथा अश्वत्थ खा डालते थे। शनि देव ने उन्हें मार डाला। (ब्रह्म० ११८)। नहुष ने वाहन बना कर इनका अपमान किया, इसलिये अगस्त्य की जटा में बैठे हुए भृगु ने उसे दस हजार वर्षों तक साँप बन कर पड़े रहने का शाप दिया। (म० अनु० १-५७; स्कन्द १-१-१५)।

वनवास में राम अगस्त्य के आश्रम में उनके दर्शन के लिये गये थे। अगस्त्य ने राम को सोने और हीरों से अलंकृत, सुन्दर धनुष, अमोघ बाण और बाण न समाप्त होने वाला तरकश तथा सोने के म्यान सहित सोने की मूठ वाला खंग दिया।

> इदं दिव्यं महच्चापं हेम रत्न विभूषितम् ।
> वैष्णवं पुरुष व्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
> अमोघः सूर्य संकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ॥
> दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।
> सम्पूर्णौ निशितैर्बाणै ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥
> महारजत कोशोऽयमसिर्हेम विभूषितः ।
> दत्वा रामाय...(वा रा० अर० १२, ३२-३५)।

अगस्त्य के आश्रम में, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम इत्यादि देवताओं के लिये योजित स्थान (मन्दिर) दिखलाई पड़े।

> सतत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैवच ।
> विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ॥
>
> स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ।
> कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्म स्थानं च पश्यति ।
> —वा० रा० अर० १२, १७-२१।

अगस्त्य का सम्बन्ध हमेशा दक्षिण से ही रह आया है। इन्हें लंकावासी भी कहा गया है (मत्स्य० ६१-५१)। अगस्त्य को दक्षिण का स्वामी तथा विजेता कहा गया है। (ब्रह्म ११८-१५९)। दक्षिण में अगस्त्य का आश्रम मलय पर्वत पर था (मत्स्य ६१-३७)। और :

> तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम् ।
> द्रक्ष्यथादित्य संकाशमगस्त्यमृषि सत्तमम् ॥ —वा० रा० कि० ४१-१६।

पाण्ड्य तथा महानदी के निकट महेन्द्र पर्वत से भी अगस्त्य का सम्बन्ध है (वा० रा०कि० ४१-४७-२४)। इस समय अगस्त्य के मन्दिर जावा आदि टापुओं भी मिलते है। अगस्त्यपुरी भी नासिक के निकट है। वातापि अर्थात् बदामी का स्थान दक्षिण में ही है, ऐसा अभी तक समझा जाता है। परन्तु नन्दलाल दे ने वेरुल के निकट का स्थान बताया है। विन्ध्य की कथा, दक्षिण से सम्बन्ध की ओर संकेत करती है। विदर्भ अथात् बरार दक्षिण की ओर का देश है। और वहाँ के नरेश की कन्या इनकी स्त्री है। इन सब प्रमाणो से यह कहा जा सकता है कि वह दक्षिण के ही रहने वाले थे। वाल्मीकि ने भी उन्हें 'दक्षिणाशाश्रयं मुनिम्' कहा है। (वा० रा० उ० ३५-१)। दक्षिण का मार्ग खोलने ही के लिये तो उन्होंने अभ्रंलिह विन्ध्य को नत किया था। अतः उत्तर की ओर यमुना प्रयाग, गंगा आदि से इनका सम्बन्ध आया है।

अगस्त्य नामक एक तारा भी दक्षिण की ओर भाद्रपद में उगता है और उसके उगने पर जल स्वच्छ हो जाता है। यह अगस्त्य की महत्ता का सूचक है (मत्स्य ६१)।

प्राचीन काल में सुकेतु नाम का एक महाबली यक्ष था। उसके कोई सन्तान नही थी। वह बड़ा तपस्वी था। ब्रह्मा के वरदान से उसके एक असीम सुन्दरी पुत्री हुई। उसके १००० हाथी का बल था। विवाहोपरान्त उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम मारीच था। वह बड़ा बलवान् था। किसी शाप के कारण वह राक्षस हो गया।

अपने पति सुन्द के बाद माता और पुत्र अर्थात् ताटका और मारीच अगस्त ऋषि को सताने लगे। जब एक दिन वे दोनों उन्हें खाने को दौड़े तो अगस्त्य ने मारीच को शाप दिया कि तू राक्षस हो जा और ताटका को शाप दिया कि तेरा रूप भयंकर और विकृत हो जाय।

> ताटका सह पुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति।
> भक्षार्थं जात संरम्भा गर्जन्ती साभ्यधावत॥
> आपतन्ती तु तां दृष्ट्वा अगस्त्ये भगवानृषिः।
> राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः।
> अगस्त्यः परम क्रुद्धस्ताटकामपि शप्तवान्।
> पुरुषादी महायक्षी विरूपा विकृतानना।
> —वा० रा० बा० २५,१०-१२।

अंगद—बालि का, उसकी पत्नी तारा से उत्पन्न एक मात्र पुत्र। उसने राम की सहायता के लिये बृहस्पति के अंश से जन्म लिया था। वह बातचीत करने में बड़ा चतुर था। सुग्रीव और बालि के युद्ध मे जब बालि, राम के बाण से मारा गया तो मरने के समय उसने राम से अगद की रक्षा के लिये विनती की—

> बालश्चाकृत बुद्धिश्च एक पुत्रश्च मे प्रियः।
> तारेयो रामभयता रक्षणीयो महाबलः॥ —वा० रा० कि० २८-५३।

बालि के बध के बाद राम ने सुग्रीव को किष्किन्धा की राजगद्दी और राम की आज्ञा से सुग्रीव ने अंगद को युवराज पद दिया—

> सलिलेन सहस्राक्षं वासवो वासवं यथा।
> अभिषिञ्चन्त सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना॥

प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टास्तत्र सहस्रशः ।
रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो हरिपुंगवः ॥
अंगदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
अंगदे चाभिषिक्तेतु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः ॥
—वा. रा. कि. २६-३६-३८।

सुग्रीव ने सीता को ढूँढने के लिये जिस वानर-सेना को दक्षिण भेजा था उसका नायक अंगद था ।

तेषामग्रेसरं चैव महद्बलमथांगदम् ।
विधाय हरवीराणा मादिशद्दक्षिणां दिशम् ॥
—वा. रा. कि. ४१-६।

ढूंढते-ढूंढते वे कण्डु ऋषि से शापित एक जंगल में पहुँचे । वहां उन्हें एक पर्वताकार निर्भय नामक सुर-राक्षस मिला। वह अंगद पर झपटा। पर अंगद ने उसे रावण समझ कर ऐसा थप्पड़ मारा कि वह रक्त वमन करने लगा और भूमि पर गिर कर मर गया—

तमापतन्तं सहसा बालि पुत्रोऽङ्गदस्तदा ।
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तालेनाभिजघानह ॥
स बालि पुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणित मुद्वमन् ।
असुरो न्यपतद् भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ॥
—वा० रा० कि० ४८, २०-२१।

जब सुग्रीव द्वारा निर्धारित समय के भीतर, अंगद सीता को न ढूंढ सके तो अनशन कर प्राण त्यागने को तैयार हुए—

अहं वः प्रतिजानामि नागमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥
—वा० रा० कि० ५५-१२।

फिर अंगद से जटायु की मृत्यु का सब वृत्तान्त सुनकर उसके बड़े भाई सम्पाति गृध्र ने अंगद को विस्तार से सीता का पता बताया ।

रावण से युद्ध छेड़ने के पूर्व राम ने सभा-चतुर अंगद को अपना दूत बना कर रावण के पास भेजा, पर उसे समझाने में अंगद असफल रहा । फिर युद्ध छिड़ गया । युद्ध में अंगद ने देवान्तक, त्रिशिरा, महोदर, नरकान्तक इत्यादि बहुत से राक्षस वीरों का वध किया ।

अंगद ने मेघनाद से घोर युद्ध किया । जब कुम्भकर्ण युद्ध करने लगा तो उसका भयंकर आकार ही देख कर वानर-सेना घबरा गई और भाग खड़ी हुई । परन्तु जब अंगद ने अपने वीर-रस से भरे वाक्यों से उन्हें उत्तेजित किया तो सम्पूर्ण वानर-सेना लौट आयी और द्विगुणित उत्साह से लड़ने लगी ।

युद्ध जीत लेने के बाद जब राम का राज्याभिषेक हुआ तो उन्होंने अंगद को बहुत से बहुमूल्य आभूषण दिये। सुग्रीव के बाद अंगद ने किष्किन्धा पर राज्य किया।

अज—महाराज रघु के पुत्र और दशरथ के पिता। पद्म-पुराण में इन्हें रघु का पौत्र तथा द्वितीय दिलीप का पुत्र कहा गया है (पद्म० सृ० ९)। बकरियों (अजा) के पालने के कारण ये 'अज' कहलाये।

इन्द्र—ये देवताओं के राजा और वर्षा के देवता हैं। एक बार नाग गरुड़ की पीठ पर बैठ कर जा रहे थे। तब गरुण इतने ऊँचे उड़े कि सब सूर्य-ताप से मूछित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। तब उनकी माता कद्रु ने इन्द्र की स्तुति करके ताप के शमन के लिये वर्षा करायी (म० आ० २५-२६)। इन्द्र ने मन्दर पर्वत के पंख तोड़ डाले थे। (स्कंद १-१९-९)।

वृत्रासुर ने इन्द्र का पराभव किया। इस पर इन्द्र ने सभ्रमती के तट पर दुर्धर्षेश्वर की प्रार्थना की। तब भगवान् शंकर ने उन्हें पाशुपत अस्त्र दिया। इन्द्र को वृत्रासुर के वध के लिये वज्र की जरूरत थी। दधीचि ऋषि की अस्थियों से विश्वकर्मा ने वज्र बनाया। शंकर ने इन्द्र को वज्र दिया। उससे उन्होंने वृत्रासुर का वध किया (पद्म उ० १६८)। मेघनाद ने इन्द्र को पराजित किया था।

पुराणों में इन्द्र को प्रथम स्थान न देकर त्रिमूर्तियों के नीचे दिया गया है। उनके अनुसार यह अंतरिक्ष और पूर्व दिशा का राजा है। वह विद्युत छोड़ता और फेंकता है। इन्द्र धनुप को सुसज्जित करता है। सोमरस पीने में उसे आसक्ति है। यह असुरों से लड़ता और उनसे सदा भयभीत रहता है।

यह सुस्वरूप है। सफेद घोड़ा या हाथी पर वज्र लेकर बैठता है।

इसका निवास स्थान स्वर्ग है, जिसकी राजधानी अमरावती है। इसके महल का नाम वैजयन्त है। इसका उद्यान नन्दन बन, गज ऐरावत, अश्व उच्चैश्रवा, रथ विमान, सारथी मातलि, धनुष शंकु धनू और तलवार परंज है।

इसको सदा डर लगा रहता है कि कहीं घोर तप एवं यज्ञ करके कोई उसका इन्द्र पद न छीन ले। अतः वह विविध प्रकार से उनका तप भंग करता है। वह कभी शस्त्रों के द्वारा और कभी अपनी अप्सराओं के द्वारा साधकों का तप भ्रष्ट करता था।

काव्यशास्त्र कहता है—

> उर्वशी सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य। प्रत्यादेशः रूपगर्वितायाः
> श्रियः अलंकारः स्वर्गस्य।'

इन्द्रजित्—लंका के राजा रावण तथा मन्दोदरी का ज्येष्ठ पुत्र। इसका नाम मेघनाद था। चूंकि यह जन्म लेते ही मेघ के समान नाद करने लगा अतः इसका नाम 'मेघनाद' पड़ा।

> जात मात्रेण हि पुरा तेन रावण सूनुना
> रुदता सुमहान्मुक्तो नादो जलधरोपमः।
> पिता तस्या करोन्नाम मेघनाद इतिस्वयम्। —वा० रा० उ० १२, ३०-३१।

मेघनाद युद्ध में इन्द्र को जीत कर लंका में पकड़ ले गया। तब देवता लोगों ने इन्द्र की रक्षा के लिये ब्रह्मा जी से बिनती की। तब ब्रह्मा जी देवताओं के साथ लंका में गये और रावण से बोले—

अयं च पुत्रोऽतिबलस्तव रावण वीर्यवान् ।
जगतीन्द्रजिदित्येव परिख्यातो भविष्यति ॥

अंत में ब्रह्मा जी ने मेघनाद का नाम इन्द्रजित रखा । परन्तु फिर भी उसने इन्द्र को नहीं छोड़ा और कहा कि यदि आप हमें अमरत्व प्रदान करें तो हम इन्द्र को छोड़ें । ब्रह्मा के यह कहने पर कि संसार में कोई भी अमर नहीं हो सकता "इन्द्रजित ने कहा कि, तो फिर जब मैं शत्रु को जीतने के लिये निकलूँ और उस समय अग्निदेव का पूजन कर हवनीय द्रव्य की आहुति दूँ तब उस अग्नि में से मेरे लिये घोड़ों सहित रथ निकले। उस रथ पर जब तक मैं सवार रहूँ तब तक अमर रहूँ। इतने से कम वरदान में मैं इन्द्र को न छोड़ूँगा।" तब ब्रह्मा जी ने 'एवमस्तु' कह दिया। तब इन्द्रजित ने इन्द्र को छोड़ दिया (वा० रा० उ० ३०,१२–१६) ।

रावण जब सीता को लंका में ले आया तब उनकी खोज के लिये हनुमान सुग्रीव की आज्ञा से लंका गये। उन्होंने अशोक वाटिका का विध्वंस कर रावण के पुत्र अक्ष को मार डाला। उस समय इंद्रजित वहां गया और हनुमान को ब्रह्मास्त्र से बांध कर रावण की सभा में लाया। वहाँ यह निश्चित हुआ कि हनुमान् की पूँछ जला दी जाय क्योंकि बन्दरों को अपनी पूँछ ही सब से अधिक प्रिय होती है—

कपीनां किल लाङ्गूलमिष्टं भवति भूषणम् ।
तदस्यदीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥
—वा० रा० उ० ५३–३ ।

लंका-युद्ध में अनेक बार इन्द्रजित युद्ध करने के लिये भेजा गया। एक बार उसने युद्ध में राम की सेना को बहुत सताया और एक मायावी सीता बना कर, और उसे दीन मुख से राम-राम जपते हुए रथ में बैठी दिखा कर उसका वध किया। इसके कारण रामादिक बहुत दुखी हुए। —वा० रा० यु० ८१, ३०–३६ ।

जब विभीषण ने राम को बताया कि इन्द्रजित ने माया-मयी सीता बना कर उसका वध किया है तब राम शान्त हुए। इन्द्रजित ने युद्ध में अनेक बार युद्ध किया, परन्तु अन्त में लक्ष्मण के हाथों मारा गया। (वा० रा० यु० ९१)। राक्षस सेना इन्द्रजित का कटा हुआ सिर सुवेल पर्वत पर राम को दिखलाने के लिये ले गई। तदन्तर इन्द्रजित की पत्नी सुलोचना अपने पति के साथ सती हो गई।

ईश्वरा—दुर्गा का एक नाम।

उर्मिला—लक्ष्मण की पत्नी और विदेहराज जनक की पुत्री, जिसका उसी समय लक्ष्मण से विवाह करने के लिये जनक वचन-बद्ध हो गये थे जब शिव-धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने के कारण रामने सीता को पाया था।

उर्वशी—एक असीम सुन्दरी अप्सरा। मित्र और वरुण के शाप से उसने पृथ्वी पर जन्म लिया। पुरुरवा पर वह आसक्त हो गई। उससे एक पुत्र हुआ जिसका नाम नारद ने आयु रखा। शाप की अवधि समाप्त होने पर वह फिर स्वर्ग चली गयी।

उशनस—यह असुरों का कुल गुरु एवं अध्वर्यु था। दिव्या से उत्पन्न भृगु का पुत्र शुक्र और उशनस एक ही थे (ब्रह्माण्ड ३–१–७४)। इनकी स्त्री शतपर्वा थी (म० उ० ११७–१३–कुं०) पितृ गुणा आंगी नामक उसकी एक और पत्नी थी। उशनस ने कुबेर का धन लूट लिया। अतः गिर

ने उसे निगल लिया; तब यह शिव के शिश्न से निकला। तब से इसका नाम शुक्र हुआ (म० शां० २९५, विष्णु धर्म १–१०–६)।

शुक्र की अनुपस्थिति में देवताओं ने असुरों को सताना आरम्भ कर दिया। तब शुक्र की माता लड़ने के लिए आगे बढ़ी और उसने देवताओं को जलाना आरम्भ किया। इन्द्र तो भाग गया, पर विष्णु ने उसकी माता को मार कर देवताओं की रक्षा की।

परन्तु स्त्री पर शस्त्र प्रहार करने के कारण भृगु ने विष्णु को पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये शाप दिया और शुक्र की माता का मस्तक फिर धड़ से जोड़ कर उसे जीवित कर दिया। तब इन्द्र बहुत घबराया और अपनी जयन्ती नामक कन्या शुक्र को अर्पित कर दी। इधर शुक्र ने भी हजार वर्ष तप कर शिव से प्रजेशत्व, और अबध्यत्व प्राप्त किये (मत्स्य ४७; विष्णु धर्म १–१०६)।

उशनस धर्म शास्त्र नामक सात अध्यायों की एक छोटी सी पुस्तिका उपलब्ध है। इसी प्रकार औशनस नामक दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ, जीवानन्द संग्रह में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार राजनीति पर भी इनका शुक्रनीति नामक ग्रंथ भी उपलब्ध है।

ऋचीक—भार्गव कुल के च्यवन वंश में उत्पन्न एक प्रख्यात ऋषि (मनु० ४) और्वा के पुत्र (म० अ० ६६) यह और्वा की जांघ फाड़ कर निकले थे (ब्रह्माण्ड ३–१–७४–१००)। इन्हें काव्य-पुत्र भी कहा गया है (ब्रह्म १०)। बाल्यावस्था ही से इन्होंने अपना समय वेदानुष्ठान और तपस्या में लगाया।

एक समय तीर्थ-यात्रा करते समय इन्होंने विश्वामित्री के तीर पर कान्यकुब्ज-राज गाधि की कन्या को स्नानार्थ आते देखा। उसके रूप पर मोहित होकर इन्होंने कान्यकुब्जराज गाधि से उसे मांगने का निश्चय किया। जब इन्होंने मांगा तो गाधि ने कहा यदि तुम एक हजार श्याम वर्ण अश्व लाकर मुझे शुल्क के रूप में दोगे तो मैं अपनी यह कन्या दूंगा (म० अनु, ३१, विष्णु ४.७, भा० ९–१५)। राजा की उस मांग को सुनकर तत्काल वह गंगा तट पर गये और अरुण की स्तुति करके अश्व प्राप्त कर लिये (म० व० ११५; अनु० ४)। अश्व लेकर गाधि ने अपनी कन्या सत्यवती इन्हें दे दी।

थोड़े समय गृहस्थाश्रम का पालन कर ऋचीक जब तपस्या के लिये निकले तो सत्यवती से वर मांगने के लिये कहा। उसने अपने और अपनी माता के लिये उत्तम लक्षणों से युक्त पुत्र मांगे। तब ऋचीक ने ब्राह्मणोत्पत्ति के लिये एक, और क्षत्रियोत्पत्ति के लिये एक इस प्रकार दो चावल मंत्र से सिद्ध कर दिये। (म० शां० ४९; अनु ५६; वायु २–४)।

चावल तो दिये ही पर सत्यवती को यह भी आदेश दिया कि ऋतु-स्नान के बाद तुम्हारी माता पीपल को और तुम औदुम्बर वृक्ष को आलिंगन करना (म० व० ११५; अनु० ४; विष्णु धर्म १–३२–३३)। इसके अतिरिक्त ऋचीक ने दो घट भी अभिमन्त्रित कर दिये और कहा कि सत्यवती की माता वट वृक्ष की और सत्यवती पीपल की सहस्र प्रदक्षिणा करें (स्कन्द ६–१६६–६७)

फिर जब गाधि तीर्थ-यात्रा करते हुए आश्रम में आये तो सत्यवती को पति के दिये हुये चावल का स्मरण हुआ। परन्तु माता के कहने पर दोनों ने अदल बदल कर चावलों को खाया। कुछ ही काल के बाद ऋचीक को इस गड़बड़ी का पता चल गया। परन्तु सत्यवती के इच्छानुसार यह कहा कि क्षत्रिय स्वभाव का पुत्र न होकर पौत्र होगा। तत्पश्चात् सत्यवती जमदग्नि प्रभृति सौ पुत्र हुए। वे सब ब्राह्मण स्वभाव के थे। परन्तु जमदग्नि को रेणुका से उत्पन्न हुआ परशुराम बड़े उग्र स्वभाव का पैदा हुआ। इधर गाधि को सत्यवती से विश्वामित्र उत्पन्न हुआ और अपनी घोर तपस्या से उसने ब्राह्मणत्व का सम्पादन किया। (म० अ० ६१; व ११५; शां: ४९)।

ऋष्यशृंग—विभाण्डक काश्यप का पुत्र । एक वार विभाण्डक गंगा-स्नान के लिये गये थे। वहां उन्हें उर्वशी दिखलाई पड़ी । उसे देखतेही विभाण्डक को काम-विकार उत्पन्न हुआ और उनका वीर्य स्खलित होकर जल में गिर पड़ा । उसी समय शाप से हरिणी बनी हुई एक देवकन्या वहां पानी पीने को आई। पानी पीते समय वह वीर्य उसके पेट में चला गया। उसी से ऋष्यशृंग उत्पन्न हुए (म० व० ११०)। सारा आकार मनुष्य की भाँति मगर सिर पर ऋष्य नामक मृग की तरह सींग था। अतः इनका नाम 'ऋष्यशृंग' पड़ा (म० व० ११०)।

इनके जन्म लेते ही इनकी माता शापमुक्त होकर स्वर्ग चली गयी। उस समय इस अनाथ ऋष्यशृंग का पालन-पोषण विभाण्डक ने किया और उसे वेद-वेदांग में पारंगत किया। मृग योनि का होने के कारण वह बड़ा भीरु था। वह कभी आश्रम के बाहर नहीं जाता था। (वा० रा० बा० ९) अतः अपने पिता के सिवा उसने किसी को नहीं देखा था।

उसी समय अंग देश में अवर्षण के कारण काल पड़ा। तब उनके ध्यान में आया कि यदि ऋष्यशृंग राज्य में आ जायं तो वृष्टि होगी। परन्तु यह बड़ी कठिन समस्या थी। एक बूढ़ी वेश्या ने इस कार्य को अपने ऊपर लिया। वह कुछ तरुणी वेश्याओं को साथ लेकर विभाण्डक की अनुपस्थित में उनके आश्रम के निकट एक नाव पर रहने लगी। वे तरुणी वेश्यायें घूमने निकलतीं, आश्रम में जाती, वहीं ऋष्य शृंग से भेंट हो जाती। भोले-भाले ऋष्यशृंग ने उन सबों को मुनि कुमार समझा। धीरे-धीरे ऋष्यशृंग को फंसा कर वे अंग देश में ले गईं। उनके जाते ही वहां वृष्टि हुई। राजा रोमपाद ने इन्हे अपनी शान्ता नामक कन्या दी।

भवभूति उत्तर राम चरित मे कहते हैं:

> कन्यां दशरथो राजा शान्ता नाम व्यजीजनत् ।
> अपत्यकृतिकां राज्ञे लोमपादाय यां ददौ ।
> विभाण्डक सुतस्तां ऋष्यशृंग उपेयमे ।

अतः ऋष्यशृंग राम के बहनोई हुये। राम सीता से कहते हैं "निर्विघ्नः, सोमपीती आवुत्तो मे भगवान ऋष्यशृंगः"। आवुत्तो भगिनी पतिः। भवभूति।।

विभाण्डक अपने पौष्य पुत्र को ढूंढता-ढूंढता यहां आया। परन्तु अतिथि-सत्कार से वह प्रसन्न हो गया। शान्ता से एक पुत्र होने पर ऋष्यशृंग शान्ता सहित अपने आश्रम में चला गया (म० व० ११०-११३; वा० रा० बा० ९-१०)। दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ कराने के लिये, रोमपाद की मध्यस्थता से दशरथ ने ऋष्यशृंग को अपने यज्ञ में अध्वर्यु बनाया। इससे दशरथ के राम लक्ष्मणादि पुत्र हुए (वा० रा० बा० ११)। भट्टिकाव्य में कहा है—

> कौशल्यया साविसुखेन रामः प्राक्केकयीतो भरतस्ततोभूत् ।
> प्रसोष्ट शत्रुघ्नमुदार चेष्टमेका सुमित्रा सहलक्ष्मणेन ॥—भट्टि १-१४।

ककुत्स्थ—शशाद विकुक्षी का पुत्र। एक समय त्रेता युग में देवताओं और दानवों में घोर युद्ध हुआ, जिसमें देवता परास्त हो गये। तब वे विष्णु के पास सहायतार्थ गये। विष्णु ने उनसे अयोध्यानरेश पुरञ्जय से सहायता लेने के लिये कहा। तब देवता लोग उनके पास गये और उन्होंने सहायता की याचना की।

पुरञ्जय ने कहा कि यदि इंद्र हमें अपने कन्धों पर समर में ले चले तो हम आप लोगों

की ओर से लड़ सकते हैं। इस पर इन्द्र राजी हो गये और वृषभ का रूप रख कर उनके वाहन बने और उन्होंने दैत्यों का नाश कर दिया। तब से पुरञ्जय का नाम 'ककुत्स्थ' पड़ गया। अर्थात् बैल के ककुद पर बैठने वाला और उसके वंश के दशरथ, राम इत्यादि काकुत्स्थ कहलाये।

कालनेमि—रावण का मामा, एक राक्षस। युद्ध में लक्ष्मण के मूर्छित होने पर, हनुमान, द्रोणाचल से ओषध लाने जा रहे हैं—यह सुन कर रावण ने हनुमान का मार्ग-रोध करने के लिये कालनेमि को भेजा था। उस समय वह एक ऋषि का वेश धर कर मार्ग में बैठा था। परन्तु हनुमान को उसका कपट तुरन्त मालूम हो गया। इसलिये उन्होंने अविलम्ब उसे मार डाला और आगे बढ़ गए (अध्या० रा० यु० ७)।

कार्तवीर्य—चन्द्रवंशीय कृतवीर्य राजा का पुत्र सहस्रार्जुन। एक समय रावण नर्मदा के तट पर शिवार्चन कर रहा था। उससे थोड़ी दूर पर माहिष्मती का राजा सहस्रार्जुन अपनी बहुत सी रानियों के साथ जल-विहार कर रहा था। उसने अपनी सहस्र भुजाओं से नर्मदा की धार को रोक दिया। प्रवाह के रुकने से ऊपर जल उमड़ पड़ा और रावण की पूजा की सामग्री तितर-बितर हो गई। तब इसका कारण जानने के लिये शुक और सारण को भेजा। लौट कर उन्होंने बताया कि सहस्रार्जुन ने ऐसा किया है। तब रावण उससे युद्ध करने के लिये चल पड़ा। दोनों में घोर युद्ध हुआ। तब रावण को घायल कर सहस्रार्जुन ने उसे बांध लिया और बांध कर रावण को अपनी राजधानी ले गया (वा० रा० उ० ३२)। पुलस्त्य ने जब सुना तब वह माहिष्मती गये और उनके कहने से सहस्रार्जुन ने रावण को छोड़ दिया और रावण ने उससे मैत्री कर ली—

एवं स रावणः प्राप्तः कार्तवीर्यात् प्रधर्षणम्।
पुलस्त्य वचनाच्चापि पुनर्मुक्तो महाबलः॥
(वा० रा० उ० ३३-२१, २३)।

कार्तवीर्य ने जमदग्नि ऋषि के आश्रम से बछड़े सहित कामधेनु को चुरा लिया था। जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने उन्हें मार डाला और धेनु को ले आये।

खर-दूषण—ये दोनों महाबली राक्षस रावण के सौतेले भाई थे। इनके पिता का नाम विश्रवा और माता का नाम राका था। शूर्पणखा इनकी बहिन थी। पञ्चवटी में यह लक्ष्मण के ऊपर कामासक्त हो गई। उनसे तिरस्कृत होने पर मारने दौड़ी। तब लक्ष्मण ने उसकी नाक काट ली। शूर्पणखा ने अपने भाई रावण से गोहार लगाई। रावण ने खर और दूषण को बदला लेने के लिये भेजा। ये दोनों घोर युद्ध में मारे गये।

कीनाश—यम को कीनाश भी कहते हैं। वेदों से यम को मृत्यु का देवता कहा गया है, जिसके पास मृत प्राणियों की प्रेतात्मा रहती है। ये विवस्वत (सूर्य) के पुत्र थे। इनके दो जुड़ौरा बहिनें यमी और यमुना थीं। वेद के एक दूसरे सूक्त में कहा गया है कि "यम पहिले मनुष्य थे जिनका मरण हुआ और वे सर्व प्रथम स्वर्ग को गये।" महाकाव्यों में यम को संज्ञा से उत्पन्न सूर्य का पुत्र और विवस्वत मनु का भाई कहा गया है। पौराणिक कथाओं में इन्हें युधिष्ठिर का पिता कहा है।

ये प्रेतात्माओं के देवता हैं और मृत प्राणियों के सम्बन्ध में न्याय करते हैं। जब आत्मा पार्थिव शरीर को छोड़ती है तो वह पाताल में उनके निवास स्थान पर जाती है। तब वहाँ एक बड़ी पञ्जिका से जिसे 'अग्रसंधानी' कहते चित्रगुप्त जो उसके लेखक हैं, उस मृत पुरुष का कच्चा चिट्ठा पढ़ते हैं। तब यम उसे प्रेतात्मा को यथार्थ दण्ड देते हैं और उसके अनुसार वह प्रेतात्मा या

तो पितृ योनि में जाती है या अपने कर्मानुसार एक्कीस नरकों में से किसी एक नरक में जाती है अथवा पृथ्वी पर किसी दूसरी योनि में पैदा होती है।

यम दक्षिण दिशा के स्वामी हैं। अतः उन्हें दक्षिणाशापति कहते हैं। उनका शरीर हरे रंग का और वस्त्र लाल है। उनका वाहन भैंसा है। उनका शस्त्र भारी गदा है और मृतात्मा को बाँधने के हेतु वह हाथ में पाश लिये रहते हैं।

कुम्भ—यह भयंकर बलवान् राक्षस कुम्भकर्ण का बटा था और निकुम्भ का भाई था। जब राक्षसों के बड़े-बड़े सेनापति मारे गये तो रावण ने कुंभ को युद्ध करने के लिये भेजा। कुंभ ने बड़ा भयंकर युद्ध किया (वा० रा० यु० ७६)। सुग्रीव ने इसे युद्ध में मार डाला। तब, उसके भाई निकुम्भ ने घोर युद्ध किया।

> निकुम्भो भ्रातरं दृष्ट्वा सुग्रीवेण निपातितम्।
> प्रदहन्निव कोपेन वानरेन्द्रमवैक्षत ॥—वा० रा० यु० ७७.१।

कुम्भकर्ण—वैवस्वत मन्वन्तर में पुलस्त्य सुत्र। विश्रवा ऋषि और उनकी भार्या कैकसी से उत्पन्न चार पुत्रों में द्वितीय। यह रावण का छोटा भाई था। भागवत मतानुसार इसकी माता का नाम केशिनी था। इसने जन्म लेते ही हजारों लोगों को खा डाला। तब जन समूह अपनी फ़र्याद लेकर इन्द्र के पास गया। इन्द्र ने क्रोध से कुम्भकर्ण पर वज्र फेंका। उस पर कुछ असर नहीं हुआ वरन् वह और गर्जन करने लगा। इसने ऐरावत का एक दाँत उखाड़ कर इन्द्र पर फेंका तो इन्द्र रुधिर से भर गया। जब ब्रह्मा को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने शाप दिया कि यह सदैव निद्रित रहेगा। परन्तु रावण की विनती पर उस शाप को घटा दिया और कहा कि यह छः महीने पर एक बार जागेगा (वा० रा० यु० ६१)। कुबेर की लंका को रावण के वापस ले लेने पर, यह रावण के साथ लंका में गया। वहाँ विरोचन पुत्र (बलि) की नातिन वज्र ज्वाला से इसका विवाह हुआ (वा० रा० उ० १२)। रावण ने अपने निद्रालु भाई के सोने की उत्तम व्यवस्था कर दी। उसने विश्वकर्मा से आठ कोस लम्बा और चार कोस चौड़ा एक सुन्दर घर तैयार करवाया। उसी मेंयह बराबर सोता रहता था (वा० रा० उ० १३)। जब यह जागता था तब रावण की सभा में आता था। युद्ध आरम्भ होने से पहिले रावण उसके पास गया और कहा :

> अह्नाय प्रतिबुध्यतां, किमभवत्, रामाङ्गनाहृताहृता
> भुक्ता सा न कथं, न भजते रामादृते जानकी।
> रामः किमभवानभूत्, शृणु सखे, तालीदल श्यामलं
> रामाङ्ग वधतो ममापिकलुषो भावो न सञ्जायते ॥

यह प्रश्नोत्तरी श्लोक है : रावण कहता है "जल्दी उठो," कुम्भकर्ण पूछता है "क्या हुआ!" उत्तर—"राम की पत्नी को हम उड़ा लाये हैं", प्रश्नः—"तुमने उससे सम्भोग नहीं किया।" उत्तर—"वह राम के सिवा किसी की बात ही नहीं करती।" प्रश्न "तुमने राम का मायावी स्वरूप क्यों नहीं रच लिया?" उत्तर "अरे भाई, मैंने ताली-दल श्यामल राम को रूप बनाया, परन्तु जैसे ही मैंने राम का रूप धारण किया वैसे ही मेरे ऐसे व्यक्ति के भी हृदय में कोई कलुषित भाव न उत्पन्न हो सका।"

युद्ध आरम्भ होने के पहिले कुम्भकर्ण ने रावण को सीता को लौटा देने के लिये बहुत समझाया, परन्तु रावण ने एक न माना।

अन्त में लाचार होकर उसने युद्ध में लड़ना स्वीकार किया। और फिर उसने घोर युद्ध किया। राम की सेना के पैर उखड़ गये, इसने उतना भयंकर संहार किया। अन्त में राम के बाण से वह मारा गया :

स कुम्भकर्णं सुरसंघ मर्दनं,
महत्सु युद्धेषु पराजितश्रमम्।
ननन्द हत्वा भरताग्रजो रणं,
महासुरं वृत्रमिवा मराधिपः ॥ —वा० रा० यु० ६७. १९१।

कुमुद—राम की सेना में एक वानर का नाम।

कुबेर—ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य, पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा और उनके वैश्रवण। अगस्त्य राम से कहते हैं :

पुरा कृतयुगे राम प्रजापति सुतः प्रभुः।
पुलस्त्यो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षादिव पितामहः॥ —वा० रा० उ० २–४।

ब्रह्मर्षि पुलस्त्य जी तपः स्वाध्याय में संलग्न हो गये। पर उनके आश्रम में जाकर कन्यायें विघ्न डालने लगी (वा० रा० उ० २–८)। तब उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि जो लड़की मेरी आँखों के सामने पड़ जायगी वह गर्भवती हो जायगी (वा० रा० उ० २–१३)। सब कन्याओं ने शाप के भय से आश्रम में जाना बन्द कर दिया, परन्तु राजर्षि तृणविन्दु की कन्या ने इस शाप को नहीं सुना। वह आश्रम में गयी। पुलस्त्य ने उसे देखा और वह गर्भवती हो गई (वा० रा० उ० २–१७)।

तृणविन्दु अपनी पुत्री की इस अवस्था को देख कर बहुत घबराये। तृणविन्दु की विनती पर पुलस्त्य ने उस कन्या को पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया और उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर बोले 'हे देवि, आज मैं तुझे अपने तुल्य पुत्र देता हूं और वह पौलस्त्य के नाम से प्रसिद्ध होगा और उसका नाम विश्रवा होगा" (वा० रा० उ० २. ३०–७१)।

थोड़े समय बाद विश्रवा तप करने लगा। महामुनि भरद्वाज ने उन्हें अपनी देव-वर्णिनी नाम की कन्या ब्याह दी (वा० रा० ३–३)। उन दोनों से धनाध्यक्ष कुबेर उत्पन्न हुए और पुलस्त्य ने उनका नाम वैश्रवण रखा।

ब्रह्मा जी ने वैश्रवण की तपस्या से प्रसन्न होकर वरदान दिया कि तुम इन्द्रादिक के समान चौथे लोकपाल होगे और उन्हें सवारी के लिये पुष्पक विमान दिया। उनके पिता विश्रवा ने उन्हें रहने के लिये लंकापुरी दी। (वा० रा० उ० ४–३३)। परन्तु रावण ने उनको वहां से निकाल दिया। तब अपने पिता की आज्ञा से कुबेर ने कैलास पर अति सुन्दर अलकापुरी बसाई और वहाँ सपरिवार रहने लगा।

धनेश्वरस्तस्य पितुर्वाक्य गौरवात्,
न्यवेशयच्छशि विमले गिरौ पुरीम्।
स्वलंकृतैर्भवनवरैर्विभूषिता,
पुरन्दरः स्वरिव यथामरावतीम् ॥—वा० रा० उ० ११–५०।

कौशिक—देखिये—विश्वामित्र और वसिष्ठ।

गंगा—भारत की सर्वाधिक प्रसिद्ध और पवित्र नदी, जिसका उद्गम हिमालय में गंगोत्री से हुआ। जब भगवान् ने बलि को छल कर अपने तीन पैरों से पृथिवी नापने के लिये त्रिविक्रम का रूप धारण किया था, उस समय ब्रह्मा जी ने उनके नख धोकर उस जल को अपने कमण्डलु में रख लिया था। वही ब्रह्म-तोय, सगर वंशज भगीरथ के तप से महादेव जी की जटाजूट में गिरा और वही जल की धारा गंगा कहलाई जिसने भगीरथ के पीछे-पीछे चल कर कपिल के कोप से जले हुए सगर के साठ हजार पुत्रों का उद्धार किया। यह नदी भारत के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में बहती हुई बंगाल की खाड़ी में समुद्र से मिलती है।

एक समय देव सभा में गंगा स्त्री के रूप में गई। पवन के वेग से गंगा के शरीर से वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गया। सब देवताओं ने तो अपने सिर झुका लिये, परन्तु एक राजर्षि गंगा को देखते रहे। तब ब्रह्मा ने उन्होंने उस राजर्षि को शाप दिया कि तुम पृथ्वी पर जाकर जन्म लो और गंगा को भी पृथ्वी पर जाना पड़ेगा। गंगा जब शापवश ब्रह्मलोक से जा रही थी तो मार्ग में अष्टवसु मिले। उन्हें भी वसिष्ठ ने अभिवादन न करने के कारण शाप दिया था कि तुम पृथ्वी पर जन्म लो। उन वसुओं ने गंगा से प्रार्थना की कि हम तुम्हारे पुत्र होकर शान्तनु राजा के यहाँ जन्म लें। यही हुआ। गंगा ने अपने पुत्रों को जल में डुबो दिया। उनको शाप से मुक्ति हो गई। परन्तु अन्तिम पुत्र को राजा शान्तनु के कहने से नहीं डुबोया। वे ही देवव्रत, भीष्म और गांगेय के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गंगा भारत की बड़ी पवित्र नदी है। लोग गंगा को माता कहते हैं और उनका विश्वास है कि गंगा का नाम मात्र लेने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं और उसे विष्णु लोक प्राप्त होता है—

> गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
> मुच्यते सर्व पापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

गरुत्मान—महर्षि कश्यप और उनकी पत्नी विनता से उत्पन्न पुत्र। महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थी। एक का नाम विनता था। वह दक्ष की पुत्री थी। और दूसरी का कद्रु। विनता से गरुण आदि पक्षियों की उत्पत्ति हुई और कद्रु से सर्पों की। एक दिन विनता और कद्रु के बीच विवाद छिड़ गया कि उच्चैःश्रवा अश्व की पूँछ का रंग सफेद है या काला। विनता का कहना था कि सफ़ेद है और कद्रु कहती थी कि काला। अन्त में यह बाजी लगी कि जिसकी बात गलत निकले वह दूसरे की दासी हो कर रहे।

वास्तव में उच्चैःश्रवा की पूँछ सफेद थी। जब कद्रु को यह पता चला तो उसने अपने काले सर्पपुत्र से कहा कि तुम लोग उच्चैःश्रवा की पूँछ में लिपट जाओ। इस प्रकार छल से उसने विनता को काली पूँछ दिखला दी। विनता को हार मानना पड़ा और वह उसकी दासी बन गई।

अन्त में उसके पुत्र गरुड़ ने अपनी माता को दासत्व से छुड़ाया। गरुण भगवान् के वाहन थे। उन्होंने भगवान् को प्रसन्न कर यह वर प्राप्त कर लिया कि सर्पों का भक्षण करने से उनका विष न चढ़े। वर प्राप्त होने पर गरुण सर्पों को खाने लगे। तब कद्रु घबराई और विनता से क्षमा माँग कर उसे दासत्व से मुक्त कर दिया। अरुण, जो सूर्य के आगे रथ पर बैठते हैं, गरुड़ के भाई हैं।

एक बार गरुड़ अमृत लेकर विष्णु के साथ जा रहे थे। विष्णु ने कहा 'वर माँगो'।

गरुण ने कहा 'मैं आकाशगामी होकर आपके ऊपर के भाग में रहूँ और अमृत के बिना ही अजर-अमर रहूँ।" जब विष्णु ने 'तथास्तु कह दिया तो गरुड़ ने विष्णु से कहा कि आप वरदान माँगिये। तब विष्णु ने कहा 'आप मेरे वाहन बनिये और मेरी ध्वज में रहिये। इस प्रकार आप मेरे ऊपर रहेंगे।'

एक बार गरुड़ इन्द्र के यहाँ से अमृत चुरा लाये। उस पर दोनों में युद्ध हुआ। इंद्र को अमृत तो मिल गया पर इन्द्र बुरी तरह पिटे और उनका वज्र टूट फूट गया।

गणाधिप—गणेश। शिव और पार्वती के पुत्र। ये बुद्धि एवं कल्याण के देवता हैं। विघ्नों के नाश करने वाले हैं। अतः कोई भी मंगल कार्य यज्ञ आदि में सर्व प्रथम गणेश की पूजा होती है। इनकी प्रतिमा प्रायः बैठे हुए बनती है। परन्तु नृत्य करते हुए भी बहुत सी प्रतिमायें मिलती हैं।

इनका सम्पूर्ण शरीर मनुष्य का है, परन्तु सिर, कान, नाक, इत्यादि हाथी का है। इनके सिर के सम्बन्ध में बहुत सी कथायें हैं। गणेश और परशुराम के बीच युद्ध हुआ, उसमें परशुराम ने इनका एक दाँत काट डाला। तब से इन्हें 'एक दन्त' भी कहते हैं।

एकरद द्वैमातुर्निस्त्रिगुण चतुर्भुजोऽपि पञ्चकर।
जय षण्मुखनुत सप्तच्छदगन्धि मदाष्ट तनुतनय॥

ये शिव गणों के नायक हैं। अतः इन्हें 'गणाधिप' कहते हैं। जब व्यास जी महाभारत की रचना करने लगे तो उन्हें एक लेखक की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने गणेश से कहा। गणेश ने इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि व्यास जी बोलने में न रुकें। व्यास जी चतुर थे। उन्होंने भी एक शर्त लगायी कि गणेश जी श्लोक का अर्थ बिना समझे न लिखें।

बात पक्की हो गयी। गणेश जी ने लिखना आरम्भ कर दिया। गणेश जी एक तो तेज लिखने वाले दूसरे धुरन्धर विद्वान् थे। व्यास जी ने जब देखा कि एक कठिन लेखक से पाला पड़ा तो बीच-बीच में ऐसे कूट श्लोक कहते थे कि गणेश को उन्हें समझने में कुछ समय लग जाता था।

ग्रन्थि ग्रन्थि तदा चक्रे मुनिगूढं कुतूहलात्।
—महाभारत

इस प्रकार दोनों की बात रह गयी और महाभारत का निर्माण सम्भव हो सका।

गौतम—ये, गौतम ऋषि के पुत्र थे। इनका नाम शरद्वत भी था। इनकी पत्नी का नाम अहल्या था। वह असीम सुन्दरी थी। एक दिन जब गौतम आश्रम में नहीं थे तब इन्द्र ने गौतम का रूप बना कर आश्रम में प्रवेश किया। यद्यपि अहल्या पहिचान गयी कि ये इन्द्र हैं और गौतम का रूप धरे हैं, पर वह राजी हो गयी (वा० रा० बा० ४८–२०)। जैसे ही इन्द्र आश्रम से निकला गौतम से उसकी भेंट हो गयी। गौतम सब समझ गये और इन्द्र को शाप दिया :

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते।
अकर्तव्यमिदं तस्माद्विफलस्त्वं भविष्यसि॥

और अहिल्या को उन्होंने शाप दिया कि तू हजारों वर्ष तक इस स्थान पर मिट्टी में लोटती रहेगी, तुझे कोई न देख सकेगा, और तेरा भोजन केवल पवन होगा। जब रामचन्द्र मिथिला

जाते समय इस आश्रम में आये तब अहल्या शाप मुक्त हुई और उसने अपना पूर्व सुन्दर रूप पा लिया। तब देवताओं के विनती करने पर पितरों ने इन्द्र को पुंसत्व प्रदान किया।

गौरी—शिव की पत्नी पार्वती का एक नाम।

चंडी—दुर्गा का एक नाम, विशेष कर जब उन्होंने महिषासुर को मारा था।

जटायु—एक प्रसिद्ध पक्षी जो सूर्य के सारथी अरुण के औरस तथा श्येनी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनके बड़े भाई का नाम संपाती था। जब रावण ने जानकीहरण किया तो सीता की चिल्लाहट सुन कर वह जागा। पहिले उसने रावण को बहुत समझाया, पर जब वह नहीं माना तो उससे घोर युद्ध कर वह मारा गया। राम ने उसे अपने पिता का मित्र समझ कर उसका दाह संस्कार किया। (वा० रा० अर० ५१)।

तारक—एक भयंकर राक्षस, वज्रांग और वरांगी का पुत्र। उसने तप कर ब्रह्मा से यह वर प्राप्त कर लिया कि वह सिवाय उस बच्चे के जो सात दिन का हो, और किसी से न मारा जा सके। जब वह बहुत अत्याचार करने लगा तो शिव-पार्वती से कार्तिकेय का जन्म हुआ और जब वे सात ही दिन के थे तभी उन्होंने तारक को मार डाला।

तिलोत्तमा—सृष्टि की समस्त सुन्दर वस्तुओं से तिल-तिल अंश लेकर विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई एक अनुपम सुन्दरी अप्सरा। इसी से इसका नाम तिलोत्तमा हुआ। हिरण्यकशिपु के वंश में सुन्द और उपसुन्द नामक दो दैत्य थे। ये दोनों भाई-भाई थे। ब्रह्मा को प्रसन्न कर इन दोनों ने यह वर प्राप्त कर लिया कि जब तक दोनों भाइयों में मैत्री रहे वे न मरें। तदनन्तर उन्होंने देवताओं पर घोर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। तब उन्होंने विश्वकर्मा द्वारा तिलोत्तमा को बनवाया और कहा कि तुम जाकर दोनों भाइयों में झगड़ा करा दो। तिलोत्तमा गई और दोनों से प्रेम का अभिनय करने लगी। परिणाम यह हुआ कि दोनों आपस में कट मरे।

तुम्बुरु—एक गंधर्व जो बहुत सुन्दर वल्लकी बजाता था। उसे रावण ने अन्य देवताओं के साथ लंका में कैद कर रखा था। देखिये :

> ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः तूष्णीं बहिःस्थीयतां
> स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभावज्रिणः।
> वीणां संहर नारद स्तुति कथा लापैरलं तुम्बुरो
> सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः॥

दनु—कश्यप की एक पत्नी और दानवों की माता।

दुन्दुभी—मय दैत्य का एक अति बलवान भैंसे के आकार का पुत्र। उसका एक भाई और था। उसका नाम था मायावी। दुन्दुभी ने एक बार समुद्र की थाह ली तो समुद्र उसकी कमर तक ही आया। दुन्दुभी ने समुद्र को युद्ध के लिये ललकारा। तब समुद्र ने कहा कि मैं तुमसे युद्ध करने में असमर्थ हूँ। तुम हिमालय के पास जाओ वह तुमसे युद्ध कर सकेगा।

> समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्ध विशारद।
> ....
> शैलराजो महारण्ये तपस्वि शरणं परम्।
> ॥ समर्थस्त व प्रीतिमतुलां कर्तुमाहवे॥
>
> —वा० रा० कि० ११-११-१२।

समुद्र ने इस तरह अपनी बला टाली। तब दुन्दुभी ने हिमालय के पास जाकर युद्ध के लिये ललकारा। हिमालय सागर से भी अधिक चतुर थे। उन्होंने कहा कि मैं तो तपस्वियों को शरण देता हूँ। तुमसे बाली लड़ सकता है।

बालो नाम महा प्राज्ञः शक्रतुल्य पराक्रमः।
...............................॥
द्वन्द्व युद्धं महद्दातुं नमुचेरिव वासवः।

तब किष्किन्धा में जाकर दुन्दुभी ने बाली को ललकारा। दोनों में घोर युद्ध हुआ, जिसमें बालि ने उसे मार डाला और उठा कर उसको एक योजन फेंक दिया। उस भैंसे के मुख से बहता हुआ रुधिर मतंग ऋषि के आश्रम में गिरा। इस पर ऋषि ने क्रोध में भर कर शाप दिया कि जिसने इस आश्रम को दूषित किया है यदि वह इस आश्रम में आवेगा तो मर जायेगा।

'इहतेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत् —वा० रा० कि० ११,५३।

बालि इस आश्रम में न आ सकेगा, यह समझ कर, मातंग की आज्ञा से सुग्रीव, किष्किन्धा से भाग कर वहाँ रहने लगा। वहीं राम ने उससे भेंट की।

द्रुहिण—ब्रह्मा। त्रिमूर्ति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश में सर्व प्रथम। ब्रह्म के तीन सगुण रूपों में से सृष्टि की रचना करने वाला रूप ब्रह्मा है। इन्हें सृष्टिकर्ता, विधाता और पितामह भी कहते हैं। क्षीर सागर में जब भगवान् योगनिद्रा में शयन करने लगे तो उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।

ब्रह्मा चतुर्मुख हैं। एक कथा है कि एक बार ब्रह्मा के शरीर से एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई तो वे उस पर मोहित होकर ताकने लगे। वह कन्या उनके चारों ओर घूमने लगी। जिधर वह जाती उधर देखने के लिये ब्रह्मा के एक सिर उत्पन्न हो जाता। अतः वे चतुर्मुख हो गये। इनके दस मानस पुत्र हुए—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद। सृष्टि उत्पन्न करने के कारण ये दस प्रजापति भी कहलाते हैं।

देवि सरस्वती और सावित्री ब्रह्मा की पत्नी हैं। ब्रह्मा की अनेक पत्नियों में गायत्री भी हैं। एकबार एक यज्ञ के समय ब्रह्मा ने सरस्वती को बुलवा भेजा। किन्तु किसी काम में व्यस्त होने के कारण वे न आसकीं। यज्ञ के अनुष्ठान के समय पत्नी का होना अनिवार्य था। अतः उन्होंने पृथ्वी की एक गोप कन्या, गायत्री से विवाह कर यज्ञ पूरा कर लिया। तब से गायत्री वेद माता और पूज्य कही जाने लगी और उनके नाम से गायत्री मंत्र प्रसिद्ध हो गया।

सरस्वती ने जब यह सुना तो क्रोधित होकर उन्होने ब्रह्मा को शाप दिया कि पृथ्वी पर तुम्हारी कोई पूजा न करेगा। ब्रह्मा और सरस्वती का वाहन हंस है।

धिषण—बृहस्पति। अंगिरा के पुत्र और देवताओं के गुरु। धर्मशास्त्र के प्रणेता और नवग्रहों में पञ्चम।

एक बार चन्द्रमा ने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करली। उसे इतना गर्व हो गया कि वह अपने गुरु, बृहस्पति की पत्नी तारा से अनिष्ट व्यवहार कर बैठा जिससे चन्द्रमा को बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बुध को अपना पुत्र समझ कर जब बृहस्पति उसका नाम करण करने लगे तो चन्द्रमा ने कहा कि यह पुत्र तो मेरा है। इस पर गुरु और शिष्य में विवाद होने लगा। चन्द्रमा

देवता से असुर हो गया तो दैत्य सब चन्द्रमा के पक्ष में हो गये। देवता लोग बृहस्पति के पक्ष में थे। दोनों में घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में ब्रह्मा जी ने बीच-बचाव किया। आपस में सन्धि हो गई और चन्द्रमा को अपना पुत्र, बुध मिल गया।

धनद्-धनेश—देखिये कुबेर

नलकूबर—कुबेर का पुत्र और मणिग्रीव का भाई। एक बार ये दोनों भाई कैलास पर्वत पर मदिरा पीकर स्त्रियों के साथ विहार कर रहे थे। तब नारद के शाप से ये वृन्दावन में यमलार्जुन हुए। और वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्हें शाप से मुक्त किया।

एक समय रावण कैलास पर्वत पर घूम रहा था। वहाँ उसने असीम सुन्दरी अप्सरा रम्भा को देखा। वह नलकूबर के पास जा रही थी। रावण ने कामासक्त होकर उसे पकड़ा। रम्भा ने कहा कि मुझे छोड़ दो क्योंकि मैं तो तुम्हारी पुत्रवधू हूँ। रावण कुबेर का भाई था। नलकूबर कुबेर का पुत्र था। रम्भा नलकूबर की स्त्री थी। इस प्रकार रम्भा रावण की पुत्रवधू हुई। पर रावण ने एक न माना और उसके साथ अशिष्ट व्यवहार किया। रम्भा रोती हुई नलकूबर के पास गई। जब नलकूबर को यह वृत्तान्त रम्भा से मालूम हुआ तो उसने रावण को शाप दिया कि अब तुम किसी स्त्री के साथ बलात्कार करने की चेष्टा करोगे तो तुम्हारे सिर सात टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़ेंगे।

नाग—कश्यप की कद्रु नामक पत्नी से उत्पन्न सर्प-सन्तान। इनका मुख मनुष्य सा, और नीचे का भाग सर्प का सा होता है। ये नाग भूमि के नीचे रामणीयक द्वीप की भोगवती नगरी में रहते हैं। इनकी नागकन्यायें अतीव सुन्दरी होती हैं। कवियों के अनुसार से हिमवंत के निकुञ्जों में घूमा करती हैं।

निकुम्भ—कुम्भ और निकुम्भ कुम्भकर्ण के पुत्र थे। देखिये 'कुम्भ'।

नैकसी—इसे कैकसी भी कहते हैं। सुमाली राक्षस और उसकी पत्नी केतुमती से उत्पन्न पुत्री। नैकसी विश्रवा की पत्नी थी। जब नैकसी बड़ी हुई तो सुमाली को उसके विवाह की चिन्ता हुई। विश्रवा उस समय घोर तप कर रहे थे। सुमाली ने नैकसी को उनके पास भेजा। उसके प्रार्थना करने पर विश्रवा ने उससे ब्याह कर लिया। विश्रवा से उसके तीन पुत्र, दशग्रीव, कुम्भकर्ण और विभीषण और एक पुत्री शूर्पणखा, हुए।

पुलस्त्य—ब्रह्मा के मानस पुत्र और सप्तर्षियों में से एक ऋषि जिनकी गिनती प्रजापतियों में भी होती है। इन्होंने ब्रह्मा से आदि पुराण सुनकर उसका प्रचार पृथ्वी पर किया था। विश्रवा के पिता तथा रावण और कुबेर के पितामह थे। तृणविन्दु की कन्या इनकी पत्नी थी। विशेष परिचय के लिये 'कुबेर' के अन्तर्गत देखिये।

बलि—प्रह्लाद के पौत्र, विरोचन के पुत्र और पाताल के राजा जिन्हें बाँधने के लिए स्वयं विष्णु भगवान् ने वामन का रूप धारण किया था। बलि ने अश्वमेध यज्ञ करके जब बहुत दान देना प्रारम्भ किया तब विष्णु भगवान् वामन रूप धर कर वहाँ आये और तीन पग पृथ्वी माँगी। शुक्राचार्य तुरन्त पहिचान गये और बलि को दान देने से रोका। परन्तु बलि ने कहा—"मैं वचन दे चुका हूँ, मैं अवश्य दूँगा।" तब शुक्राचार्य ने उसे शाप दिया कि, "मेरे वचनों की अपेक्षा करने के कारण तू श्री-भ्रष्ट होजा।"

विष्णु ने एक पैर से समस्त पृथ्वी, शरीर से आकाश और दोनों भुजाओं से दिशाओं को और दूसरे पैर से स्वर्ग को नाप लिया। तीसरे पैर के लिये कोई स्थान नहीं मिला। तब बलि ने कहा कि "तीसरा चरण मेरे सिर पर रखिये।" विष्णु बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"मैं तुम्हें वह स्थान दूँगा

जो देवताओं को भी अप्राप्य है। तुम विश्वकर्मा के बनाये हुए सुतल में रहो। मैं कौमुदी की गदा से तुम्हारी रक्षा करूँगा।" और तभी से विष्णु भगवान बलि के यहाँ द्वारपाल बन कर रहते हैं।

बालि—मेरु पर्वत पर योगाभ्यास करते समय ब्रह्मा जी की आँख से सहसा आँसू की बूंद टपकने से ऋक्षराज नाम का बानर उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्मा ने सुमेरु पर्वत पर फल-फूल खाने और अपने पास रहने को कहा। एक दिन वह बानर प्यास के मारे सुमेरु के सरोवर में अपनी छाया देखकर सोचने लगा—यह मेरा शत्रु है। वह झट पानी में कूद पड़ा और निकलने पर एक सुन्दरी स्त्री बन गया। इन्द्र और सूर्य उस पर मोहित हो गये। इन्द्र ने उसके मस्तक पर और सूर्य ने उसकी ग्रीवा पर अपना वीर्य छोड़ा। इसी इन्द्र के वीर्य से बालि का जन्म हुआ और सूर्य के वीर्य से सुग्रीव का।

कुछ दिनों में वह ऋक्षराज फिर बानर हो गया और अपने दोनों पुत्रों को लेकर ब्रह्मा के पास पहुँचा। ब्रह्मा ने उन दोनों पुत्रों को किष्किन्धा में राज्य करने की आज्ञा दी। विश्वामित्र ने एक सुन्दर नगरी बसा रखी थी। अपनी पत्नी तारा के साथ बालि और अपनी पत्नी रोमा के साथ सुग्रीव वहाँ रहने लगे।

एक दिन वहाँ दुन्दुभी नाम का एक महा बलवान् दैत्य बाली से लड़ने के लिये आया। उससे युद्ध करते हुए और उस दैत्य का पीछा करते बालि पर्वत की गुफा में घुस गया। जब बहुत दिन बीत जाने पर भी बालि नहीं लौटा और उस गुफ़ा से रक्त की धारा निकली तब सुग्रीव ने समझा कि बालि मारा गया। वह गुफ़ा के द्वार पर पत्थर रख कर किष्किन्धा लौट आया और तारा से विवाह कर किष्किन्धा का राजा हो गया।

जब बालि लौटा तो उसने राज्य छीन कर अपनी पत्नी तारा को और सुग्रीव की पत्नी रोमा को भी छीन लिया। डर के मारे सुग्रीव ने मतंग ऋषि के आश्रम में शरण ली। उसी बीच एक बार रावण उसे हराने के लिये उसके पास पहुँचा। तब रावण को काँख में दबाकर बालि सन्ध्या करता रहा। इसी समय अवसर पाकर रावण भाग निकला।

सीता को ढूंढ़ते हुए जब राम वहाँ पहुँचे तब उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की और बालि का वध कर किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे दिया। बालि का पुत्र अंगद भी बड़ा पराक्रमी था। उसने राम-रावण युद्ध में राम की बड़ी सहायता की।

भार्गव—भृगु-कुल में उत्पन्न। भृगु मुनि के ऋचीक, उनके जमदग्नि और जनार्दन, जमदग्नि के परशुराम पुत्र थे। अतः परशुराम को भार्गव और जामदग्न्य भी कहते हैं। इनकी माता का नाम रेणुका था। परशुराम पाँच भाई थे। रुमण्वान्, सुखेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम। परशुराम सब से छोटे थे। चैत्र शुक्ला तृतीया, पुनर्वसु नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने गन्धमादन पर्वत पर तपस्या करके महादेव जी से अस्त्र-विद्या और गणेशजी से परशु-विद्या सीखी। इसीलिये परशुराम कहलाते हैं। एक बार इनकी माता, रेणुका ने नदी में चित्ररथ को अपनी पत्नी के साथ विहार करते देखा और वहाँ से कामोद्विग्न होकर घर आई। जमदग्नि को इस पर क्रोध हुआ और उन्होंने अपने पुत्रों को बारी-बारी से आज्ञा दी कि माता का बध कर डालो। अन्य चारों भाइयों ने तो पिता का कहना नहीं माना, पर परशुराम ने पिता की आज्ञा से माता का सिर काट डाला। इस पर प्रसन्न होकर जमदग्नि ने वर माँगने के लिये कहा। परशुराम ने कहा "मेरी माता को जिला दीजिये, उन्हें परमायु दीजिये, मेरे भाइयों को चेतन कर दीजिये और ऐसा कीजिये कि युद्ध में मेरा सामना कोई न कर सके।"

जमदग्नि ने 'तथास्तु' कह दिया। एक बार हैहय राजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन जमदग्नि के

आश्रम में आया और बछड़े सहित कामधेनु को लेकर चल दिया। जब परशुराम को पता चला तो उन्होंने परशु से उसकी सहस्रों भुजायें काट डालीं। इसके बदले में कार्तवीर्य के कुटुम्बियों ने जमदग्नि को मार डाला। इस पर क्रुद्ध होकर परशुराम ने क्षत्रियों का नाश करने का प्रण किया और सब क्षत्रियों को मार डाला। जब इस क्रूरता की ब्राह्मणों में निन्दा होने लगी तब वे तपस्या के लिये वन में चले गये। वहाँ इनके पौत्र परवसु ने यह कह कर इन्हें उत्तेजित किया कि ययाति के यज्ञ में अभी बहुत से राजा आये थे। इस पर उन्होंने फिर क्षत्रियों का नाश प्रारम्भ किया। और यह सब कर चुकने पर सारी पृथ्वी कश्यप को दान कर दी। कश्यप ने बचे हुए क्षत्रियों की रक्षा के लिये परशुराम से कहा, "यह पृथ्वी हमारी हो चुकी। अब तुम जाकर दक्षिण में रहो। तब वे समुद्र के तट पर शूर पारक नामक स्थान में रहने लगे।"

परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके समन्त पञ्चक (५ ताल) रुधिर से भर दिये और उन्हीं तालों से तर्पण करके अपने पितामह महर्षि ऋचीक का दर्शन पाया था, जिसमें ऋचीक ने परशुराम को क्षत्रिय-वध करने से रोक दिया।

परशुराम विष्णु के छठें अवतार माने जाते हैं। कार्तिकेय से ईर्ष्या करने के कारण एक बार इन्होंने क्रौञ्च पर्वत को अपने बाणों से आर-पार बेध दिया था। जनक के धनुष यज्ञ के बाद इन्हें रामचन्द्र से नीचा देखना पड़ा। तब से अब तक ये महेन्द्र पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। ये चिरजीवी हैं :

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

भृगु—१. भगवान् रुद्र ने वारुणि मूर्ति धारण कर एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। इस यज्ञ को देखने के लिये तप, यज्ञ, दीक्षा, व्रत, दिग्पति देव कन्या, देव पत्नी आई थी। ब्रह्मा उस समय आहुति कर रहे थे। देव कन्या को देखकर उनका वीर्य-स्खलन हो गया। सूर्य ने उस वीर्य को अग्नि में फेंक दिया। ब्रह्मा का वीर्य अग्नि में आहुति होते ही उसकी शिखा से भृगु, सधूम अंगारे से अंगिरा, निर्धूम अंगार से कवि की उत्पत्ति हुई।

महादेव जी ने कहा—"यज्ञ का अधिष्ठाता मैं हूँ, ये तीनों पुत्र मेरे हैं।"

यह सुन कर अग्नि ने कहा—"ये मेरे अंग से उत्पन्न हुए हैं, अतः मेरे पुत्र हैं।"

ब्रह्मा ने कहा—"मेरे वीर्य से इनकी उत्पत्ति हुई है, अतः ये मेरे पुत्र हैं।"

तब सब देवों ने मिल कर इस झगड़े का निबटारा किया। भृगु महादेव को, अंगिरा अग्नि को और कवि ब्रह्मा को दे दिये गए (भारत० अ० पर्व)।

२. भृगु ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। ये दस प्रजापतियों में से एक हैं। दक्ष की कन्या ख्याति के साथ इनका विवाह हुआ। इनके गर्भ से लक्ष्मी कन्या तथा धाता और विधाता नाम के दो पुत्र हुए। महात्मा मेरुकी आयति और नियति नाम की दो कन्याओं के साथ इन दोनों पुत्रों का विवाह हुआ। धीरे-धीरे इनका वंश विस्तृत होकर भार्गव नाम से प्रसिद्ध हुआ। भृगु धनुर्विद्या के प्रवर्तक भी थे।

३. किसी-किसी मन्वन्तर में भृगु की गणना सप्तर्षियों में होती है। महर्षि च्यवन इन्हीं के पुत्र थे। एक समय सरस्वती नदी के किनारे बहुत से ऋषि गण बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे। उनमें विवाद छिड़ गया कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश में कौन बड़ा है। भिन्न-भिन्न सम्मतियों के होने पर ब्रह्मा के पुत्र भृगु को तीनों देवों की परीक्षा लेने के लिये भेजा गया।

सर्व प्रथम वे ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सभा में चुपके से जाकर बैठ गये। अपने पुत्र की इस अशिष्टता से ब्रह्मा को मन में बड़ा क्रोध आया। पर अपना पुत्र समझ कर तत्क्षण उन्हें क्षमा कर दिया। ब्रह्मा को रजोगुण से परिपूर्ण देख भृगु कैलास पर्वत पर शिव जी के पास गये। अपने छोटे भाई को देख शिव जी बड़े प्रेम से खड़े हो गये और आलिंगन करने के लिये आगे बढ़े तो भृगु बैठ गये। यह देख शिव जी क्रोधित हो त्रिशूल उठाकर मारने दौड़े, पर पार्वती ने बचा लिया। महादेव जी को उन्होंने तमोगुणी पाया। फिर वे बैकुण्ठ में विष्णु को परीक्षा लेने चले गये। वहाँ देखा कि विष्णु का द्वार सब के लिये खुला है। वे अन्दर गये तो देखा कि विष्णु सो रहे हैं और लक्ष्मी उनके पैर दाब रही हैं। भृगु ने उन्हे छाती में लात मार कर जगा दिया। भृगु जी को देख विष्णु भगवान् नत हो कर उनका चरण दाबने लगे और बोले—"क्षमा कीजियेगा। मेरा वक्ष स्थल बड़ा कठोर है। आपका चरण दुखने लगा होगा।" भृगु जी ने देखा कि विष्णु में सत्वगुण की मात्रा बहुत अधिक है।

लौट कर ऋषियों को उन्होंने सब वृत्तान्त सुनाया। ब्रह्मा को रजोगुणी होने के कारण उन्होंने शाप दिया कि—"तुम्हारी पूजा कोई न करे।" शिव को तमोगुणी होने के कारण शाप दिया कि—"तुम्हारी लिंग पूजा हो।" और विष्णु जी को सर्वश्रेष्ठ देव घोषित कर उन्हीं को पूज्य बतलाया (पद्म पुराण)। विष्णु भगवान् के वक्षस्थल पर भृगु के चरण प्रहार का अमिट चिन्ह बन गया जो 'श्रीवत्स', 'भृगु रेखा' और 'भगुलता' के नाम से प्रसिद्ध है। भृगु की पुत्री लक्ष्मी ने जनपति का अपमान देखा तो भृगु से रुष्ट हो कर शाप दिया कि—"मैं ब्राह्मणों के घर जाने में अब मैं संकोच अनुभव किया करूँगी।" परशुराम भृगु वंश ही मे उत्पन्न हुए थे। भृगु मुनि के आशीर्वाद से ही परशुराम के पिता जमदग्नि की उत्पत्ति हुई थी।

महाभारत के अनुसार वे दक्ष प्रजापति के उस यज्ञ में अध्वर्यु थे जिसमें शिव ने उनकी दाढ़ी नोच ली थी।

भृगु ने अगस्त्य ऋषि का, अमानुषीय शक्ति वाले राजा नहुष के अत्याचार से परित्राण किया था—जब उस अत्याचारी नहुष ने अगस्त्य को अपने रथ में जोत कर, आगे बढ़ने के लिये उनके सिर पर लात मारी तो भृगु ने नहुष की अकल्याणकारी दृष्टि को बचाने के लिये अगस्त्य के बालों में छिप कर नहुष को शाप दिया कि—"तू सर्प हो जा।" नहुष के विनती करने पर भृगु ने उस शाप की अवधि कम कर दी (महाभारत)।

मदन—दक्ष की मानस पुत्री सन्ध्या से कामदेव का जन्म हुआ। दक्ष से उत्पन्न रति नाम की कन्या इसकी पत्नी हुई। शास्त्रकारों ने कामदेव के पचास भेद बताये हैं। स्मर दीपिका में कहा गया है —प्रतिपदा को पैर के अंगूठे में, द्वितीया को एड़ी के ऊपर टखने में, तृतीया को जाँघ में, चतुर्थी को भग में, पञ्चमी को नाभि में, षष्ठी को स्तनों में, सप्तमी को हृदय में, अष्टमी को कक्ष (बगल) में, नवमी को कण्ठ में, दशमी को होंठ में, एका-दशी को गालों में, द्वादशी को नेत्रों मे, त्रयोदशी को भ्रू पर, चतुर्दशी को ललाट पर और पूर्णिमा को मस्तक पर कामदेव रहता है। दामोदरगुप्त कुट्टनीमतम् के मंगलाचरण में साहित्यिक ढंग से कहते हैं कि अनुरक्त ललना को तिरछी चितवन मे वह (सभी तिथियों पर) सर्वदा रहता है:

सत्जयति संकल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकितं वसतिः॥

कामदेव शंख, पद्म, धनुष और बाणधारी है। इनके तरकस में पाँच ही बाण हैं। वे पाँच बाण में हैं:

अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नव मल्लिका ।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः ॥

भोजराज के सम्मुख एक स्त्री कामदेव के सम्बन्ध में समस्या पूर्ति इस प्रकार करती है —

धनुः पौष्पं, मौर्वी मधुकरमयी, पञ्चविशिखः,
वसन्तः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः ।
तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

उनके झंडे पर मकर है । रति, प्रीति, शक्ति और उज्ज्वला उनकी चार पत्नियाँ हैं । तारकासुर के उत्पात करने पर जब देवताओं ने कामदेव को महादेव जी के पास उन्हें कामपीड़ित कर उनकी तपस्या भंग करने के लिये भेजा तब महादेव ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर उसे भस्मसात् कर दिया और कामदेव अनंग हो गया । पार्वती के साथ विवाह होने पर प्रसन्न होकर महादेव जी ने उसे फिर सशरीर कर दिया ।

इस जन्म से कृष्ण और रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न नाम से कामदेव का जन्म हुआ । महाभारत ने कामदेव को धर्म का पुत्र माना है ।

मधु-कैटभ—१. प्रलय काल में जब समस्त सृष्टि जलमग्न थी तब नारायण जल में शेष-शय्या पर शयन कर रहे थे । भगवान् को लेटे-लेटे अपने महान् गुणों का स्मरण हो आया । इससे अहंकार प्रकट हुआ । यह अहंकार ही चतुर्मुख ब्रह्मा थे, जो सत्व-गुण रूप हों, नारायण की नाभि से उत्पन्न कमल पर विराजमान हुए । सहस्रदल कमल पर बैठने से उन्हें समस्त संहार जलमय दिखाई दिया । तब ब्रह्मा जी ने सृष्टि करने का विचार किया । एकाएक पास ही लगे कमल के पत्ते पर उन्हें दो जल बिन्दु दिखलाई पड़े। वे रजोगुण और तमोगुण के प्रतीक थे ।

भगवान् ने उन बूंदों की ओर देखा तो एक बूंद तमोमय रूपी मधु नामक दैत्य और दूसरी बूंद रजोगुण रूपी कैटभ नामक दैत्य में परिवर्तन हो गयी । उन दोनों दैत्यों ने विशाल रूप धारण कर ब्रह्मा जी से चारों वेद सहसा हर लिया और वे रसातल में चले गये ।

वेदों के अपहरण से दुखी ब्रह्मा जी भगवान् की स्तुति करने लगे । इस स्तुति से नारायण को अपनी योग निद्रा त्यागनी पड़ी और उन्होंने तुरन्त 'हयग्रीव' का रूप धारण किया । इस अवतार में नारायण का मस्तक घोड़े के समान था ।

रसातल में जाकर भगवान् ऊँचे स्वर से सामवेद का गान करने लगे। दोनों दैत्यों ने रसातल में जाकर सब वेदों को बाँध कर एक कोने में फेंक दिया था । भगवान् हयग्रीव ने उन वेदों को उठा लिया और लाकर ब्रह्मा जी को फिर सौंप दिया ।

मधु-कैटभ वेदों को रसातल में न पाकर बहुत क्रुद्ध हुए । रसातल के बाहर आये तो देखा कि भगवान् सो रहे हैं । उन्होंने घोर मचा कर भगवान् को जगा दिया और युद्ध करने के लिये ललकारा । थोड़ी ही देर में भगवान् ने उन दोनों दैत्यों को मारकर ब्रह्माजी की चिन्ता दूर कर दी । उन्हें सृष्टि रचने की आज्ञा देकर नारायण अपने धाम को चले गये।

२. महाभारत के अनुसार ये दोनों दैत्य विष्णु के कान से उत्पन्न हुए थे, जब वे युगान्त में सो रहे थे। कमल पर लेटे हुए ब्रह्मा को जब इन दोनों दैत्यों ने मार डालना चाहा तो विष्णु ने इन दोनों का वध कर दिया और इसी से इनका नाम 'कैटभजित' और 'मधुसूदन' पड़ा।

३. मार्कण्डेय पुराण के अनुसार कैटभ की मृत्यु उमा द्वारा हुई, अतः उमा को 'कैटभा' की उपाधि मिली।

४. हरिवंश के अनुसार जब इन दैत्यों का शरीर समुद्र में फेंका गया तो इतनी चरबी (मेदस) निकली कि उससे इन्होंने पृथ्वी का निर्माण किया और उसी पुराण में एक स्थान पर यह कहा गया उन दैत्यों के शरीर से इतनी चरबी निकली कि पृथ्वी भर गई। इसीसे पृथ्वी को मेदिनी भी कहते हैं।

मनु—१—ब्रह्मा के पुत्र और मानव जाति के आदि पुरुष जो प्रजापति और धर्मशास्त्र-वक्ता होते हैं। प्रत्येक कल्प में १४ मनु होते हैं, स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत सार्वणि, दक्ष-सार्वणि, ब्रह्म-सार्वणि, धर्म सार्वणि, रुद्र सार्वणि, देव सार्वणि और इन्द्र सार्वणि। इस समय वैवस्वत मनु का युग चल रहा है। इनके पुत्र इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्टशर्याति, नरिष्यन्त, दिष्ट, करुष, पृषध्र और वसुमान हैं।

२—सूर्य (विवस्वत) के एक पुत्र का नाम वैवस्वत मनु था। उन्होंने बदरिकाश्रम में जाकर उग्र तपस्या की। एक दिन नदी के तट पर जब यह स्नान कर रहे थे तो उनके पास एक छोटी सी मछली ने आकर प्रार्थना की—"आप मेरी रक्षा कीजिये, नहीं तो बड़ी मछलियां मुझे खा जायेंगी।' मनु को दया आ गई। उन्होंने उसे घड़े में डाल दिया। वहां वह मछली थोड़े ही समय में बढ़ गई। वह क्रमशः बढ़ती गई और मनु उसे क्रमशः सरोवर में, और गंगा जी में डालते गये। जब वह बहुत बढ़ गई तो उसका आकार महामत्स्य तिमि के समान बड़ा हो गया।

महामत्स्य ने मनु से कहा—"तुमने मेरी रक्षा की। मैं तुम्हारी बहुत कृतज्ञ हूँ। आज के सातवें दिन प्रलय होने पर समस्त विश्व जलमग्न हो जायगा। अतएव तुम एक सुदृढ़ नौका बनवाओ और उसे एक मजबूत रस्सी से बांध दो। उस नाव पर सप्तर्षियों को और अपने सामान लेकर बैठ जाना। मैं तुम्हारी नाव को खींच कर प्रलय से बचा दूंगी।"

सातवें दिन सब तैयारी कर मनु नाव पर बैठे ही थे कि उन्होंने महामत्स्य को देखा। प्रलय आ पहुंचा और भूमि का कहीं नाम-निशान भी न था। महामत्स्य ने नाव को खींच कर 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' पर बांध दिया। वहां मनु और सप्तर्षि उतर पड़े। महामत्स्य उन्हें समस्त चराचरों की सृष्टि करने की आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गये।

मन्थरा—महाराज दशरथ की रानी कैकेयी की एक कुरूप और कुबड़ी परन्तु बड़ी छल-छंद वाली दासी और सलाहकार। इसी ने कैकेयी को ऊंचा-नीचा दिखा कर उसका मन बदल दिया और राम के लिये १४ वर्ष का वनवास और कैकेयी के पुत्र भरत के लिये राज्याभिषेक का वर प्राप्त कर लिया।

एक कथा के अनुसार यह गांधर्वी दुन्दुभी की अवतार थी; और दूसरे के अनुसार यह विरोचन की पुत्री थी।

मन्दोदरी—यह दैत्यों के विनिर्माता मय दानव की पुत्री थी। मय ने हेमा नाम की एक अप्सरा से विवाह किया। मन्दोदरी जब छोटी ही थी तो हेमा उसे मय के पास ही छोड़ स्वर्ग चली गई। जब वह पुत्री बड़ी हुई तो मय ने उसका विवाह रावण के साथ कर दिया।

मन्दोदरी रावण की सब से प्रिय पटरानी थी। वह बड़ी साधु प्रकृति की थी, और रावण को सदैव बुरे कर्मों को करने से रोकती रहती थी। जानकीहरण सुन कर उसने रावण को अनेक प्रकार से सीता को लौटा देने के लिये समझाया था। पर रावण को तो रामचन्द्र के हाथों मरना था। वह नहीं माना।

रावण की मृत्यु के उपरान्त वह रोती-बिलखती रणक्षेत्र में गई और दुखी होने पर भी रामचन्द्र का अनुग्रह माना कि रावण जैसे महापापी को भी उन्होंने परमगति प्रदान की। मन्दोदरी सुमाली राक्षस की लड़की थी (वा० रा० यु० ११५–८१)।

मातरिश्वा—वायु देवता। अग्नि देवता का भी यह नाम है।

मातलि—इन्द्र का सारथी।

मारीच—सुन्द राक्षस और ताड़का का पुत्र और रावण का मामा। जब लक्ष्मण ने सूर्पणखा की नाक और कान काट डाले और खर-दूषण को मार डाला तो रावण मारीच के पास गया। समुद्र के उस पार जाकर रावण ने एकान्त, पवित्र और रमणीक वन प्रदेश मे कृष्ण-मृग-चर्म को ओढ़े हुए और जटाजूट सर पर रखाये, नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा। (वा० रा० अर० ३५, ३७–३८)।

रावण ने मारीच से जानकीहरण में सहायता करने के लिये कहा। उसने कहा कि, "सुवर्ण मृग बन कर तुम राम के आश्रम के निकट फिरो। सीता तुम्हें पकड़ने के लिये राम को प्रेरित करेगी। उनके और लक्ष्मण के आश्रम से चले जाने पर मैं सीता को हर ले जाऊँगा।"

पहिले तो मारीच ने ऐसा न करने के लिये बहुत समझाया, पर रावण ने जब उसे मार डालने का भय दिखलाया तो लाचार होकर वह राजी हो गया। राम के हाथों वह मारा गया।

माल्यवान—यह रावण का नाना, बड़ा भयंकर राक्षस था। ये तीन भाई थे। माल्यवान, सुमाली और माली। सुमाली की पुत्री कैकसी विश्रवा को ब्याही थी। रावण विश्रवा और कैकसी का पुत्र था। इस प्रकार वह रावण का नाना हुआ।

मुरारि—मुर दैत्य के रिपु अर्थात् श्रीकृष्ण। भौमासुर को मारने के लिए श्रीकृष्ण उसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर गये तो वहाँ देखा कि मुर नामक दैत्य ने अपने जाल बिछा रखे हैं। भगवान् ने तत्काल अपने चक्र से उस जाल के फंदों को काट डाला और अपने पाञ्चजन्य शंख की भयंकर ध्वनि से मुर दैत्य को जगा दिया। वह बाहर निकल आया। उसके पाँच सिर थे। वह जल के भीतर सो रहा था। वह त्रिशूल उठा कर दौड़ा। पर श्रीकृष्ण ने चक्र से उसके पाँचों सिर काट डाले और वह मर गया।

मैथिल—मिथिलाधिपति राजर्षि जनक विदेह के राजा और सीता के पिता थे। इनका नाम सीरध्वज भी है। इनके झंडे में सीर-हल का चिह्न है। जब वह संतानोत्पत्ति के लिये यज्ञ करने के हेतु हल से भूमि जोत रहे थे तब उसमें से पूर्णवयस्का सीता निकली थी। याज्ञवल्क्य ऋषि उनके पुरोहित और सलाहकार थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया कि जब भी जनक यज्ञ करते थे तो वे ब्राह्मणों के यज्ञ कराने के अधिकार को नहीं मानते थे और बिना उनके पौरोहित्य के वे यज्ञादिक करते थे और उन यज्ञों में वे सफल रहते थे। इसका कारण यह कहा जाता था कि उनका जीवन इतना शुद्ध और धार्मिक था कि वे ब्राह्मण के समान थे और राजर्षि थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने और याज्ञवल्क्य ने मिल कर बुद्ध के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया था। (देखिये बुद्ध चरित, १–५०)। मैथिल उन लोगों का प्राचीन नाम है जो उस समय विदेह अथवा

उत्तर विहार में निवास करते थे। यह क्षेत्र अब गण्डकी और कोसी नदियों के बीच तिरहुत और पूर्णिया के नाम से विख्यात है।

युधाजित—ये केकय महाराज अश्वपति के पुत्र और दशरथ की पत्नी कैकेयी के भाई थे। जब अश्वपति ने वृद्धावस्था में वानप्रस्थ लेने का विचार किया तो युधाजित को अयोध्या भेज कर अपने नाती भरत और शत्रुघ्न को देखने के लिये बुलवाया था (वा०रा० वा० ७७–१६–१७–१८)।

रघु—परमेश्वर के पुत्र ब्रह्मा, ब्रह्मा के मरीचि, मरीचि के कश्यप, कश्यप के सूर्य और सूर्य के वैवस्वत मनु हुए। वैवस्वत मनु के पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। ये त्रेतायुग में अयोध्या के राजा थे। सूर्य वंश में राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा के पुत्र रघु हुए। कामधेनु की पुत्री 'नन्दिनी' की सेवा करने से उसके प्रसाद से रघु का जन्म हुआ।

राम—इक्ष्वाकु कुल वंशीय महाराज दशरथ तथा कौशल्या रानी के गर्भ से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र। राम चार भाई थे। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। लक्ष्मण और शत्रुघ्न जुड़ौरा भाई थे।

कौशल्यया सावितुलेन रामो प्राक्केकयीतो भरतस्ततोभूत्।
प्रासोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्टमेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन॥
—(भट्टिकाव्य, १–१४)।

रावण—विश्रवा का उसकी पत्नी कैकसी से उत्पन्न पुत्र। जब यह उत्पन्न हुआ तो इसके दस सिर थे। अतः इसके पिता ने इसका दशग्रीव नामकरण किया। (वा० रा० उ० ९–३०)। इसकी कथा इस प्रकार है। सुकेश के पुत्र सुमाली के अपनी पत्नी केतुमती से ११ पुत्र और ४ कन्यायें उत्पन्न हुईं। (देखिये संलग्न राक्षसों का वंशवृक्ष) उन कन्याओं में कैकसी (नैकसी) नाम की एक कन्या थी। जब वह बड़ी हुई तब उसके विवाह के लिये चिन्तित सुमाली ने उसे महर्षि विश्रवा के पास भेजा जो उस समय घोर तप कर रहे थे।

पुत्रोत्पत्ति के लिये कैकसी के अनुनय-विनय करने पर विश्रवा राजी हो गये और बोले कि "तेरे पुत्र तो होंगे पर वे बड़े विकराल और क्रूर होंगे।" परन्तु जब कैकसी ने कहा कि, "वह ऐसे क्रूर पुत्र नहीं चाहती" तब विश्रवा ने कहा कि, "अच्छा, तुम्हारी सन्तान में पिछला पुत्र मेरे वंशानुरूप धर्मात्मा होगा।"

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने।
मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च न संशयः॥—वा० रा० उ० ९–२७।

इस प्रकार विश्रवा के दो भयंकर पुत्र, दशग्रीव और कुम्भकर्ण एक भयंकर पुत्री, सूर्पणखा और एक धर्मात्मा, पुत्र, विभीषण हुए।

एक बार कैलास पर्वत की ऊँचाई के कारण उसके पुष्पक विमान का मार्ग रुक गया तो रावण बोला—"हे वृषभपते रुद्र, तुम्हारे जिस पर्वत के कारण मेरे विमान की गति रुक गई उसे उखाड़ कर मैं फेंक देता हूँ (वा० रा० उ० १६–२३)।" यह कह कर रावण ने अपनी भुजाओं को कैलाश के नीचे घुसेड़ कर उठाना चाहा। परन्तु शंकर ने बिना किसी प्रयास के अपने पैर के अँगूठे से उस पर्वत को दबा दिया, जिससे दशग्रीव की भुजायें पिचने लगीं तो उसने घोर चीत्कार किया। परन्तु दशग्रीव के विनती करने पर शंकर ने उसे क्षमा कर दिया और कहा कि, "आज से तुम रावण कहलाओगे।" राम के बनवास के समय रावण सीता को हर ले गया था। इस पर घोर राम-रावण युद्ध हुआ जिसमें रावण मारा गया।

रम्भा—एक असीम सुन्दरी अप्सरा जो समुद्र-मंथन के समय निकली थी। उसे विश्वामित्र का तप भंग करने के लिये भेजा गया था। परन्तु विश्वामित्र ने उसे शाप दिया कि तू हज़ार वर्ष तक के लिये पत्थर होजा। रामायण के अनुसार जो कथा है उसे 'नलकूबर' के अन्तर्गत देखिए।

लक्ष्मण—राम के अन्तर्गत देखिये।

वरुण—सब से पुराने वैदिक देवों में से यह एक है। ये स्वर्ग और पृथ्वी के स्रष्टा और पालक हैं। ये अथाह ज्ञानी हैं। प्रायः इनका नाम मित्र के साथ आता है। वरुण दिन के स्वामी और मित्र रात्रि के। आगे चल कर इन्हे आदित्यों मे प्रमुख कहा गया है। और इसके बाद इन्हें समुद्रों और नदियों का देवता कहा गया है। इनका वाहन मकर है। महाभारत के अनुसार इन्हे कर्दम का पुत्र और पुष्कर का पिता कहा गया है। वे एक प्रकार से वसिष्ठ के पिता थे।

वेदों में वरुण का जल से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं बताया गया है। परन्तु पुराणों में वरुण को जल का स्वामी कहा गया है। ये हाथ में पाश लिये रहते थे। वैदिक वरुण के भी हाथ में पाश रहता था जिससे वे अपराधियों को बांधते थे। इस पाश को 'नागपाश', 'पुलकाङ्ग' अथवा 'विश्वजित' कहते हैं। वे पुष्पगिरि पर रहते थे।

कश्यप अदिति के आठ पुत्रों में एक वरुण भी थे।

वसिष्ठ—ये ब्रह्मा के प्राण से उत्पन्न हुए थे। कर्दम की पुत्री अरुन्धती इनकी पत्नी थी। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का अधिकांश वसिष्ठ का बनाया हुआ है। जब मित्र और वरुण का वीर्य वसतीवर नामक यज्ञ में गिरा तो उससे अगस्त्य और वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई (देखिये अगस्त्य)। ये सूर्यवंश के गुरु थे। इस पद को इन्होंने इसलिये स्वीकार किया था क्योंकि वे जानते थे कि इस कुल में रामचन्द्र का जन्म होगा।

एक बार गाधि-पुत्र राजा विश्वामित्र ससैन्य वसिष्ठ के आश्रम में गये। उस समय वसिष्ठ ने अपनी शवला गौ की सहायता से विश्वामित्र का ठाठदार सत्कार किया। विश्वामित्र उस कामदुघा शबला पर लट्टू हो गये और उसे माँगा। पर वसिष्ठ ने अस्वीकार कर दिया। इस पर विश्वामित्र उसे बरजोरी ले जाने लगे तो शबला के शरीर से हजारों की संख्या में म्लेच्छ और यवनों की सेना निकली। उसने विश्वामित्र को पराजित कर दिया। वे लज्जित होकर लौट गये। ब्रह्मबल की क्षात्र बल पर विजय हुई।

वाचस्पति—बृहस्पति का दूसरा नाम। ये अंगिरा ऋषि के पुत्र थे, अतः इन्हें आंगिरस भी कहते हैं। ये देवताओं के गुरु, धर्मशास्त्र के प्रयोक्ता और नवग्रहों में पञ्चम थे। इनके रथ का नाम नीतिघोष था। देवताओं के गुरु होने के कारण इनका नाम अनिमिषाचार्य था।

एक बार इनकी पत्नी तारा को सोम (चन्द्रदेव) उठा ले गये। इसके कारण दोनों के बीच भयङ्कर युद्ध हुआ। इस युद्ध का नाम तारकामय था। सोम के हिमायती, उशनस, रुद्र और सम्पूर्ण दैत्य और दानव थे। और बृहस्पति के हिमायती इन्द्र और सम्पूर्ण देव मण्डल था। इस युद्ध से पृथ्वी काँपती उठी और ब्रह्मा के शरण में गयी। ब्रह्मा ने बीच-बिचाव कर सोम से तारा को लेकर बृहस्पति को लौटा दिया।

तारा के एक पुत्र हुआ जिसे बृहस्पति और सोम, दोनों ने कहा कि हमारा है। ब्रह्मा ने तारा को सच-सच बताने की आज्ञा दी। तब तारा ने बताया कि वह पुत्र सोम का है। उस पुत्र का नाम बुध पड़ा।

वासुकि—पाताल में रहने वाले सर्पों के राजा। एक बार जब सर्पों की माता ने सर्पों को उच्चैःश्रवा की पूँछ मे लिपट जाने की आज्ञा दी तो कुछ सर्पों ने इनको नही माना। तब कद्रु ने शाप दिया कि जब जन्मेजय सर्प-यज्ञ करेंगे तो अग्नि तुमको जला डालेगी।

वासुकि को माता के इस शाप से बड़ी चिन्ता हुई। उसने तप से ब्रह्मा को प्रसन्न किया तो ब्रह्मा ने कहा—"जब यायावर वंश के जरत्कारु मुनि तुमसे पत्नी की याचना करें तो तुम अपनी बहिन को उनसे ब्याह देना। तब उससे आस्तीक नाम का पुत्र होगा। वे सर्प-यज्ञ बन्द कर धार्मिक सर्पों का छुटकारा करेंगे।"

इसके थोड़े दिन बाद समुद्र-मंथन हुआ तो वासुकि नाग को देवताओं और असुरों ने मथने वाली रस्सी बनाया।

विद्याधर—एक देवयोनि जिसके अन्तर्गत, खेचर, गंधर्व और किन्नर आते हैं।

विभीषण—विश्रवा का पुत्र और रावण का छोटा भाई। सुरमा इनकी पत्नी थी।

विड़ौजा—विष्णु का नाम। वेदों में विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई कहा गया है। वैदिक काल में विष्णु को प्रथम स्थान नहीं दिया गया है। यद्यपि इन्द्र, वरुण, मरुत्गण, रुद्र, वायु और आदित्यों के साथ उनका आवाहन होता है। वे एक स्थान पर इन्द्र की स्तुति करते और उनसे शक्ति प्राप्त करते दिखलाये गये हैं।

विष्णु का निवास स्थान क्षीर सागर है। वे शेष शैया पर सोते हैं। लक्ष्मी और सरस्वती उनकी रानी हैं। उनके नाभि-कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए जिन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति की।

विराध—जय का उसकी पत्नी शतह्रदा से उत्पन्न पुत्र। उसे राक्षस लोग विराध कहते थे। वह एक भयंकर राक्षस था—

> पुत्रः किल जवस्याहं माता मम शतह्रदा।
> विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसा॥ वा० रा० अ० ३–५।

उसको ब्रह्मा का वरदान था कि वह किसी शस्त्र से न मरेगा (वा० रा० अर० ३–७)। दण्डक बन में वह राम लक्ष्मण को मिला और सीता को उठा कर भागा। तब लक्ष्मण ने एक वाण मारा। वह सीता को छोड़कर इनकी ओर लपका और उसने घोर युद्ध किया। विराध राम और लक्ष्मण को अपने कन्धों पर बच्चों की भाँति बिठा कर भागा। तब राम लक्ष्मण ने घूसों से मारते-मारते उसे अधमरा कर दिया। वह मर तो सकता नहीं था। उसे वे पृथ्वी में सजीव गाड़ देने के लिये प्रस्तुत हुए तो विराध विनती करने लगा।

वह बोला कि मैं तुम्बुरु नाम का गंधर्व हूँ। मैंने कुबेर के शाप के कारण राक्षस शरीर पाया है। कुबेर ने कहा था कि जब राम तुझे मारेंगे तब तू पूर्ववत् शरीर पाकर स्वर्ग जायगा। मुझे कुबेर ने इसलिए शाप दिया था कि रम्भा में लिप्त होने के कारण मैं उनके पास समय से नहीं पहुँच पाता था। यह कह कर विराध अपने पूर्व रूप में स्वर्ग चला गया। (वा० रा० अर० ३,४)।

विश्रवसःसुतः—रावण—देखिये 'रावण' और संलग्न राक्षस वंश वृक्ष।

विश्वामित्र—इन्होंने क्षत्रिय वंश में जन्म लेकर तप के बल ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और सात ब्रह्मर्षियों में गिने जाने लगे। इनके पिता का नाम गाधि था। विश्वामित्र राम से कहते हैं—

> स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः।
> कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन॥ वा० रा० वा० ३४–६।

विश्वेश—ब्रह्मा जी का नाम देखिये 'द्रुहिण'।

शची—इन्द्र की पत्नी और दानव-राज प्रलोम की पुत्री । हिन्दुओं के यहाँ विवाह के आरम्भ में शची और इन्द्र का आवाहन किया जाता है, क्योंकि शची को वैधव्य से मुक्ति का वरदान था। पुराणों का कथन है कि जो भी चाहे शक्र अर्थात देवराज हो, शची सर्वदा इन्द्राणी रहेगी ।

शतक्रतु—इन्द्र का नाम , जिन्होंने १०० अश्वमेध यज्ञ किये थे । (देखिये 'इन्द्र') ।

शतानन्द—गौतम का अहल्या से उत्पन्न पुत्र । ये जनक के कुल पुरोहित थे ।

शरजन्म—शिव के पुत्र कार्तिकेय । देखिये 'तारक' ।

शुनाशीर—इन्द्र का नाम । देखिये इन्द्र ।

सगर—सूर्य वंश में बाहु नामक प्रतापी राजा थे । इनकी स्त्री का नाम यादवी था । एक दिन अकस्मात इनके ऊपर शत्रुओं ने चढ़ाई करदी । युद्ध में बाहु परास्त हुए और पत्नी के साथ जंगल में भाग गये । उस समय उनकी पत्नी गर्भिणी थी । यादवी की सपत्नी को मालूम हुआ कि यादवी गर्भिणी है तो उसने उसे विष पिला दिया । पर उससे कोई अनिष्ट नहीं हुआ । राजा की मृत्यु जंगल में ही हो गई । रानी जब राजा के साथ सती होने जा रही थी उसी समय और्व ऋषि ने वहाँ आकर उसे रोक दिया ।

समय से उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ । और्व ने उसका जात संस्कार किया और विषपान करने के कारण उसका नाम सगर रखा । और्व ने ही उन्हें वेद-शास्त्र और शस्त्र-विद्या की शिक्षा दी । बाद में उन्होंने हैहय आदि शत्रुओं को मार डाला । राजा सगर तब राजसिंहासन पर बैठे । इनकी दो रानियाँ थी—वैदर्भी और शैव्या । शंकर जी ने इन्हें वरदान दिया कि—उन्हें एक पत्नी से ६० हजार पुत्र होंगे, पर उनका नाश होगा और एक वंशधर पुत्र होगा ।

कुछ दिन बाद वैदर्भी से एक कद्दू हुआ और शैव्या से एक वीर्यवान पुत्र उत्पन्न हुआ ।

राजा सगर उस कद्दू को फेंकने जा रहे थे कि आकाशवाणी सुनाई दी कि—"हे राजन् ! इसमें तुम्हें ६० हजार पुत्र उत्पन्न होंगे ।" राजा ने उस कद्दू में से एक एक बीज निकाल कर एक एक को घृत कुण्ड मे रख दिया और उसकी रक्षा के लिये एक धातृ नियुक्त कर दी। कुछ दिन बाद उसमें से एक एक बलिष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए । वे लोग देवताओं के साथ अत्याचार करने लगे । कुछ दिन बाद राजा ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया । घोड़े के साथ ६० हजार सगर के पुत्र रक्षा के लिये चले । कुछ दूर पर घोड़ा लुप्त हो गया । राजा ने उन्हें खोजने की आज्ञा दी ।

वे खोजते-खोजते कपिल मुनि के आश्रम में गये । वहाँ बँधे हुए घोड़े को देख कर उन उद्दंड सगर-पुत्रों ने कपिल मुनि को फटकारना आरम्भ किया । ऋषि ने क्रोध-पूर्ण नेत्रों से देखकर उन्हें भस्म कर दिया । बाद में राजा सगर के पौत्र तथा असमंजस के पुत्र भगीरथ कठिन तपस्या कर स्वर्ग से गंगा जी को लाये और इनका उद्धार किया ।

सिद्ध—सिद्धों को 'देव योनि' कहा गया है । ये बड़े शुद्ध और धार्मिक प्रकृति के होते थे। इनमें ये अमानुषिक शक्तियाँ थी—

> अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
> प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥

कहीं कहीं इनसे भी अधिक शक्तियाँ कही गई हैं ।

सीता—राजर्षि जनक की पुत्री और रामचन्द्र की पत्नी ।

समीरण सुत—देखिये हनुमान् ।

सुकेत-सुता--सुकेतु नाम का एक बड़ा बलवान् यक्ष था। सदाचारी होने पर भी उसके कोई सन्तान न थी। ब्रह्मा जी के वरदान से उसे एक पुत्री ताटका नाम की हुई। और ब्रह्मा जी ने उसके शरीर में हजार हाथियों का बल दिया। जब बड़ी हुई तो उसके पिता सुकेतु ने उसका ब्याह जम्भ के पुत्र सुन्दर के साथ कर दिया। उससे उसको एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम मारीच था।

अगस्त्य के शाप से मारीच राक्षस हो गया और ताटका मनुष्य भक्षिणी और भयंकर स्वरूपा हो गई। वनवास के प्रसंग में राम ने उसका वध किया।

सुबाहु—मारीच का भाई जो ताटका के साथ राम से लड़ने आया और जिसे लक्ष्मण ने मार डाला।

सुमंत्र—राजा दशरथ के मंत्री और सारथी। ये ही वनवास के समय राम-लक्ष्मण-सीता को रथ में बैठा कर कुछ दूर के बाद छोड़ आये थे।

सुरदन्ती—ऐरावत। इन्द्र का हाथी।

सुरसा—सुरसा एक प्रसिद्ध 'नाग माता' थी। जिस समय हनुमान् जी सीता की खोज में लंका जा रहे थे, उस समय उसे कहा गया कि कि "तुम विकराल राक्षसी बनकर उनको रोको।" सुरसा समुद्र में रहती थी। उसने हनुमान् को रोक कर कहा—"मैं तुम्हें खाऊँगी।"

हनुमान् जी ने कहा—"जानकी जी का समाचार रामजी को देकर मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा।" सुरसा न मानी, कहा "पहिले तुम्हें हमारे मुँह में प्रवेश करना होगा।" तब हनुमान् जी ने अपना शरीर बढ़ाया। ज्यों-ज्यों सुरसा अपना मुँह बढ़ाती गई, हनुमान जी अपना शरीर बढ़ाते गये। अन्त में हनुमान् जी बहुत ही छोटा रूप धारण करके उसके मुँह में प्रवेश कर बाहर निकल गये। तब सुरसा ने प्रसन्न होकर उनकी सफलता की कामना की।

सुषेण—एक वानर जिसे सुग्रीव ने पश्चिम की ओर सीता को ढूंढने के लिये भेजा था।

हनुमान्—वायु पुत्र हनुमान्। ये रामचन्द्र के अनन्य भक्त थे। सुग्रीव ने हनुमान् को दक्षिण की ओर सीता के ढूंढने के लिया भेजा था।

अञ्जना के गर्भ से पवन के ये पुत्र थे। जन्म लेते ही ये क्षुधातुर हो गए। लाल, बिम्ब फल समझ कर ये सूर्य पर उछले। यह देख कर देव-दानवों में हाहाकार मच गया। सूर्य के ताप से बचने के लिये पवन देव ने शीतल वायु के द्वारा इनकी रक्षा की। उस समय राहु सूर्य को ग्रसने जा रहा था। हनुमान के पहुँचने पर राहु भाग खड़ा हुआ और इन्द्र से सब वृत्तान्त कहा। इस पर क्रुद्ध होकर इन्द्र ने इन पर वज्र से प्रहार किया जिससे इनका वाम हनु टूट गया। पवन अपने पुत्र को उठा कर एक गुफा में ले गये।

पवन ने क्रुद्ध होकर बहना बंद कर दिया। चारो ओर हाहाकार मच गया। देवों ने जाकर ब्रह्मा से कहा। ब्रह्मा ने आकर शिशु हनुमान् को आशीर्वाद दिया और सब देवों ने उसे अमोघ वर दिया। ये अमर हैं। ऐसा वर पाकर ये ऋषियों को सताने लगे। ऋषियों ने शाप दिया कि—"तुम अपना बल भूल जाओगे। जब तुम्हें कोई याद दिलावेगा तब तुम्हारा बल दुगना बढ़ेगा।"

बालि और सुग्रीव के परस्पर कलह में इन्होंने सुग्रीव का साथ दिया। इन्होंने जानकी का पता लंका मे लगाया। इन्होंने लंका को जला डाला। राम की विजय हुई।

हलायुध—बलभद्र, कृष्ण के छोटे भाई।

हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा।

त्रिजटा—एक राक्षसी। जब रावण सीता को हर लाया तो उन्हे लंका की अशोक वाटिका में रखा। चौकसी के लिये और उनको डरा-धमका कर वश में लाने के लिये जिन बहुत सी

राक्षसियों को उसनें तैनात कर दिया उनमें एक त्रिजटा भी थी। वह धर्मात्मा, विवेकशील और प्रियम्बदा थी। वह सीता को बराबर आश्वासन देती रहती थी। वह राम के युद्ध की तैयारी की भी खबर देती रहती थी। इससे सीता को बड़ी सान्त्वना मिली।

त्रिविक्रम—विष्णु। देखिये बलि।

त्रिशिरस—रावण की सेना में तीन सिर का एक भयंकर राक्षस।

२

स्थान कोश

अलका—सर्व प्रथम विश्वकर्मा ने, माल्यवान, सुमाली, माली, इन तीन दुर्धर्ष राक्षसों एवं उनकी विशाल सेना के लिये सुवेल पर्वत पर लंकापुरी का निर्माण किया और सब राक्षस लोग वहां रहने और अजेय होने के कारण सब को सताने लगे। तत्पश्चात् जब विष्णु ने उन्हें युद्ध में पराजित किया तो वे लोग भयभीत होकर पाताल में रहने लगे। लंका खाली हो गई। उसके बाद पिता की आज्ञा से कुवेर लंका में रहने लगे "तत्र त्वं वस भद्रं ते लंकायां नात्र संशयः"—वा० रा० उ० ३—२८। जब रावण, शिव के वरदान से अति बलवान हो गया तो उसके साथियों ने बहकाया कि लंका तो राक्षसों के लिये बनाई गई थी, कुवेर उसके अधिकारी नहीं हैं, तुम लंका को उनसे वापस ले लो। कुवेर बुद्धिमान थे। उन्होंने लंका को छोड़ना स्वीकार कर लिया। तब यह प्रश्न उठा कि इतना बड़ा यक्षों का परिवार कहां रहे। इस पर अपने पिता की आज्ञा से, कुवेर ने कैलास पर्वत पर अति सुन्दर एवं शोभायमान अलकापुरी बसायी।

> धनेश्वरस्स्वयपितुर्वाक्यगौरवा-
> न्न्यवेशयच्छशिविमले गिरौ पुरीम्॥
> —वा० रा० उ० ११-५२।

अयोध्या—कोसल जनपद की एक प्रसिद्ध नगरी। अवधपुरी सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी। रामचन्द्र की जन्मभूमि। सरयू तट पर एक प्रसिद्ध एवं प्राचीन तीर्थ।

> कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
> निविष्टः सरयूतीरे प्रभूत धनधान्यवान्॥
> अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
> मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥
> —वा० रा० बा० ५-५, ६।

एक समय रावण ने अयोध्या में जाकर अयोध्या के सम्राट अनरण्य को युद्ध में परास्त कर मार डाला। मरते समय अनरण्य ने रावण को शाप दिया, "महात्मा इक्ष्वाकु वंशी नरेशों के इस वंश में ही दशरथ नन्दन श्री राम होंगे, जो तेरे प्राणों का अपहरण करेंगे।"

उत्तर कोसल—रामायण के अनुसार कोसल, सरयू जिसे आजकल घाघरा कहते हैं, के तट पर स्थित था। कहा जाता है कि इसकी लम्बाई अड़तालीस मील और चौड़ाई बारह मील थी। इसे 'साकेत' भी कहते थे और उसका एक मुख्य पर्यन्त भाग 'नन्दि ग्राम' था जहां से राम के वनवास के समय, उनकी अनुपस्थिति में भरत राज्य शासन करते थे। अयोध्या काण्ड से पता चलता है कि वह राजधानी के पूर्व में था। आनन्दराम बरुआ कहते हैं कि "मेरे मत के अनुसार, महाभारत और मत्स्य पुराण के कई पद्य हैं जिनसे न केवल यह पता चलता है कि वह गोमती के आसपास था बल्कि वह

गोमती और गंगा के संगम के सन्निकट था।" इस नदी के दक्षिण तट पर, सुल्तानपुर (जिसे पहिले कुशभवनपुर कहते थे) के १८ मील दक्षिण पूर्व एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है जो सम्भवतः रामतीर्थ है, जिसका वर्णन महाभारत में आया है। उस स्थान के नक्शे के देखने से पता चलता है कि वह अयोध्या से प्रयाग के सीधे रास्ते में पड़ता है, जिस मार्ग से राम वनवास के समय गये थे। राम के स्वर्गारोहण के समय, उनके दोनों पुत्र कुश और लव, दक्षिण कोसल में विन्ध्य पर्वत की घाटी मे कुशावती में और उत्तर कोसल के श्रावस्ती में, राज्य करते थे। मत्स्य पुराण में श्रावस्ती को 'गण्ड' कहा गया है जो आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध है। महाभारत में इसका नाम भीम द्वारा विजित देशों में पाञ्चाल के बाद आया है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अयोध्या के उत्तर का प्रदेश जिसमें गोण्डा और बहराइच सम्मिलित है वह उत्तर कोसल के नाम से जाना जाता था। इसके विस्तृत वर्णन के लिये देखिये आनन्दराम बरुआ के 'प्राचीन भारत का भूगोल' के अनुच्छेद ९३–९६, पृष्ठ ४८–९०। गोपाल रघुनाथ नन्दरगिकर की जानकीहरण १०–५२ की टीका से)।

राम का महाप्रस्थान :

कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम्।
अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ॥
—वा॰ रा॰ उ॰ १०७–१७।

अध्यर्धयोजनं गत्वा नदीं पश्चान्मुखाश्रितम्।
सरयूं पुण्यसलिलां ददर्श रघुनन्दनः॥
—वा॰ रा॰ उ॰ ११०—१।

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥
—वा॰ रा॰ उ॰ ११०—१२।

ऋष्यमूक—पम्पासर के निकट एक पर्वत जहाँ सुग्रीव अपने बड़े भाई वालि के भय से किष्किन्धा से भाग कर अपने मंत्री हनुमान् के साथ रहता था। पम्पा के बाद राम वहाँ गये थे। तुलसीदास जी कहते हैं :

आगे चले बहुरि रघुराया।
रिष्य मूक परबत नियराया।

एक समय वालि ने पर्वताकार, भैंसे के स्वरूप वाले असुर को मारकर उसके गत-प्राण शरीर को उठा कर एक योजन दूर फेंक दिया। वह असुर रुधिर बहाता हुआ मतंग ऋषि के आश्रम मे गिरा। मतंग ने शाप दिया कि इस भैंसे को मारने वाला यदि मेरे आश्रम की परिधि के भीतर आवेगा तो उसकी मृत्यु हो जायगी।

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत्।
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः॥
—वा॰ रा॰ कि॰ ११–५३।

तब मतङ्ग की अनुमति से वह वहाँ रहने लगा। शाप के भय से वालि वहाँ नहीं जा सकता था।

> ततः शापभयाद् भीतो ऋष्यमूकं महागिरिम् ।
> प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥ —वा० रा० कि० ११-६४।

इसी पर्वत पर राम और सुग्रीव की मैत्री हुई।

कटाह—यह मलयद्वीपसमूह का एक द्वीप था जिसे 'केदाह' कहते हैं। इसे भारतीय विद्वान, हरिभद्र सूरि के समय से (आठवीं शताब्दी) लेकर सोमदेव के कथा सरित्सागर तक ग्रंथों में किये गये निर्देशन से जानते हैं।

करुष—मलद देखिये।

काञ्ची—दक्षिण भारत का एक बड़ा प्रख्यात एवं पवित्र व्यापार केन्द्र। यह उन सात नगरों में से एक था जिसे मोक्षदायी कहा गया। काञ्चीपुरी, आधुनिक काञ्जीवरम्।

> अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्चीअवन्तिका ।
> पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

पल्लव महेन्द्रवर्मन (जिनका राज्यकाल ईसा के पश्चात् ६०० से ६३० तक था) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी पल्लव नरसिंह वर्मन (राज्यकाल ६३०-६६०) जो महामल्ल भी कहलाता था। इस पल्लव-वंश का सबसे प्रख्यात एवं प्रतिभाशाली राजा था। उसके राज्यकाल में काञ्ची जगत्-विश्रुत राजधानी हो गई थी। उस समय वह इतना प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र हो गया था कि वहाँ अनेक देशों के सार्थवाह व्यापारिक आदान-प्रदान के लिये एकत्र होते थे। "काञ्चीगुणार्कावतसार्यलोका" जानकीहरण, १-१८।

कालिन्दी—कालिन्दस्य कलिन्द नाम्नः पर्वतस्य इयं कालिन्दी। यमुना नदी। देखिये पाणिनि ४-३-१२०। यमुना नदी जो कलिन्द पर्वत से निकलती है। यमुना को सूर्य की, उसकी स्त्री संज्ञा से उत्पन्न, पुत्री कहा गया है। अतः वह यम की बहिन थी। एक बार बलराम ने मत्तावस्था में स्नान करने के हेतु उसे बुलाया। पर उसने कुछ ध्यान नहीं दिया। अतः बहुत क्रुद्ध होकर अपने हलायुध से उसे अपने पास घसीट लिया और वन में जहाँ-जहाँ घूमते थे यमुना को अपने पीछे पीछे चलने के लिये बाध्य किया। तब उस नदी ने मनुष्य का रूप रख कर बलराम से क्षमा याचना की। परन्तु उन्हें मनाने में उसे बहुत दिन लग गये। विल्सन का ख्याल है कि "यह कथा सिंचाई के लिये यमुना से नहरों के निकालने की ओर इंगित करती है।"—गोपाल रघुनाथ नन्दरगिकर।

प्रयाग में गंगा और यमुना का संगम है।

कुलाचल—प्रसिद्ध सप्त पर्वतों में से कोई—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, विन्ध्य और परियात्र।

कैलास—भगवान् शंकर का निवास स्थान। हिमालय में एक पर्वत। जब रावण ने उसके नीचे अपनी भुजाओं को डाल कर उठाने की चेष्टा की तो शंकर ने सरलता से उसे अपने अँगूठे से दबा दिया। इससे रावण की भुजायें पिचटी होने लगी तो उसने भयंकर चीत्कार किया। रावण के विनती करने पर शंकर ने अपने अँगूठे का दबाव ढीला कर दिया। देखिये चरित्र कोश में रावण।

देवसह—एक पर्वत का नाम।

नन्दन—स्वर्ग में इन्द्र का उद्यान।

लंका—रावण की राजधानी जो भारत के दक्षिण में है। यह सोने की बनी थी। पहिले इसमें माल्यवान, सुमाली और माली जो बड़े बलवान् और भयंकर राक्षस थे, कुल राक्षस परिवार के साथ रहते थे। वे देवताओं पर बड़ा अत्याचार करते थे। अतः विष्णु ने उन्हें युद्ध में परास्त कर दिया। तब सब राक्षस पाताल में भाग गये। लंका खाली हो गई। तब विश्रवा ने उसे अपने पुत्र कुवेर को यक्ष-परिवार के रहने के लिए दे दिया। जब रावण तप से दुर्धर्ष हो गया तो उसने उसे कुवेर से छीन लिया। तब रावण राक्षसों सहित वहाँ रहने लगा। राम-रावण युद्ध के बाद राम ने विभीषण का उस पर राज्याभिषेक कर दिया।

विन्ध्य—एक पर्वत श्रृंखला जो मनु-कथित मध्यदेश और दक्षिण के बीच में है। विस्तृत कथा के लिये देखिये, चरित्र कोश में 'अगस्त्य'।

विदेह—उत्तर-विहार। गण्डकी और कोशी नदियों के बीच का प्रदेश जिसे आजकल तिरहुत और पुर्णिया कहते हैं। राजर्षि जनक इसके राजा थे। अतः उन्हें विदेहराज कहते हैं और उनकी पुत्री, सीता को वैदेही।

देखिये—चरित्र कोश में 'मैथिल'।

पञ्चवटी—दण्डकारण्य में नासिक के पास, गोदावरी के किनारे एक वन जिसमें वनवास के प्रसंग में, राम, लक्ष्मण और सीता ने निवास किया था और जहाँ सूर्पणखा के नाक-कान काटे गये थे। यहीं पर रावण ने सीता को हरा था। रामायण में जो दक्षिण का भूगोल दिया है वह बिलकुल ठीक मालूम होता है। बुन्देल खंड के सीमान्त से लेकर, कृष्ण नदी के तट तक का कुल प्रदेश उस समय जंगल था जिसे दण्डकारण्य कहते थे। अत्रि के आश्रम और चित्रकूट छोड़ने के बाद राम यहाँ आये। यहीं पर उन्होंने एक बड़ी नदी पार की, जो एक पर्वत के पास थी। स्पष्ट है कि इसका तात्पर्य नर्मदा से है। इसी अरण्य में प्रस्रवण पर्वत और गोदावरी के निकट राम थोड़े दिनों रहें। दण्डक के इस भाग को जनस्थान कहते है। यह बड़ा रम्य स्थान है। उत्तर रामचरित में भवभूति इस रम्य स्थान का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

> "अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरी-मुखरकन्दरः सततमभिष्यन्दमान-मेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणः।"

पुष्पक—कुवेर का विमान जो वाहक के इच्छानुसार चलता था। रावण ने इस विमान को कुवेर से छीन लिया था। परन्तु राम ने रावण-वध के उपरान्त उसे कुवेर को लौटा दिया।

मन्दर—एक पुनीत पर्वत जो ११ हजार योजन नीचे गड़ा था। उससे क्षीर सागर मथा गया था। विष्णु के कहने पर वासुकि उसे उखाड़ कर लाये और उसे मथानी की जगह प्रयोग किया। तब समुद्र से अमृत और तेरह अन्य वस्तुएँ जो प्रलय के समय लुप्त हो गई थी, निकलीं।

मलय—भारत की ओर लंका के सामने समुद्र तट पर एक पर्वत, जिस को पार कर राम की सेना समुद्र तट पर गयी थी।

मेरु—पृथ्वी के मस्तक पर एक विशाल पर्वत जिसके ऊपर स्वर्ग स्थित है। इस पर्वत के चारों ओर सूर्य और सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल घूमता है। अब यह सिद्ध हो गया है कि यह पर्वत श्रेणी उत्तरी ध्रुव में है।—देखिये बाल गंगाधर तिलक का 'ओरायन, दि आर्कटिक होम आव दि वेदाज', अध्याय—४।

मैनाक—एक पर्वत जो महाभारत के अनुसार कैलास पर्वत के उत्तर में है। यह हिमवत और मेनका का पुत्र कहा गया है, इसीसे इसे मैनाक कहते हैं। इन्द्र जब पर्वतों के पंख काट रहे थे तो यह डर कर समुद्र में छिप गया। अतः इसके पंख नहीं कटे। लंका जाते समय समुद्र के कहने पर इसने हनुमान को आश्रय देना चाहा था।

सह्य—ताप्ती नदी से कन्याकुमारी तक फैली हुई पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ सह्याद्रि कहलाती हैं। इसे पार कर राम समुद्र पर गये थे।

सुमेरु—सुवर्ण पर्वत।

सुवेल—लंका की ओर समुद्र तट पर एक पर्वत जिसमें एक सिरा बाँध कर वानरों ने सेतु का निर्माण किया था।

त्रिकूट—एक पर्वत जिसके शिखर पर लंकापुरी बसी है।

जानकीहरणम्

संस्कृत महाकाव्य

विख्यात सिंहलीय कवि एवं लंका-नरेश
कुमारदास रचित

के० धर्माराम स्थविर
प्रिन्सिपल, विद्यालंकार (ओरियंटल) कालेज
पेलियगोड—केलानिया
द्वारा
सिंहलीय शब्दानुसार—अन्वय से पुनर्निर्मित
और
संशोधित सस्य सहित सम्पादित

सीलोन

मुद्रक एवं प्रकाशक डी० डी० जे० सेनानायक आरच्चि
"सत्य समुच्चय" प्रेस—पेलियगोड
१८९१

भूमिका

सम्पन्नता और विविधता की दृष्टि से देव-भाषा संस्कृत के जोड़ की भाषायें बहुत कम हैं। उसमें संसार की प्रायः प्रत्येक विद्या का समन्वय है और उसका काव्य, जैसा कि सुसंस्कृत, प्राच्य जन की प्रतिभा से अपेक्षित है, गुण और मात्रा दोनों दृष्टिकोणों से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। काव्य में भी सबसे अधिक प्रतिष्ठा महाकाव्यों की है । हिन्दुस्तान का प्रायः हर उत्तम कवि महाकाव्यों की रचना में ही अपनी गरिमा समझता था और यही उसकी महत्वाकांक्षा भी होती थी कि वह अपने पीछे इस श्रेणी का काव्य छोड़ जाय। महाकाव्यों की संख्या फिर भी अपेक्षाकृत सीमित ही रही। अपनी कला में दक्ष कालिदास आदि महाकवियों की कला से अपनी कला की तुलना करना एक अज्ञात कवि के लिये साहसपूर्ण और रोचक प्रयत्न है। किन्तु, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होगा, ऐसा प्रयत्न किया गया है और सफलता भी कोई कम नही मिली है । प्रयत्न करने वाला भी कोई साधारण व्यक्ति नही बल्कि इस द्वीप का ही एक महान् सम्राट् था।

पाठकों के समक्ष कुमारदास की इस प्रख्यात रचना 'जानकीहरण' (या उसके इस नव-नियोजित रूप) को प्रस्तुत करते हुये प्रस्तावना-स्वरूप यदि कुछ तथ्य उपस्थित किये जायें तो आशा है कि प्रयत्न क्षम्य होगा। उसकी उपादेयता इस कृति के सन्दर्भ में समयानुकूल तो होगी ही, संस्कृत साहित्य के इतिहास के कुछ धूमिल पृष्ठ भी प्रकाश में आ जायेंगे।

सम्राट् कुमारदास ईसा से कोई ५१७ वर्ष पश्चात् लंकाद्वीप के महाराजा हुए । 'महावंश' में किया गया उनके शासन का उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त है । विश्वास तो यह भी है कि उनके शासन काल की घटनाओं सम्बन्धी एक अध्याय कहीं खो भी गया है। 'महावंश' में उनका उल्लेख केवल थोड़ी-सी पंक्तियों में आता है जिनका प्रारंभ इस प्रकार होता है :—"तस्सच्चये कुमाराविधातुसेनोति विस्सुतो अहु तस्स सुतो राजा देवरूपो महाबलो।" इन पंक्तियों में इस शक्तिशाली सम्राट की प्रमुख कृतियों का उल्लेख है और उनका नाम 'कुमार धातुसेन था, जिनका रूप देवताओं के समान सुन्दर था, बतलाया गया है । यह भी कथित है कि उनकी मृत्यु शासन के नवें वर्ष में हुई। किन्तु उनमें ऐसा कुछ भी नही है जिससे उनके एक महान् कवि होने अथवा 'जानकीहरण' का रचयिता होने का संकेत मिलता हो। हाँ, कुछ अन्य अकाट्य तथ्यों के आधार पर ये दोनों ही बातें सरलता से सिद्ध होती हैं। 'मयूरपद परिवेण' के अध्यक्ष की प्रख्यात कृति 'पूजावली' का एक अंश इस प्रकार है—'दशनकेलि (धातुसेन) का पुत्र राजकुमार मोगल्लान सिगरि के नृपति (कश्यप) के डर से हिन्दुस्तान भाग जाता है और फिर वहाँ से सैनिकों की एक फ़ौज लेकर वापस आता है और पितृघाती कसुब (कश्यप) का नाश करके अठारह साल तक राज्य करता है। उसका पुत्र कुमारदास, जो एक गम्भीर विद्वान भी था, नौ वर्ष तक राज्य करता है और अन्त में अपने को अपने मित्र कालिदास की चिता की अग्नि में जलाकर भस्म कर देता है।" 'पेरकुम्बमिरित' से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियों के भावानुवाद से उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है और यह भी विदित हो जाता है कि सम्राट का कवि रूप भी उतना ही उत्कृष्ट था—

'जानकीहरण' तथा अन्य महाकाव्यों के अमर कवि सम्राट् कुमारदास ने अपना जीवन महाकवि कालिदास के लिये निछावर कर दिया।'

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मोगल्लान का पुत्र जो उसका उत्तराधिकारी हुआ,

उसका नाम कुमारदास भी था और कुमार घातुसेन भी था। इन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के कुछ लेखकों की यह धारणा कि कवि और सम्राट् दो पृथक व्यक्ति थे और कुमारदास नामक सम्राट् कभी कोई था ही नहीं—सर्वथा निर्मूल है और उस पर कोई गम्भीर विचार नहीं हो सकता।

'महावंश' और 'काव्य-शेखर' के अनुसार कुमारदास सीलोन में स्थापित उस मौर्य कुल के वंशज थे जो सम्राट् अशोक द्वारा पवित्र बोधिवृक्ष की सेवा के निमित्त वहाँ भेज दिये गये थे।

इस सम्राट् कवि की शिक्षा के सम्बन्ध में निश्चित रूप से हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। अनुमान यह अवश्य है कि उनकी शिक्षा उन ब्राह्मण पंडितों के विद्यालय में हुई होगी जो उन दिनों लंका में रहते रहे होंगे तथा राज-अध्यापक और अन्य प्रतिष्ठित पदों पर शोभित और पुरस्कृत होते रहे होंगे। विजय का पौत्र पाण्डुकाभ्य, जिसका स्थान लंका-सम्राटों की पंक्ति में चतुर्थ है, एक ऐसे ही धनी और विद्वान् ब्राह्मण का शिष्य था जिसका नाम था पाण्डुल, जिसने युवा राजकुमार को न केवल शिक्षित किया बल्कि उसके 'स्नायुओं' को भी सशक्त बनाया जिसके बल पर राजकुमार ने राजदण्ड की उपलब्धि भी की।

उस प्राचीन समय में हमारे द्वीप में वेदों और संस्कृत के अन्य ग्रन्थों के अध्ययन और ज्ञान के प्रचलन का साक्षी इतिहास है। किन्तु पाण्डुकाभ्य[1] के पौत्र देवानां पिय तिस्स के राज्यकाल में जब बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ तब सिंहलद्वीप के निवासी वेदों के अध्ययन से अधिक इस नवीन धर्म के अध्ययन में दत्तचित्त हो गये। किन्तु इससे संस्कृत की अवहेलना नहीं हुई बल्कि व्याकरण, तर्कशास्त्र और संस्कृत से सम्बद्ध अन्य विषयों का अध्ययन करना सिंहल के विद्यार्थियों की स्थायी रीति ही गई; क्योंकि उनके अध्ययन से बुद्ध-दर्शन तथा पालि को समझने में सरलता होती थी। इसलिये लंका में विभिन्न समयों में बहुत-से विद्वान् उत्पन्न हुये जिनको पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि चन्द्र इत्यादि तथा और भी पुराने व्याकरण वेत्ताओं आपिशलीय और शाकटायन आदि की विविध प्रणालियों पर पूरा अधिकार था। इन विद्वानों से बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ भी लिखे जैसे रत्नश्री ज्ञानाचार्य कृत 'चन्द्र-पंचिका', महाकश्यपस्थविर का 'बलावबोधन' (चन्द्रवृत्ति) और अनावदर्शि संघराज का 'दैवज्ञ कामधेनु'। अब तक हम संघों से सम्बद्ध विद्वज्जनों की चर्चा करते रहे हैं। शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में साधारण जन भी पीछे नहीं रहे। हम जानते हैं कि सरहपाद तथा धर्मकीर्ति प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत में बुद्ध-धर्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे। अनुराधपुर के मौद्गल्यायन महास्थविर, पोलोन्नरुव के सारिपुत्र महास्थविर और बाद के विद्वानों में सम्राट् पंडित पराक्रमबाहु, संघराज वनरत्न, धर्मकीर्ति तथा ६ 'भाषाओं के उद्भट पंडित' राहुल तथा कुछ अन्य लेखकों की कीर्तियाँ और कृतित्व इस बात की साक्षी हैं कि सिंहलद्वीप के बौद्ध विद्वान् संस्कृत भाषा में कितने पारंगत थे। ठीक ही कहा गया है कि धार्मिक और अधार्मिक सभी प्रणालियों के अध्ययन से बौद्ध-दर्शन को ठीक-ठीक समझने मात्र में ही सहायता नहीं मिलती, उनमें अटूट आस्था और विश्वास भी उत्पन्न होते हैं।

---

१. बुद्ध गया के एक संस्कृत शिला-लेख के आधार पर इस विद्वान् को सिंहल का मूल निवासी ठहराया जाता है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'बुद्ध गया' में इस लेख का एक प्रतिचित्र छापा है। उनके अनुवाद की एक पंक्ति इस प्रकार है—('सिंहलद्वीप जन्मना पंडित रत्नश्री जन मिट्टणा।' थी राहुल स्थविर भी 'रत्न-मतिपद' और 'रत्न श्रीज्ञानाचार्य' नाम से कदाचित् इसी विद्वान् का उल्लेख करते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में वे हिन्दुस्तान चले गये होंगे और बौद्ध सम्राट् कीर्तिराज के संरक्षण में रहे होंगे।

यद्यपि सीलोन के प्राचीन पंडितों द्वारा काव्यग्रन्थ तो बहुत-से रचे गये होंगे किन्तु काल के क्रूर करों से अब तक बहुत कम बच पाए है। उनमें उदाहरणार्थ हम संस्कृत में 'बुद्ध गद्य' तथा 'नामाष्ट शतक,' सिंहली में रचित 'ससद,' 'कुरदमुवदेव्द' और 'काव्यशेखर', पालि में रचित 'पारमी सतक,' 'समन्त कूटवन्न' तथा 'दठ वंस' प्रभृति छोटी-छोटी रचनाओं के नाम ले सकते हैं। किन्तु संस्कृत में रचित 'जानकीहरण' के अतिरिक्त किसी अन्य ऐसे महाकाव्य का उल्लेख हमने नहीं सुना है, जिसकी रचना किसी स्थानीय विद्वान् ने की हो।

यद्यपि कुमारदास और उनकी कृति 'जानकीहरण' की ख्याति देश-विदेश में काफी फैली हुयी थी किन्तु सीलोन के बाहर के आधुनिक विद्वान् इस सम्राट् कवि और उसकी कृतियों के बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं। प्रोफ़ेसर पीटरसन ने 'बाम्बे रायल एशियाटिक सोसायटी' की पत्रिका में निम्न-लिखित श्लोकों को प्रकाशित किया है जो 'औचित्यालंकार', 'शार्ङ्गधर' पद्धति', और 'सुभाषितावली' में कुमारदास की कृतियों से बतलायी जाती है।

१. अयि विजहीहि दृढोपगूहनम्
    त्यज नवसंगमभीरुवल्लभम्।
अरुणकरोद्गम एष वर्तते
    वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः॥

२. पश्यन्हतो मन्मथबाणपातैः
    शक्ते विधातु न निमील्य चक्षुः।
ऊरू विधात्रा हि कृतौ कथंता—
    वित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः॥

३. शिशिरशीकरवाहिनि मारुते
    चरति वृष्टिभयादिव सत्वरः।
मनसिजः प्रविवेश वियोगिनी
    हृदयमाहितशोकहुताशनम्॥

४. भ्रान्त्वा विवस्वानिव दक्षिणाशा—
    मालम्ब्य सर्वत्र करप्रसारी।
ऋत्विक्ततो निःस्व इव प्रतस्थे
    वसूपलब्ध्यै धनदस्य वासम्॥

प्रस्तुत रचना में पहला श्लोक नहीं आता। सिंहल के सन्नग्रन्थों में इस श्लोक से मिलता-जुलता कोई अन्वयांश भी नहीं मिलता। दूसरा पहले सर्ग का उन्नीसवां श्लोक है, तीसरा नवें सर्ग का तिरसठवां श्लोक है, तथा तीसरे-चौथे श्लोक दूसरे वर्ग के हैं। यहां भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि तीसरे और चौथे श्लोक सर्वथा त्रुटिहीन नहीं हैं और उनके पाठ में भी प्रस्तुत संस्करण के पाठ से थोड़ा अन्तर है।

'अयि विजहीहि' आदि प्रथम श्लोक ग्यारहवीं सदी के एक कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र के 'औचित्यालंकार' में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं। उस श्लोक की चतुर्थ पंक्ति उज्ज्वलदत्त द्वारा समीक्षित महाभाष्य तथा उणादि सूत्र में आती है। प्रोफ़ेसर पीटरसन तथा प्रोफ़ेसर भण्डारकर के बीच हुये पतंजलि के तिथि-सम्बन्धी जोरदार विवाद में प्रोफ़ेसर पीटरसन ने उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख किया है और उसे कुमारदास के बाद का बतलाया है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि यह श्लोक सिंहलियों

कुछ विद्वान् इस मत पर अड़े हैं कि महाकवि कालिदास (भारत के शेक्सपियर) १९४६ वर्ष पूर्व उज्जयनी के सम्राट् विक्रमादित्य के दरबार में हुये थे। प्रोफ़ेसर तारानाथ तर्कवाचस्पति के प्रसिद्ध कोश 'वाचस्पत्यम्' में 'ज्योतिर्विदाभरण' के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिसके अनुसार कालिदास ने रघुवंश, कुमारसंभव तथा अन्य कविताओं के रचने के पश्चात् कलियुग वर्ष ३०६८ में अर्थात् १९२२ वर्ष पूर्व इस ज्योतिष-ग्रन्थ की रचना भी की थी। साधारणतः इतने निश्चित कथन से मान लेना चाहिये कि समस्या का समाधान हो गया, किन्तु फिर उसी पुस्तक में ऐसी बातें भी लिखी हुई हैं जिनसे विश्वसनीयता को आघात भी पहुँचता है। श्री भाऊदाजी ने रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित 'दि संस्कृत पोयट कालिदास' में इस बात का विस्तार से उल्लेख किया है, और दिखलाया है कि ज्योतिर्विदाभरण में शक् वर्ष से ४४५ घटा देने और फिर उसे ६० से विभाजित कर देने की अयनांश निकालने की प्रणाली उपर्युक्त सिद्धान्त का पूरा-पूरा खण्डन करती है। यह प्रश्न विवादास्पद है कि श्री भाऊदाजी को इस बात को सिद्ध करने में सफलता मिली कि नही कि कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति थे और वह काश्मीर के प्रशासक थे। हां, इतना अवश्य है कि उन्होंने इस बात को बलपूर्वक कहने का प्रयत्न किया है कि ६वीं शताब्दी के पूर्व न तो विक्रमादित्य, जिनकी सभा मे नवरत्न थे, हुये थे और न कालिदास ही।

टीकाकार रामदास के अनुसार 'सेतु-प्रबन्ध' की रचना कालिदास ने विक्रमादित्य नामक एक सम्राट् के अनुरोध पर की तथा जैसा कि कुछ अन्य तथ्यों के आधार पर कहा गया है उसकी रचना हुई थी प्रवरसेन नामक एक दूसरे सम्राट् के लिये। कहा जाता है कि सम्राट् प्रवरसेन विक्रमादित्य (श्रीहर्ष) के समकालीन और काश्मीर के नृपति थे और वृद्धावस्था में चीनी यात्री हुयेन त्सांग के भी समकालीन थे। इसीलिये प्रोफ़ेसर वेबर ने उन्हें ५०० तथा ६०० ई० के मध्य में ठहराया है और इस प्रकार उन्हें कुछ काल के लिये कुमारदास का भी समकालीन बतलाया है।

विचित्र बात है कि कुमारदास के समकालीन एक भोजराज भी थे। धर्मकीर्ति महास्थविर द्वितीय द्वारा, लंका मे रचित 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म' मे इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया मिलता है। और यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि एक कालिदास भोजराज के दरबार की शोभा थे। 'मेघदूत' और 'शब्दार्थरत्न' उन्ही की रचनायें प्रतीत होती हैं। शब्दार्थ रत्न की समाप्ति कुछ इस प्रकार होती है—'इतिश्री कालिदास विरचित नानार्थ शब्द रत्न...निबन्धनम् समाप्तम्।' इस रचना पर किये गये निचुल के "तरल" शीर्षक भाष्य में अध्यायों की समाप्ति इस प्रकार होती है—इति श्रीमन्महाराजभोजराजप्रबोधितनिचुलकवियोगिना निर्मितायां महाकविकालिदासकृतनानार्थ शब्द-रत्न...दीपिकायाम् तरलाख्यायाम्...निबन्धनम्।" इस तथ्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि भोजराज और निचुल समकालीन रहे होंगे। मेघदूत के तेरहवें श्लोक तथा उस पर मल्लिनाथकी टीका के अनुसार कालिदास और निचुल मित्र थे। उससे यह सिद्ध होता है कि भोजराज और मेघदूत के रचयिता कालिदास समकालीन थे।

संक्षेप में इस प्रस्तुत रचना पर थोड़ी सी बातें और कहने के पश्चात् इस भूमिका को समाप्त कर दिया जायेगा। इस काव्य का पुर्ननिर्माण, लेखक ने विद्यालंकार कालेज के प्रिंसिपल अपने पुज्य गुरु स्वर्गीय श्री आर० धर्मालोक महास्थविर के अनुरोध पर किया है जिनका ख्याल था कि यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों के लिये इतना ही उपादेय होगा जितना 'रघुवंश' अथवा भारतवर्ष की अन्य महान् काव्य कृतियां हैं। उन्ही दिनों उन्हें कैन्डी के मुखिया पतिनुवर के रतेमहामाय गिरगाम दिव्याक्षदान निलमे का एक पत्र मिला जिसमें उनसे कृति को सम्पूर्ण करने का अनुरोध किया गया था और मन्तव्य प्रकट किया गया था कि इस कृति से संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों का ही भला

नहीं होगा, वरन् उससे प्राचीन काल में सिंहल द्वीप में फैली हुई प्राचीन विद्या-सम्पदा का भी परिचय प्राप्त होगा । इस अनुरोध के फल-स्वरूप उन्होंने श्लोकों के पुनर्निर्माण और सिंहली में किये गये उसके भाष्य को पुनः संशोधित किया। जनता के सामने इस कृति का वही रूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस पुस्तक की रचना में जिन सन्न ग्रन्थों की सहायता ली गई है उनमें कृति का कथानक अपूर्ण है। पन्द्रहवें सर्ग के २९वें श्लोक और कृति के अन्तिम पद के बीच का स्थान रिक्त है। परन्तु यहाँ हमारा लक्ष्य सिंहली सन्न के आधार पर काव्य को पूर्ण करना था। इसलिये जहाँ जहाँ सन्न ग्रन्थो से उपलब्ध सामग्री रचना को पूर्ण करने के लिये पर्याप्त नही थी वहाँ वहाँ लेखक ने उन अक्षरों और शब्दों का सहारा लिया है जो शब्द अनुकूल प्रतीत हुये। ऐसे सारे स्थल कोष्ठकों में बन्द कर दिये गये हैं।

इस पुस्तक का लेखक और पाठक श्रीयुत सी० यच० डी० सूजा (जस्टिस आफ़ पीस) के प्रति आभारी है जिन्हें जब इस रचना के इतिहास और उपयोगिता की बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने स्वाभाविक विद्यानुरागवश उसके प्रकाशन का समस्त व्यय सहर्ष वहन किया। लेखक प्रोफेसर पीटरसन तथा माऊदाजी का भी आभारी है जिनकी रचनाओं से उसने ऊपर उद्धरण दिये हैं।

इस ग्रन्थ का लेखक इस बात का भी सहर्ष उल्लेख करना चाहता है कि इसकी रचना मे वह बौद्ध पुस्तकालय और गवनमेंण्ट ओरियेण्टल पुस्तकालय कोलम्बो में संकलित कुछ दुष्प्राप्य एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों का भी अवलोकन करने का सुयोग प्राप्त कर सका है।

अन्त में लेखक अपने शिष्य श्री डी० बी० जयतिलक (हेड मास्टर बौद्ध हाई स्कूल, कैन्डी) के प्रति भी आभार प्रकट करता है जिन्होंने इस भूमिका की प्रति तैयार की।

—के० डी०

कुछ विद्वान् इस मत पर अड़े हैं कि महाकवि कालिदास (भारत के शेक्सपियर) १९४६ वर्ष पूर्व उज्जयनी के सम्राट् विक्रमादित्य के दरबार में हुये थे। प्रोफ़ेसर तारानाथ तर्कवाचस्पति के प्रसिद्ध कोश 'वाचस्पत्यम्' में 'ज्योतिर्विदाभरण' के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिसके अनुसार कालिदास ने रघुवंश, कुमारसंभव तथा अन्य कविताओं के रचने के पश्चात् कलियुग वर्ष ३०६८ में अर्थात् १९२२ वर्ष पूर्व इस ज्योतिष-ग्रन्थ की रचना भी की थी। साधारणतः इतने निश्चित कथन से मान लेना चाहिये कि समस्या का समाधान हो गया, किन्तु फिर उसी पुस्तक में ऐसी बातें भी लिखी हुई हैं जिनसे विश्वसनीयता को आघात भी पहुँचता है। श्री भाऊदाजी ने रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित 'दि संस्कृत पोयट कालिदास' में इस बात का विस्तार से उल्लेख किया है, और दिखलाया है कि ज्योतिर्विदाभरण में शक वर्ष से ४४५ घटा देने और फिर उसे ६० से विभाजित कर देने की अयनांश निकालने की प्रणाली उपर्युक्त सिद्धान्त का पूरा-पूरा खण्डन करती है। यह प्रश्न विवादास्पद है कि श्री भाऊदाजी को इस बात को सिद्ध करने में सफलता मिली कि नहीं कि 'कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति थे और वह काश्मीर के प्रशासक थे। हाँ, इतना अवश्य है कि उन्होंने इस बात को बलपूर्वक कहने का प्रयत्न किया है कि ६वीं शताब्दी के पूर्व न तो विक्रमादित्य, जिनकी सभा में नवरत्न थे, हुये थे और न कालिदास ही।

टीकाकार रामदास के अनुसार 'सेतु-प्रबन्ध' की रचना कालिदास ने विक्रमादित्य नामक एक सम्राट् के अनुरोध पर की तथा जैसा कि कुछ अन्य तथ्यों के आधार पर कहा गया है उसकी रचना हुई थी प्रवरसेन नामक एक दूसरे सम्राट् के लिये। कहा जाता है कि सम्राट् प्रवरसेन विक्रमादित्य (श्रीहर्ष) के समकालीन और काश्मीर के नृपति थे और वृद्धावस्था में चीनी यात्री हुयेन त्सांग के भी समकालीन थे। इसीलिये प्रोफ़ेसर वेबर ने उन्हे ५०० तथा ६०० ई० के मध्य में ठहराया है और इस प्रकार उन्हें कुछ काल के लिये कुमारदास का भी समकालीन बतलाया है।

विचित्र बात है कि कुमारदास के समकालीन एक भोजराज भी थे। धर्मकीर्ति महास्थविर द्वितीय द्वारा, लंका में रचित 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म' में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया मिलता है। और यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि एक कालिदास भोजराज के दरबार की शोभा थे। 'मेघदूत' और 'शब्दार्थरत्न' उन्हीं की रचनायें प्रतीत होती है। शब्दार्थ रत्न की समाप्ति कुछ इस प्रकार होती है—'इतिश्री कालिदास विरचित नानार्थ शब्द रत्न. . .निबन्धनम् समाप्तम्।' इस रचना पर किये गये निचुल के "तरल" शीर्षक भाष्य मे अध्यायों की समाप्ति इस प्रकार होती है—इति श्रीमन्महाराजभोजराजप्रबोधितनिचुलकवियोगिना निर्मितायां महाकविकालिदासकृतनानार्थ शब्द-रत्न. . .दीपिकायाम् तरलाख्यायाम्. . .निबन्धनम्।" इस तथ्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि भोजराज और निचुल समकालीन रहे होंगे। मेघदूत के तेरहवें श्लोक तथा उस पर मल्लिनाथकी टीका के अनुसार कालिदास और निचुल मित्र थे। उससे यह सिद्ध होता है कि भोजराज और मेघदूत के रचयिता कालिदास समकालीन थे।

संक्षेप में इस प्रस्तुत रचना पर थोडी सी बातें और कहने के पश्चात् इस भूमिका को समाप्त कर दिया जायेगा। इस काव्य का पुनर्निर्माण, लेखक ने विद्यालंकार कालेज के प्रिंसिपल अपने पूज्य गुरु स्वर्गीय श्री आर० धर्मालोक महास्थविर के अनुरोध पर किया है जिनका ख्याल था कि यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों के लिये इतना ही उपादेय होगा जितना 'रघुवंश' अथवा भारतवर्ष की अन्य महान् काव्य कृतियाँ हैं। उन्ही दिनों उन्हें कैन्डी के मुखिया यतिनुवर के रतेमहामा म गिरगाम दिव्यावदान निलमे का एक पत्र मिला जिसमे उनसे कृति को सम्पूर्ण करने का अनुरोध किया गया था और मन्तव्य प्रकट किया गया था कि इस कृति से संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों का ही भला

के सन्न में (टीका) उद्धृत नहीं किया गया है और यदि इस सम्बन्ध में अभी कोई दूसरा श्लोक सामने नहीं आता तो कहा जा सकता है कि यह कुमारदास की ही किसी खोई हुई रचना का कोई अंश होगा। उज्ज्वलदत्त, जिसने एक दूसरे स्थल पर कुमारदास की चर्चा करते हुये इस कविता का उल्लेख किया है, यहाँ पर बस इतना ही कहता है... "सम्युद्विहृतस्वरवे यरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः इति वृत्तिः।" फिर गंगादास की 'छन्दोमंजरी' इस छन्द को भारवि का बताती है। इन तथ्यों पर विचार करते हुये, क्षेमेन्द्र के कथन को भ्रमपूर्ण न कहने का अवसर नहीं रह जाता।

दूसरे और तीसरे श्लोक 'शार्ङ्गधर पद्धति' तथा चौथा 'सुभाषितावली' में आते हैं। उज्ज्वलदत्त ने 'उणादि सूत्र' में शाकटायन के सूत्र 'कृधोमवृद्भ्यः कित्' का उदाहरण देते हुये ग्यारहवें सर्ग के इकहत्तरवें श्लोक की प्रथम पंक्ति को इस प्रकार उद्धृत किया है—'महियमूसरितः सरित्तटं इति जानकीहरणे यमकम्।' केदार भट्ट ने 'वृत्तिरत्नाकर', के पुराने सिंहली रूपान्वय में पहले सर्ग के दूसरे श्लोक की पहली दो पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की हैं।

प्रोफेसर पीटरसन के अनुसार राजशेखर की कृति के रूप में मान्य निम्न-लिखित श्लोक जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' में प्राप्त है।

"जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति,
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ।

इस दुहरे अर्थवाले सूत्रात्मक पद से प्रतीत होता है कि 'जानकीहरण' की रचना 'रघुवंश' की रचना के बाद हुई होगी और उसकी ख्याति भी कालिदास की प्रख्यात रचना से कम नहीं रही होगी।

यद्यपि उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर अब स्पष्ट हो गया होगा कि 'जानकीहरण' यहाँ के और भारत के प्रायः सभी पुराने पंडितों में काफ़ी लोकप्रिय रहा होगा किन्तु दुर्भाग्यवश उसके श्लोकों का मूल रूप आज उपलब्ध नहीं है। गवर्न्मेंट ओरियेण्टल लाइब्रेरी द्वारा नियोजित प्राचीन पाण्डुलिपियों के अन्वेषण में केवल उसका सिंहली सन्न ग्रन्थ उपलब्ध हुआ था। कोई ऐसा आधार भी सामने नहीं है जिसके बल पर अनुमान किया जा सकता कि इस काव्य का मूल-रूप भारतवर्ष में अब भी कहीं है।

सिंहलीय सन्न द्वारा प्रदत्त सामग्री के आधार पर पुनर्निर्मित इस कृति के बारे में पाठकों की दृष्टि से स्थिति अब तक स्पष्ट हो गयी होगी। किन्तु विषय के इस पक्ष पर विचार करने के पहले हम एक ऐसी घटना की ओर आपका ध्यान ले जाना चाहते हैं जो स्वयं में बहुत रोचक इसलिये है कि उससे सम्राट कुमारदास के जीवन पर प्रकाश तो पड़ता ही है, उसके चारों ओर रहस्य का जो भारी आवरण है उसके बारे में भी हमें बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। पिछले पृष्ठों पर इन बातों की ओर संकेत किया जा चुका है कि कुमारदास और कवि कालिदास में मैत्री थी और कुमारदास ने कवि कालिदास के लिये अपने जीवन की आहुति दे दी थी। इस छोटी सी भूमिका में यह सम्भव नहीं कि इस दुखद घटना का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाय। हाँ, छोटी-मोटी बातें उन जिज्ञासु पाठकों के लिए बतलायी जा सकती हैं जो अभी तक इस द्वीप की प्राचीन परम्परागत कथाओं से अनभिज्ञ हैं। संक्षेप में कहानी इस प्रकार है—

सम्राट एक ऐसी स्त्री के घर जाया करते थे जिस पर वे आसक्त थे। एक दिन उन्होंने उसके घर की दीवार पर निम्नलिखित पंक्ति लिख दी—

'पद्मं पद्मेनोद्भूतम् श्रूयते न च दृश्यते ।'

(यह सुना गया है किन्तु देखा नहीं गया है कि एक कमल से दूसरा (नया कमल) उत्पन्न होता हो।)

और, इन पंक्तियों के नीचे उन्होंने इस बात के लिए सूचना भी लिख दी थी कि जो कोई भी इन पंक्तियों को पूरा करेगा उसे पुरस्कार दिया जायगा। संयोगवश कालिदास, जो उन दिनों उस सम्राट् कवि से मिलने आए हुए थे और जिनकी रचनाओं को भारत में उन्होंने देखा था, उसी स्त्री के घर में सन्ध्या के समय टिक गए हैं और दीवार पर उन पंक्तियों को अकस्मात् देखकर उसकी पूर्ति इस प्रकार की—

'बाले तव मुखाम्भोजात् त्वमेन्द्रेन्दीवरद्वयम् ॥'

(हे युवती, तुम्हारे मुख कमल में तुम्हारी ही नीली आँखों के दो इन्दीवर खिले हुए हैं)। और, हुआ यह कि जिस स्त्री के लिए प्रशंसा रूप में ये पंक्तियाँ लिखी गई थीं उसने पुरस्कार पाने की आशा में कालिदास को उस रात्रि मार डाला और उनका शव छिपा दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब सम्राट् उसके यहाँ गये तो उसने उन दो पंक्तियों की पूर्ति को अपनी बनाई कृति कह कर पुरस्कार माँगा। किन्तु कुमारदास को उन पंक्तियों के पीछे कोई सच्चा महाकवि दिखलाई दिया। इसलिए उसने उस स्त्री पर विश्वास नहीं किया, और उसने उससे असली रचनाकार को बतलाने के लिये विवश किया। धमकी देने पर उस हत्या करने वाली स्त्री ने अपने जुर्म को स्वीकार कर लिया। और जब कालिदास का शव सामने लाया गया तब सम्राट् के दुख और क्रोध की कोई सीमा न रही। उसने उस प्रख्यात कवि की समुचित अन्त्येष्टि की आज्ञा दी और जब चिता दहकायी गई तब वह उदारचरित सम्राट दुख से आक्रान्त हो उछल कर अग्नि में कूद पड़ा और ज्वाला ने अपने कविबन्धु के साथ उन्हें तुरन्त भस्म कर डाला। उसके बाद सम्राट की पाँच रानियाँ भी तुरन्त जल मरीं। सिंहल द्वीप में प्रचलित रीति के अनुसार उन सबके सात स्मारक बनवाये गये और दाह-स्थलों पर सात वट वृक्ष लगा दिये गये। कहा जाता है कि उन दिनों सम्राट कुमारदास मातर में रहा करते थे और यह दुखद घटना भी वहीं घटी थी। नगर की सीमा के भीतर ही एक ऐसा स्थान है जिसे सात बो-वृक्षों की वाटिका हठोविट्ट कहते हैं। परम्परागत किम्बदन्ती के अनुसार ये दुखद घटनायें वहीं घटी थीं।[1]

इस कहानी में सच्चाई का अंश कहाँ तक है इसे स्वयं पाठक समझें। हमारा विचार तो यह है कि यह बिलकुल निराधार कदापि नहीं हो सकती। इन पंक्तियों के पाठक अपना निष्कर्ष जो चाहे निकालें, हम केवल यह कहते हैं कि कुमारदास के समय में कालिदास नामक एक कवि भी जीवित थे।[2] और जैसा कि ज्ञात है कि कालिदास नामक कवि एक से अधिक हुए हैं यहाँ यह कहना कठिन है कि उस समय का कालिदास कौन था? स्वयं कालिदास के जीवन और तिथि के सम्बन्ध में लिखने वाले विद्वानों में इस विषय पर भारी मतभेद है और कालिदास के नाम से सम्बद्ध विक्रमादित्य तथा भोज आदि नामों के व्यक्ति भी इतने अधिक हैं कि उनसे गुत्थी सुलझने के बजाय और अधिक उलझ जाती है।

---

१. एक बड़ी मनोरंजक बात यह है कि मैसूर में भी एक वैसी ही कहानी प्रचलित है जिसके अनुसार भोज और कुमारदास को एक ही व्यक्ति समझा गया है और कालिदास वहाँ भी एक वेश्या द्वारा इन्हीं परिस्थितियों में मारे जाते हैं। किन्तु वहाँ भोज कुमारदास की तरह अपने जीवन की आहुति देने की बात नहीं सोचता।

२. कालिदास गणक, शत्रु पराभव के रचयिता। जगन्नाथ मिश्र आधुनिक कालिदास, भामिनी विलास के रचयिता।

दि जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी आव ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड
१९०१, पृष्ठ २५३

लेख—९ कुमारदास कृत-जानकीहरण

एफ़० डबल्यू० टामस

इस काव्य को बहुत थोड़े से लोग जानते हैं। इसका इतिहास बड़ा विलक्षण है। इसकी कोई भी हस्त-लिखित प्रति अभी तक नहीं मिली है। भारत में इसके अस्तित्व के चिह्न केवल इतने हैं कि उसके कुछ श्लोक संस्कृत के दो कविता-संग्रहों में पाये जाते हैं। एक तो शार्ङ्गधर पद्धति और सुभाषितावली में और दूसरे क्षेमेन्द्र के औचित्य विचार चर्चा में। और इस काव्य के प्रणेता का नाम राजशेखर के एक प्रख्यात श्लोक में कालिदास के साथ लिया गया है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ।

सिंहलीय वाङ्मय ने इस काव्य के पहिले चौदह सर्ग और पन्द्रहवें सर्ग के अंश का एक सन्न सुरक्षित रखा है। इसमें श्लोकों के प्रत्येक शब्द की टीका दी गई है, जिससे शब्दों को यथा-स्थान बैठा कर एक ग्रंथ का प्रस्तुत करना सम्भव हो सका है। यह मूल ग्रन्थ से अधिक भिन्न नहीं हो सकता। इसका निर्माण सर्वप्रथम एक सिंहलीय पण्डित ने जेम्स डी अलविस के लिये किया था, जिन्होंने अपनी पुस्तक, 'सीलोन के संस्कृत, पालि एवं सिंहलीय साहित्यिक ग्रन्थों की वर्णनात्मक सूची' में पृष्ठ १९१-१९२ पर उदाहरणार्थ ऐसे दस श्लोकों को दिया है जो प्रकाश में आये हैं। परन्तु जितने भी बचे हुए हैं, उनके उद्धार के लिये, हम के० धर्माराम स्थविर के आभारी हैं। सन् १८९१ में इस विद्वान् ने सीलोन के पेलिय गोड में, सन्न संयुक्त मूल ग्रन्थ का अपनी उत्कृष्ट भूमिका सहित, प्रकाशन किया। यह कृति आद्योपान्त सिंहलीय लिपि में है। परन्तु सन् १८९३ में एक संस्करण कलकत्ते से नागरी लिपि में छपा जिसका सकलन थोड़ी-थोड़ी टिप्पणियों के साथ जयपुर स्टेट के शिक्षा विभाग के संचालक स्वर्गीय पण्डित हरिदास शास्त्री एम० ए० ने किया, जिसे उनके निधन के बाद जयपुर-संस्कृत-कालेज के अध्यक्ष कालिपद बन्दोपाध्याय ने प्रकाशित किया। इसकी (जो स्वतंत्र पुनर्निर्माण का मूल्य नहीं रखता) समीक्षा प्रोफेसर राइज डेविड्स ने १८९४ के इसी जर्नल में पृष्ठ ७२३—७२४ पर की है। धर्माराम के संस्करण का उल्लेख 'ओरियंटलिस्ट' के जिल्द ४, पृष्ठ ७८ पर है और प्रोफ़ेसर लेनमान ने 'वियना ओरियंटल जर्नल', जिल्द ७, १८९३, पृष्ठ २२६—२३२, पर इस काव्य की मीमांसा करने में उसका उपयोग किया है।

दो बातें कुमारदास के काव्य को विशेष महत्व प्रदान करती हैं। पहिली है स्वदेशीय किम्वदन्ती जिसका गम्भीरता से प्रतिवाद नहीं किया गया है और जिसे गीगर ने अपनी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक में, जो उन्होंने सिंहलीय भाषा और साहित्य पर लिखी है, स्वीकार किया है। इसके अनुसार इस काव्य के निर्माता कुमारदास अथवा कुमार धातुसेन ही वह व्यक्ति हैं जिन्होंने सीलोन पर इसवी ५१७ से ५२६ तक राज्य किया था। इस प्रकार यह सीलोन की सर्वप्रथम कृति हुई। दूसरी एक

किम्वदन्ती चली आई है जो उन्हें कालिदास का मित्र और समकालीन बतलाती है। इसकी विशेष व्याख्या के लिये, के० धर्माराम की भूमिका एवं १८८८ के इस जर्नल के पृष्ठ १४८–१४९ पर राइज डेविड्स के लेख की ओर निर्देश करना पर्याप्त होगा। इन कारणों से और इस कारण से भी कि यह काव्य कठिन शैली में लिखा गया है, जो किसी संस्कृत टीका के न होने के कारण क्लिष्टतर हो गया था, मैंने यह उचित समझा कि इसकी अनेक असामान्यताओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करूँ। पाठक को इस लेख के साथ एक परिशिष्ट भी मिलेगा जिसमें काव्य में वर्णित विषय का संक्षिप्त परिचय मिलेगा। अनुभव बतलाता है कि ऐसा संक्षिप्त परिचय उन काव्यों के सम्बन्ध में भी कुछ उपयोगी होता है जो इस काव्य से भी अधिक प्रख्यात हैं।

ऐसे काव्य के मूल पर जिसमें जटिल छन्द हैं और जो एक टीका के टुकड़ों को जोड़ जोड़ कर बनाया गया है, कितना भरोसा किया जा सकता है? प्रोफेसर लेनमान, जिन्होंने अपने उपर्युक्त लेख में इस प्रश्न की समीक्षा की है, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "जितनी आशा की जा सकती थी उससे अधिक ये नगण्य पाठान्तर मूल के ठीक होने को प्रमाणित करते हैं।" यह निष्कर्ष जो लिये हुए सात श्लोकों (१–२९ और ३२, ३–२, ९–१२, ११–१६३–७१ और ९२) पर आधारित है, निर्विवाद है, हालाँकि यह बात कि जोड़–जोड़ कर मूल तैयार करने वाले को इनमें से चार श्लोक पहिले ही से मालूम थे, उलझन डाल देती है। दो प्रकार के पाठान्तर हैं। एक जो कि सम्पादक को सन्न में दिये हुए शब्दों को मूल से भिन्न क्रम में लाचारी से करना पड़ा और दूसरा सन्न में ही पाठान्तर के कारण। पहिले वाला ९–१२ से स्पष्ट है और दूसरे के अनेक उदाहरण हैं जिनमें से मैं केवल एक का यहाँ उल्लेख करूँगा जो इस प्रकार है :

शार्ङ्गधरपद्धति	धर्माराम
पश्यन् हतो मन्मथ बाणपातैः	तस्याहतम्मन्मथबाणपातैः
शक्तो विधातुं न निमील्य चक्षुः।	शक्यं विधातुन्न निमील्य चक्षुः।
ऊरू विधात्रा हि कृतौ कथं ता–	ऊरू विधात्रा नु कृतौ कथं ता–
वित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः।	वित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः।

जैसा कि प्रोफेसर लेनमान ने बताया है कि सन्न में 'विधात्रा' के स्थान पर 'धात्रा' है और एक शब्द 'दृष्ट्वा' है जिसके लिये धर्माराम मूल में कोई स्थान नहीं दे सके। दूसरी कठिनता का समाधान हरिदास शास्त्री ने उस शब्द को 'तस्याः' के स्थान पर रखकर उसका विश्लेषण 'दर्शने सति' करते हुए कर दिया। अब यह तो निश्चित है कि शार्ङ्गधर पद्धति में जो पाठ है उसी से ठीक-ठीक भाव निकलता है अर्थात् जैसा मैंने उसे अलग अलग करके दिया है · "अगर वे देखते तो कामबाण से विद्ध हो जाते : आँख मूंद कर वे बना नहीं सकते थे तो फिर ब्रह्मा ने उसके जघनों को बनाया तो कैसे बनाया, इस प्रकार बुद्धिमान लोग भ्रम में पड़ गये।" यहाँ पर साहित्यिक तर्क उचित रीति से किया गया है और उसकी व्याख्या का भाव वैसा ही है जैसा आफरेख्त और लेनमान ने किया है : "किसी भी बुद्धिमान् को भ्रम होना ठीक ही है कि विधाता उसके जघनों को किस प्रकार बना सकते थे : बिना आँख मूँदे वे उन्हें बना नहीं सकते थे और यदि वे देखते तो वे तुरन्त काम के बाणों से विद्ध हो जाते।" फिर भी मेरी समझ में उपर्युक्त पाठ 'हतो' और 'शक्तो' को क्रिया मानने से अवश्य ही श्रेष्ठतर हो जाता है। और अब अर्थ भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। 'हतो' के स्थान 'हतम्' अवश्य ही अशुद्ध है। इसके अतिरिक्त चूँकि 'पश्यन्' और 'दृष्ट्वा' पाठान्तर हैं, दोनों के बीच बीच में संदेह हो सकता है और मेरा सुझाव है कि दोनों ही की व्युत्पत्ति मूल 'दृष्ट्वा' से हुई है और

'तस्याः' 'पश्यन्' की विकृत रूप है। अब रहा 'शक्यम्' और 'शक्तो'। फिर इनमें चुनने की स्वतंत्रता है। लेकिन जब हम देखते हैं नपुंसक लिंग, 'हतम्' पाठ के लिये उपयुक्त होगा और बिना किसी लिंग के 'शक्यम्' का प्रयोग खास तौर से अलंकार ग्रंथों (वामन ५.२.२५) से अनुमोदित है और फिर, जैसा कि हम आगे कहेंगे कुमारदास व्याकरण के असाधारण प्रयोगों के भक्त थे, तो हमको इस विचार की ओर झुकना पड़ता है कि उन्होंने इसी शब्द का प्रयोग किया होगा। 'धात्रा' और 'विधात्रा' के प्रश्न पर, 'हि' और 'नु' (उरू विधात्रा नु कथं कृतौ तौ) को मैं विशेष न कहूँगा, परन्तु केवल यह निष्कर्ष निकालूँगा कि काव्य के अनेक स्रोतों के कारण साधारण पाठान्तर हुए हैं जिसमें खास-खास पाठान्तर पुनःनिर्माणकर्ता के कारण हुए हैं। प्रोफ़ेसर लेनमान ने भी और अधिक सम्र की हस्त-लिखित प्रतियों के प्राप्त करने की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

सौभाग्य से हमारे लिये यह सम्भव है कि अन्य श्लोकों की सहायता से, जो सम्पादक को नहीं मालूम थे, हम काव्य के पुनर्निर्माण की जाँच को जारी रखें, क्योंकि सुभाषितावली में कई श्लोक ऐसे हैं जो किसी एक कवि कुमारदत्त के कहे गये हैं और ये सब श्लोक जानकी हरण में मिलते हैं। इन दोनों कवियों का एक ही व्यक्ति कुछ महत्व रखता है, जब तक कुमार दत्त के सम्बन्ध में और कुछ बातें न मालूम हो जाय। अब मैं उन श्लोकों को और उसी ग्रन्थकर्ता के लिखे हुए एक 'अज्ञात' श्लोक को, उद्धृत करता हूँ :

कुमारदत्त	जानकीहरण
विमलमम्बु निपीय नवोद्गतैः सलिलभारनिरन्तरितोदरः। कलममिवानुभवन्नतिपानजं गिरितटे निपसाद पयोधरः॥	में है, विमलवारि, नवोद्गतं और, अभिभवन् (११-५३)।
भुवनवृष्टि निरोधकरं कृतं रविकरानुपलभ्य मया तमः। विलसितेन निहन्ति मुहुर्मुहु- स्तडिदितीव रराम रुषा घनः॥	रविकरानुपलभ्य कृतं मया भुवनदृष्टिनिरोधितमस्तडित् विलसितेन निहन्ति मुहुर्मुहु- र्घन इतीव रराम रुषा घनः।
नववियोधमनोहरकेतकी- कुसुमगर्भगतः सह कान्तया। अविदितानिलवृष्टिभयागमः सुखमशेत चिराय शिलीमुखः॥	वैसा ही (११-७३)।
विषमवृष्टि हतोऽपि दवानले भ्रमरधूतिभृतोऽपि वनावलीः। समभिवीक्ष्य कृशानुसमप्रभा न मुमुचुर्भयमेव मृगाङ्गनाः॥ सुभाष, १७५१-५।	समयवृष्टिहतेऽपि दवानले भ्रमरधूमभृतानवलाङ्गलीः। समभिवीक्ष्य कृशानुसमप्रभा मुमुचुरेव भयं न मृगाङ्गनाः॥ (११-७५)।
मणिप्रभेषु प्रतिबिम्बशोभया निमग्नया बालशशाङ्कलेखया। बिसांकुरो वारिषु वञ्चितात्मना न राजहंसेन पर्नावचिच्छिदे॥	पाठ मृगाङ्क है। विचिच्छिदे वारिषु वञ्चितात्मना राजहंसेन पुनर्बिसांकुरः।

कुमारदत्त	जानकीहरण
कस्यापि लीलागतिर्यत्र निसर्गसिद्धा मत्तो न दन्ती मुषितो न हंसः । इतीव जङ्घायुगलं तदीयं चक्रे तुला कोट्यधिरोहणानि ॥ सुभाष, १५५९ ।	पाठ है गतेरत्र (१–२८) ।

इन श्लोकों के वे ही लक्षण हैं जैसे कि पहिले वाले का दूसरे, तीसरे, पाँचवें और छठें क्रम की मिलता है। सिवाय चौथे के और में पाठान्तर है और वे भी समानता के साथ एक मूल पाठ अथवा दूसरे मूल पाठ के पक्ष में नहीं हैं। पहिले श्लोक का जो पुनर्निर्माण किया गया है वह अधिक सीधा-सादा है और उसकी पुष्टि ११–५८ से होती है जिसमें वह उसी प्रकार आता है और जिसका आरम्भ 'विमलवारि निपीतवतो भृशं' से होता है। उसी भाव को थोड़े दूसरे शब्दों में दोहराना कुमारदास की शैली की एक विलक्षण और बहुधा पायी जाने वाली विशेषता है। दूसरा उदाहरण पाँचवें श्लोक में मिलेगा। यह 'विषम' पाठ अधिक ग्राह्य है; परन्तु दूसरी पंक्ति में धर्माराम का पाठ निश्चय ही अधिक उपयुक्त है सिवाय इसके कि 'भृतो' पाठ होना चाहिये। क्योंकि (१) काले भृङ्गों के सहित लाल लांगली–पुष्प की तुलना अग्नि और धुएँ से की गई है (२) 'भ्रमर धूलि असंगत वाक्य है और एक हस्तलिखित प्रति में 'धूम' है। (३) दूसरे 'अपि' के लिये कोई स्थान नहीं है और (४) सम्पूर्ण भाव ५–७२ में भी आया है—

> समरोचत लाङ्गली
> समुदितेव कृशानु शिखावली ।

और ११–८० में—

> समुदयो नु विकाशकृतद्युते–
> र्विततवह्निशिखाकुसुमश्रियः ।

यहाँ वह्निशिखा=लांगली की तुलना बिजली से की गयी है। सिंहलीय प्रति के दूसरे श्लोक में दो बार 'घन' का प्रयोग क्षति पूर्ति के हेतु किया गया मालूम पड़ता है और तीसरे में 'दिशि' मुझे अधिक ग्राह्य है। इस अन्त वाले पाठ में केवल एक ही शंका है कि ११–५१ में भी 'दिशि' है जिसका अर्थ स्पष्टतया 'आकाश में' जान पड़ता है। यही अर्थ इष्ट था। इससे स्पष्ट है कि 'ताम्रविलोचन' (ताम्राक्ष) 'कौवा' में श्लेष है और कौवे ऊपर (दिवि) रहते हैं, चारों ओर (दिशि दिशि) नहीं। लेकिन सम्भवतः कुमारदास ने यह सोचा होगा कि 'दिवि' के इस अर्थ के लिये १४–४४ में प्रमाण है।

इस समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि सिंहलीय पाठ में तथा अन्य कविता संग्रहों में, दोनों ही में अच्छे और बुरे पाठ हैं। पूर्ण रीति से प्रामाणिक काव्य का पुनर्निर्माण केवल सन्न के आधार पर कभी सम्भव नहीं हो सकता और हमें अपनी आशाओं को किसी भारतीय हस्तलिखित पोथी के मिलने ही पर केन्द्रित करना पड़ेगा। तब तक एक भी नया श्लोक यदि और प्रकाश में आवेगा तो वह एक महत्वपूर्ण ज्ञानवृद्धि होगी।

पाठान्तरों के प्रश्न को छोड़ने के पहिले मैं उन पद्यांशों की ओर ध्यान आकृष्ट करूँगा जो हरिदास एवं सिंहलीय संस्करण में हैं और जिनके संशोधन की आवश्यकता है :

(१) १–४ 'स्खलितेन्दुसृष्ट' ठीक है। धर्माराम का '०एन्द्र' नहीं।
(२) १–८५ 'धामिनं' ठीक है। धर्माराम का 'आं' नहीं।
(३) २–१७ 'निर्माण' हरीदास ने सम्भवतः सिंहलीय लिपि में 'निर्वाण' ग़लत पढ़ा।
(४) २—६९ कथितागमः ठीक है। कठिनागमः। उपयुक्त कारण।
(५) २—७५ 'कुक्षिस्थनिःशेषलोक' वर्ण-मात्रा में ठीक नहीं आता।
(६) ५—७ प्रमिज्यमानं शनकैस्तपस्विभिः
कुशस्य मुष्टयाऽनलमन्दिरोदरम्।

के स्थान पर—

कुशस्य मुष्ट्या शनकैस्तपस्विभिः
प्रमृज्यमानानलमन्दिरोदरम् ॥

क्योंकि बहुव्रीहि की आवश्यकता है।

(७) ५–३८ कुरङ्गमे के स्थान पर धर्माराम का 'तुरङ्गमे' पढना चाहिये; और ५–२३ विलोकयद्भिः 'दिद्व' के स्थान पर।
(८) ५–४३ : 'अपर्वाणतं' छापने की गलती है। होना चाहिये 'अपर्वजितं'।
(९) ७–५६ हर्येः के स्थान पर धर्माराम का 'हर्ये' पढ़िए।
(१०) ८–६. 'सङ्गिनीः के स्थान पर 'सङ्गिनी' धर्माराम का पाठ ठीक है।
(११) ९–६७–८ विचित्र है। धर्माराम और हरिदास शास्त्री दोनों ही बतलाते हैं कि केकय राजकुमार का नाम 'सुधाजित्' है। लेकिन यह सिंहलीय लिपि के स और य में बहुत-कुछ समानता होने के कारण भ्रान्ति हुई है।
(१२) ११–४५ इस प्रकार पढ़िए—

अतनुनाऽतनुना घनदारुभिः
स्मरहितं रहितं प्रदिधक्षुणा।
रुचिरभा चिरभा सितवर्त्मना
प्रज्वलिता खचिता न न दीपिता ॥

"प्रचण्ड काम (अतनु) से तिरस्कृत प्रेमी को जला डालने की उत्सुकता से, आकाश की चिता, जिसमें घनरूपी लकड़ी लगी थी, चमचमाती हुई बिजली की आग से जलायी गई।

(१३) १३–४६—'मृगनर्महितो' और 'जनित यशसो' के स्थान पर धर्माराम का–'तौ' और 'सौ' पढ़िए।
(१४) १४–७८—'मृगलक्षणः' के स्थान पर धर्माराम का—'लक्ष्मणः' पढ़िए
(१५).१२–११—'महोभुजस्सुतो' ('सुता' के स्थान पर) ठीक जंचता है। और १३–४० (० दम के स्थान पर 'सम्मदः' उपयुक्त है।

इस काव्य की विशेषता उसकी व्याकरण एवं शब्दकोश की विलक्षणताओं में है, और जैसा कि भट्टिकाव्य में इस प्रकार की विद्वत्ता दिखलाना एक ध्येय था—हम देखते हैं कि न केवल बड़ी संख्या मे ऐसे असाधारण शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनको कोई नहीं जानता था वे

केवल व्याकरण-ग्रंथों और कोशों में पाये जाते हैं बल्कि उनकी रचना पद्धति एवं बनावट भी विचित्र है जिसके लिये कवि अपने को अधिकारी समझता था। मैं उनमें से कुछ उदाहरण देता हूँ जिनमें यह बात झलकती है।

व्याकरण की विशेषताएँ

(अ) परोक्षभूत आत्मने पद के प्रथम पुरुष एक वचन का प्रयोग करण कारक में कर्ता को रखकर, कर्मवाच्य में करना जो अन्यत्र अज्ञात है, वह निम्न श्लोकों में उदाहृत है :

सरोरुहामुद्धृत कण्टकेन
भीरुप्रेव रम्यं जहसे वनेन। (३–९)

मृषावतारव्यथितेन चेतसि
क्षणं विचक्रे निकटेन दन्तिना। (५–३६)

यदापि प्रपेदे मृगलाञ्छनेन
प्रासादिवावाय निजं कुरङ्गम्। (१–६८)

(और उदाहरण मिलेंगे—१–५५, नेमे; ३–५५, ऊचे; और ३,७३, चकम्पे)

१ (आ) इसी प्रकार एक असाधारण कर्मवाच्य का प्रयोग है—

नृपताविति वेवितार्पवा
मुनिना जोषमभूयत क्षणम्। (४–२७)

१ (इ) वैदिक रचना का अनुकरण जो पाणिनि, २, ३–२, काशिका और पतंजलि से अनुमोदित है वह 'सर्वतः' और उभयतः के बाद साथ कर्म का प्रयोग है जैसे—

उभयतस्तपोवनम्। (४–६२)
हिरण्यरेतःशरणानि सर्वतः। (५–५)

'उत्पातमनु' 'अपशकुन के समान' कम असाधारण है।

(क) क्रिया का असाधारण रूप हमें नीचे मिलता है—

येन येन हरतिस्म तामसौ
तत्तदेव पुनराप योषितः। (८–४५)

दूतेन तेन तनयं दुहितुर्दिदृक्षुः
कालस्य कस्यचिदयेन्द्रसखं ययाचे। (९–६७)

सूक्तमेव हृदयेऽभिनिविशत्ते। 'हृदय को स्पर्श करता है।' (१५–६)

(ख) समाः सहस्राणि वास्ते समाः (या समानाम्) सहस्रम्।

(ग) 'सुबाह्वोः' (५–६१) एक दोष है वास्ते 'सुबाहुमारीचयोः'।

(घ) क्रियाओं के निम्नलिखित नये रूप हैं :

'अभिभवद्' (४–५) 'उत्पन्न किया'।

'समवीभवद्' (४–१६) 'सम्मान किया गया'।
'निरयीयतत्' (४–४९) 'जाने की अनुमति दी'।
'समासज्जित' (५–८) 'लगा हुआ'।
'अवीपयत' (१०–७५) 'पिलाया'।
'प्रेय' (१०–५०) 'जाने योग्य'।
'न्यवीयदत्' 'सूचित किया' पर न्यवीविदत (भी असाधारण) इसके लिये उपयुक्त मालूम होता है।

(च) 'दोषा' (३–३२ और १०–३) दोषाम् के करण रूप में हो इसका कोई पूर्व दृष्टान्त नहीं है और 'सुहृत्तर' (१०–३९) 'सुहृत्तम' के साथ जुड़ना चाहिये।

शब्दकोश सम्बन्धी विशेषतायें

यदि उपर्युक्त उदाहरण एक अपण्डित कवि की मनगढ़न्त नहीं है तो वह उसके शब्दों के चुनाव से स्पष्ट हो जाता है। संलग्न सूची (परिशिष्ट) में ऐसे मुख्य-मुख्य शब्द दिये हुए हैं और इन शब्दों पर जो केवल कोशों और व्याकरणों में पाये जाते हैं सितारों का चिह्न लगा दिया गया है। कुछ को छोड़ कर बाकी बिलकुल नये हैं। उन शब्दों के जिन पर सितारा लगा है, के विवेचन से पता चलता कि उनमें अधिकांश पाणिनि एवं उनके भाष्यकारों से लिये गये हैं।

स्वभावतः कई रूप जो अन्यत्र भी प्रयुक्त हुए हैं (जैसे 'निरस्यत' ७–५५ के बीच में) उन्हें भी कवि ने पाणिनि से लिया है। उनमें से कुछ जैसे 'आयःशूलिकता,' 'आसुतीवल,' 'इक्षुशाकट' 'कत्तत्रयाः,' 'माशाब्दिक,' 'मुष्टिन्धय,' 'पश्यतोहर' 'जम्पती,' 'भिदेलिमा,' 'विद्वत्तय,' 'सङ्घाट,' विचित्र रूप हैं, और यह पूर्णतया स्पष्ट है कि कुमारदास एक अध्यवसायी छात्र था जिसने अपने व्याकरण को असाधारण शब्दों के लिये छान डाला। एक स्थान पर, मुझे विश्वास है कि मैं बता सकता हूँ कि पाणिनि के एक शब्द को कवि ने अपने काव्य में उससे अच्छा बना दिया है। रावण के पास आना (१०–७६) इन शब्दों में कहा गया है :

दम्भाजीविकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम्।
कञ्चिन्नमस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥

यह शब्द 'आजीविक' अथवा 'आजीवक' 'एक धार्मिक भिक्षुक' जो अभी तक हमें ब्राह्मण-ग्रन्थ वराहमिहिर बृहत्-संहिता से मालूम था, हो सकता है कि औचित्य का ध्यान रखते हुए एक बौद्ध कवि के मुख से निकले। परन्तु जब हमें इसका स्मरण आता है कि 'दण्डाजिनिक' घृणा के साथ एक ढोंगी भिक्षुक के लिये व्यवहृत होता है तो कवि ने पाणिनि से प्रयुक्त किये हुए शब्दों में से एक अजीब सुन्दर पुष्प चुन लिया अर्थात् 'आयःशूलिक'। इसके अतिरिक्त चूंकि दक्षिण की हस्तलिखित पुस्तकों में 'म्ब' और ण्ड की लिपि में प्रायः भेद नहीं होता (जैसे डिण्डिम और 'डिम्बिम'–'ढोल') इसलिए अधिकतर यही सम्भव है कि इसी शब्द का उपयोग किया गया हो होगा। यह देखते हुए कि काशिका ने दण्डाजिनिक का अनुवाद दाम्भिक किया है मैं इसे स्वीकार करूँगा कि सम्भवतः कुमारदास ने पाणिनि के सूत्र की ओर निर्देश किया है, उसे उद्धृत नहीं किया।

दूसरा विचित्र शब्द सङ्घाट है जो कि निम्न श्लोक में प्रयुक्त हुआ है—

ततः प्रतीपसङ्घाटो वीरो केकयवंशजः।
विभ्रष्टकाष्ठिकपुञ्जितं भगं रामाश्रमं ययौ।

इस वाक्य 'प्रतीकसङ्घाट' का अर्थ है, जैसा सिंहलीय सन्न बतलाता है "मंत्रियों के समूह के सहित'। पाणिनि ३-२-४९ पर पतञ्जलि के वार्तिक ३ के अनुसार 'सङ्घाट' समस्त पद के अन्त में सङ्घात होता है और काशिका कहती है कि तब उसका अर्थ होगा 'वह जो एकत्र करता है, इत्यादि जैसे 'वर्णसङ्घाट' = 'यो वर्णान् सङ्घयन्ति'। सम्भव है इन स्थानों पर 'सङ्घाट' का कोई सम्बन्ध सङ्घात से न हो परन्तु ऐसा वाक्य जैसे 'वर्णसङ्घाट', वर्णसद्म (वर्ण सङ्घोयास्य स) से प्रत्यय लगाने से बनता है जैसा कि 'कर्नाट', 'पर्वाट', 'भावाट', वाचाट', इत्यादि जिसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में मैं कैम्ब्रिज फिलोलाजिकल सोसायटी के १९०० के उस लेख की ओर इशारा करूँगा जिसे उसने 'ड प्रत्यय' पर प्रकाशित किया था। यह रूप 'सङ्घाट' सम्भवतः उसी अर्थ में 'कुचकलश सङ्घाट' (११-९५) में आया है।

कोश में दो और मजेदार शब्दों की अभिवृद्धि हुई है; 'साव' और 'रंग'। पहिले वाला जो अब तक अथर्ववेद का सन्दिग्ध पाठ माना गया है उसका अर्थ 'काँपना' है जैसा इस श्लोक से ज्ञात होता है—

> तरुतले विरमारुतमारुत-
> क्षततनुर्नलतावति सावति।
> विरतिरञ्जरसं प्रति सम्प्रति
> स्वमलिसंहुतिरक्षति रक्षति ॥ (११-८६)

यहाँ हमें 'अक्षति' की ओर भी ध्यान देना चाहिये जो क्रिया-विशेषण है और जिसका अर्थ है रक्षा के साथ। 'रंग' क्रिया 'रंगत्तुरंग' (१-५३) में और उसके व्युत्पत्ति शब्द 'गङ्ग' (१४-२१) में और इस प्रकार धातु पाठ के 'रङ्गति गतौ' की पुष्टि होती है।

कुमारदास की वाक्यवल्लरी (शब्दकोश) की एक विशेषता है कि उन्हें 'पर्याय', व्यंजना, या उसी बात को घुमा-फिरा कर भिन्न-भिन्न शब्दों में कहना, बहुत रुचिकर है। सभी काव्यों में यह कौशल मिलता है। परन्तु विशेषताओं के सम्बन्ध में तो कुमारदास ने एकदम अति कर दी है; जैसे 'कुलिशायुधगोपक' (११-४६), 'पुरन्दरगोपक' (११-७७) और 'हरिगोपक' (११-८९)। ये सारे शब्द 'इन्द्रगोपक' के पर्याय हैं। और 'मकराकरपायि' (४-५९) = अगस्त्य, वशिष्ठतनूजपातित = क्षितिपस्वर्वसतिप्रदो मुनिः (४-६३) = विश्वामित्र, 'बल निषूदन-जाल (११-६८) = इन्द्रजाल, = पंकज राग (१४-१९, देखिये 'पंकज-नाम,' रघु-५, १८-१९) = 'पद्मराग', 'शक्रनील' (११-९६) = 'इन्द्रनील', 'दन्तवासस' (८-४०) = 'दन्तच्छद' सितकरकान्त = चन्द्रकान्त —(टामस के इस पाठ से छन्दोभंग होता है। हरीदास में 'शीतकर कान्त पाठ है :—अनुवादक) और 'कृष्ण पद्धति' (१३-१४) जैसे 'सितेतराध्वन' (९-३०) = कृष्णवर्त्मन। और देखिये 'सङ्गतानि परिहृत्य कृशानौ' (८-५३) = ब्रह्मचारिणौ। काव्य के अन्तिम श्लोक में कवि ही का नाम मरोड़ कर 'कुमार परिचारक' रखा गया है। इस प्रकार के वाक्य विस्तार की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि वे कभी-कभी, जैसे 'दन्तवासस' और ग्रन्थों से लिये गये हैं या वे कवियों के सामान्य प्रयोग में आजाते हैं। कुमारदास के अन्य शब्द-प्रयोगों की विलक्षणताओं में हमें 'राजा' के लिये शब्दों का हेर-फेर करके अनेकानेक पर्याय मिलते हैं। और जगह-जगह पर 'सम्पद' और 'तल' की पुनरावृत्ति, जिसमें अपर उदाहरणार्थ तति संज्ञा के साथ सैकड़ों बार आया है।

व्याकरण एवं कोश के लिये कुमारदास की शैली का विद्वत्तापूर्ण सौन्दर्य उनके काव्य को विशेष महत्ता प्रदान करता है। किसी शब्द अथवा वाक्य-निर्माण के प्रति एक ऐसे सावधान विद्यार्थी के प्रमाण की अवहेलना नहीं की जा सकती। अतः मैं प्रोफ़ेसर लेनमान के इस वचन (पृष्ठ २३२ के सामने) से सहमत नहीं हूँ कि कवि का मरुत् को मरुत के रूपान्तर की भांति प्रयोग करना यह सिद्ध करता है कि इस काव्य का निर्माता महाकवि नहीं है। इसके प्रतिकूल मैं उसी के प्रमाण पर यह स्वीकार करूँगा कि ऐसा शब्द है अथवा व्याकरण के नियम से पुष्ट होता है और वास्तव में यह शब्द 'बो' और 'आर' तथा अन्य कोशों में मिलता है। १३–१४ में 'हलचर्म' शब्द का, जिसका अर्थ है 'हलाई, प्रयोग किया गया है, जिसमें 'चर्म' अन्यत्र नहीं मिलता। फिर भी स्पष्टतया यह 'चर' धातु से निकला है। मैं नहीं समझता कि यह शब्द कुमारदास की मनगढन्त है। परन्तु मैं 'कटक' 'पहाड़ का ढलवान' के स्थान पर कटुक का समर्थन नहीं करूँगा (१३–१७)। इसी प्रकार पंक्ति के आरम्भ में 'खलु' (१३–३९) और 'इव' (१०–७२) के प्रयोग का समाधान नहीं होता। वामन के 'काव्यालंकारवृत्ति' (५–१–५) के अनुसार यह सर्वथा वर्जित है। मुझे तो ऐसा लगता है कि 'विदित' का अर्थ 'जाना हुआ' नहीं है बल्कि 'जनाया हुआ,' 'बतलाया हुआ' है।'

शैली की दृष्टि से जानकीहरण में रघुवंश से अधिक कृत्रिमता है, सम्भवतः किरातार्जुनीय से भी अधिक, परन्तु वह बाद के काव्यों की अत्यधिक कृत्रिमता तक नहीं पहुँचता। यह इतना गूढ़ नहीं है जैसा वासवदत्ता का गद्य। शब्दों की साधारण क्रीड़ा इस काव्य में पायी जाती है। उदाहरण के लिये 'पराग' पर (१४–३२), 'कुल' पर (१४–४७ 'वृत्त' पर (१–३४)। लेकिन उनकी सूक्ष्म क्रीड़ा उसमें बहुत नहीं है। हमें व्याकरण का उदाहरण १–८९ में मिलेगा—

अथ स विषमपादगोपितार्थं
जगदुपभोगवियुक्तभूरिधातुम् ।
बहुतुहिननिपातदोषदुष्टं
गिरिमसृजत्कुकवेरिव प्रबन्धम् ॥

" जिसमें 'पाद' 'धातु' 'तुहिन' (तु हिन) और 'निपात' में शब्द-क्रीड़ा है"। परन्तु कवि का प्रिय अलंकार, पर्याय को छोड़ कर अनुप्रास है जो कि सारे काव्य में अविच्छिन्न आया है। (देखिए लेनमान......पृष्ठ २३१)।

इसका अच्छा उदाहरण १४–४४ है—

निनदता मदताडितमेखलं
विगलताऽगलतावृतसानुना ।
असुभुजा सुभुजाऽसुरसंहतिः
प्रविदिता विदिता दिशि भूभृता ।

पर किसी श्लोक में विस्तृत यमक अथवा एक ही अक्षर की पूरे श्लोक में पुनरावृत्ति नहीं है।

(नोट :—काव्य का १८वाँ सर्ग दुर्घर्ष यमकों से भरा पड़ा है जैसे 'सर्वतोभद्रम्' १८–३१, निरन्तरानुप्रास अथवा एकाक्षरानुप्रास १८–४६, द्व्यक्षरानुप्रास–१८–५२, यमकावलि १८–७१,

इत्यादि। पर जब टामस ने इस लेख को लिखा था तब इस सर्ग का पता नही था। देखिये परिशिष्ट, —'जानकीहरण में प्रयुक्त यमक और शब्द चित्र"—अनुवादक)

इस कारण काव्य में ऐसा मधुर प्रवाह है जो छन्द चातुरी एवं सरलता के लिये सम्भवतः संस्कृत में अद्वितीय हैं। इसमे गौड़ शैली के 'विकटाक्षरबन्ध' का परित्याग किया गया है जिसका प्रभाव ओज से अधिक माधुर्य और सौकुमार्य का है। जहाँ तक अर्थालंकारों का सम्बन्ध है जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास इत्यादि उनका थोड़ा ही प्रयोग किया गया है। कुमारदास चारुता एवं विशालता में औरों से आगे बढ जाते हैं। पहिले का एक अच्छा उदाहरण है शिशु राम का वर्णन—

> न ■ राम इह क्व यात इ-
> त्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
> निजहस्तपुटावृताननो
> विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः॥ (४–८)

पुनश्च—

> तारका रजतभङ्गभासुरा
> लाजका इव विभान्ति तानिताः।
> दिवपूर्भिरुदयादुदेष्यतो
> वर्त्मनि ग्रहपतेः समन्ततः॥

दूसरा गुण विष्णु के वर्णन में अच्छी तरह चित्रित होता है—

> निजदेहभराक्रान्तनागनिश्वासरंहसा।
> गतागतपयोराशिपातालतलमास्थितम्॥ (२–२)

और सूर्यास्त के सुन्दर वर्णन में—

> संक्षिगृहय करसन्तति क्वचि-
> त्प्रस्थितोऽपि रविरेष रागवान्।
> अस्तमस्तकमधिश्रितः क्षणं
> पश्यतीव भुवनं समुत्सुकः॥ (८–५६)

और सम्पूर्ण १४वाँ सर्ग जिसमें राम के सेतुबन्धन का वर्णन है, जैसे-१४–३४, जिसमें क्षुब्ध सागर की उपमा कमल से दी गई है—

> प्रचलतुगतरंगदलान्तर-
> स्फुरितविद्रुमकेसरसम्पदि।
> क्षुभितसिन्धुसरोरुहि कर्णिका-
> वपुरुवाह पतन् कनकाचलः॥ (१४–३४)

यह मानना पड़ेगा विशालता की यह कल्पना-शक्ति कहीं कहीं हास्यास्पद हो गयी है, जैसे वह वर्णन जहां कहा गया है कि बन्दर लोग अपने हाथों पर पर्वतों को उठाये हुए थे और पृथ्वी उनके पदचाप से ऊपर-नीचे उठती-बैठती थी :

> रवितुरंगखुराहतमस्तकं
> ध्वनिकृतः परिगृह्य वनौकसः ।
> पदभरेण ययुस्तटमम्बुधे-
> विंनमितोन्नमितक्षितिमण्डलम् ॥ (१४—२२)

इन सब बातों को देखते हुए कुमारदास एक उत्कृष्ट कवि है और शिक्षण कार्य के लिये बहुत ही उपयुक्त हैं ।

जिन ग्रन्थों से उनका परिचय था, उनमें पतंजलि का महाभाष्य, जैसा कि हमने पाया है, अवश्य है। वे काशिका जानते थे, यह सन्दिग्ध है । उन्होंने किया, सत्यापय--का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जैसा केवल उसने (काशिका ने) किया है और 'उपक्रिम विलुस्सय--मर्माविध जो पाणिनि के नियमों में नही है और न पतंजलि ने उसका उल्लेख किया है, पर ये काशिका में हैं। इसके विपरीत वे 'असुतोवल' का अर्थ (पुजारी) ऐसा देते हैं जो काशिका के 'शौण्डिक' से भिन्न है। इसका ध्यान रखते हुए कि भूतकाल का 'अचकमत' (८-९८) भी इसी ग्रन्थ से (देखिये पाणिनि ३, १, ४८ और ७, ४-९३) लिया गया है तो मैं तो इसी ओर झुकता हूँ कि उनका काशिका से परिचय था। वामन की 'काव्यालंकार वृत्ति' में, चाहे वामन, और काशिका के प्रणेता एक ही व्यक्ति रहे हों, कुमारदास का नाम से प्रयोग नही हुआ और हम यह नही मान सकते कि 'खलु' को आरम्भ में प्रयोग करने का निषेध, उनके विरुद्ध पड़ता है। परन्तु इस श्लोक मे जिसका उल्लेख, २, १, १३ में किया गया है कुमारदास की शैली के इतने चिन्ह मिलते हैं कि उसके कर्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। वह इस प्रकार है :

> सपदि पंक्तिविहंगमनामभृ-
> त्तनयसंवलितं बलशालिना ।
> विपुलपर्वतवर्षशितैः शरैः
> प्लवगसैन्यमुलूकजिताजितम् ॥

यहां पर प्रयुक्त पंक्ति='दस' और 'प्लवग'=वानर और 'पंक्तिविहगमनामभृत्' में पर्याय—दशरथ और 'उलूकाजित'=इन्द्रजित, एवं अनुप्रास छन्द का प्रवाह और श्लोक का विषय, निश्चित रूप से कहते हैं कि यह एक सर्वप्रथम श्लोक मिला है जो कुमारदास के काव्य के लुप्त अंशों में का है। दुर्भाग्य से 'वामन' की वृत्ति का निर्माण काल निश्चित नहो है और यदि हम 'इत्सिग' के कथन (तकाकुसु का अनुवाद, पृष्ठ १७६) को स्वीकार करते हैं तो काशिका का समय सातवी शताब्दी होगा और यदि यह सिद्ध हो गया कि कुमारदास उससे परिचित थे तो फिर कुमारदास ही के समय का फिर से विवेचन करना पड़ेगा । एक विदेशीय पर्यटक के प्रमाण का जो इत्सिग के समान (अनुवादक, पृष्ठ १७८) यह कहता है कि पतंजलि ने काशिका पर--जो स्पष्टतः बाद की है—एक भाष्य (महाभाष्य) लिखा है, अवश्य सन्देह से देखना चाहिये।

कुमारदास ने रामायण और रघुवंश का उपयोग किया है। पहिले का तो उन्होंने पग-पग पर कथा में आद्योपान्त अनुसरण किया है और दूसरे का स्थान-स्थान पर जैसे; १०वें सर्ग में राम के बनवास-वर्णन में जहां कालिदास ने संक्षेप में कहा है, उन्होंने रामायण मे प्रयुक्त थोड़े से असाधारण शब्दों का भी उपयोग किया है जैसे 'तनुच्छद' ११–१७=पंख। वे रघुवंश से परिचित थे। इसमें जो सर्ग १० से हमारे काव्य के उसी विषय के भाग का मिलान करेगा उसे इस बात में सन्देह नहीं हो सकता परन्तु यह तो और भी बातों से निश्चित रूप से सिद्ध किया जा सकता है। केवल ऐसे असाधारण शब्द ही जैसे 'अवर्ण', 'लज्जा' और 'अजर्य', 'मैत्री' दोनों में समान रूप से व्यवहृत नहीं हुए हैं बल्कि निम्नलिखित वाक्यों का दोनों ही काव्यों में समान रूप से व्यवहार किया गया है।

'पुरुषाकृति' (रघु० ११–६३; जानकी ९–२६) परशुराम की आकृति का।

पलितछद्मना......जरा (रघु० १२–२; जानकी १०–३) दशरथ की वृद्धावस्था के सम्बन्ध में;

'वृषस्यन्ती' (रघु० १२–३४ जानकी १०–७२) शूर्पणखा का।

अतः मैं, परम्परागत किम्वदन्ती की सत्यता को, जो इन दोनों को मिलाती है, प्रमाणित करने में समय नष्ट न करूँगा। कुमारदास ने कामन्दकि नीतिसार का भी अध्ययन किया था, इससे मैं निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं कर सकता। परन्तु १०वें सर्ग में दशरथ का राम को उपदेश उस ग्रंथ के ११वें अध्याय से थोड़ा सा मिलता-जुलता है। तो फिर १०–२६ का 'सामौशनस' कहां से आया? इस काव्य के कुछ शब्द शिशुपाल बध से मिलते जुलते हैं, जैसे 'अग' वृक्ष, 'अधिजानु' घुटने के निकट।

इस काव्य में जो सांकेतिक शब्द आये उनमें से मैं इनका उल्लेख करूँगा 'कटाह' (१–१७), 'काञ्ची' (१–१८), यवन (१–१९), 'तुरुष्क' (१–१०)। उद्यान का विहार के साथ प्रयोग (३–२३ में) श्लेषात्मक किया गया है—

> किं कौतुकेन श्रमकारिणा ते
> सृज त्वमुद्यानविहाररागम्।
> बाले! त्वमस्यो पवनस्य लक्ष्मी-
> रितीवमूचे ललना सखीभिः॥

और ५–५५ मे बौद्धों की ओर इस प्रकार स्पष्ट निर्देश है—

> स्थित्वा गुणे महति तत्क्षणलब्धमोक्षाः
> शुश्लिष्टमुक्तिसफलाननसम्पदस्ते।
> शाक्या इवास्य विशिखा रिपुसैनिकेभ्य-
> श्चक्रुस्त्रिविष्टपसभागमनोपदेशम्॥

यवनों और तुरुष्कों के जो सांकेतिक उल्लेख हैं उनकी नन्दरगिकर के रघुवंश के संस्करण की भूमिका में मीमांसा हो चुकी है, जिसके निष्कर्ष से सहमत होना मेरे लिये असम्भव है।

सांख्य दर्शन से निम्न श्लोक में श्लेष के लिये मसाला मिलता है—

असंख्य गुह्या अपि तत्र सैनिकाः
पिशाच रक्षस्ततिभिर्निरन्तरम् ।
कृतान्धकारं रथचक्ररेणुभि-
र्जगुर्जगत्सत्त्वरजस्तमोभयम् ॥

और १-२८ में 'तुला' (कोटिं) अर्थात् तराजू, परीक्षा का उल्लेख है।

५

बुलेटिन आव दि स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज लण्डन इनस्टीट्यूशन, जिल्द ४, पृष्ठ २८५

जानकीहरण, १६वां सर्ग

एल० डी० बार्नेट

स्कूल आव ओरियंटल स्टडीज ने हाल ही में एक हस्त-लिखित प्रति प्राप्त की है जिसमें जानकीहरण के सम्पूर्ण बीसों सर्ग हैं और उससे मैं निम्नलिखित सर्ग प्रकाशित कर रहा हूँ। चूंकि अब तक केवल १–१५ सर्ग ही सम्पादित हुए हैं, सम्भव है मेरा इसे प्रकाशित करना कुछ रुचि कर हो, यद्यपि अन्य हस्तलिखित प्रतियों के अभाव में एक विवेचनात्मक, निश्चित मूल को ढूंढ़ निकालना असम्भव है।

यह हस्तलिखित प्रति मलयाली अक्षरों में १४ इंच लम्बे और १॥ इंच चौड़े ताल पत्रों पर लिखी है। हो सकता है कि यह सोलहवो शताब्दी की हो या सम्भवतः उससे भी पूर्व की हो। पुष्पिका (कोलोफन) में कोई तिथि नहीं है। लेकिन (प्रति के) स्वामी का नाम गर्तवन् शंकर दिया गया है। इस हस्तलिखित प्रति में थोड़ी सी गलतियां भी पाई जाती हैं और कहीं-कहीं कुछ छूट भी गया है; कुछ तो प्रतिलिपकार की भूल के कारण और कुछ दोषयुक्त मूललिपि के कारण। प्रतिलिपकार की गलतियों से पता चलता है कि मूल प्रति जिससे उसने प्रतिलिप बनायी है या कम से कम उससे पूर्व की प्रतियाँ सिंहलीय अक्षर में थी। यही वर्तनी दक्षिणी हस्तलिखित प्रतियो में बहुत पायी जाती है। और क में प्रायः भ्रान्ति होती है। अन्तिम 'म' बाद में लगने वाले तालव्य और दन्ति व्यंजन-समूहों मे जुड़ जाता है— र के बाद अक्सर व्यंजन द्विगुणित हो जाते हैं, और अन्तिम ॥ एक प्रारम्भिक मूर्धन्य अक्षर में मिल जाता है और अक्सर वह प्रारम्भिक मूर्धन्य और व्यंजन के पहिले छोड़ दिया जाता है (ह्विटने,१७३ अ)। मैंने अपने मूल मे इन सब विलक्षणताओं को, सिवाय अन्तवाली के, ज्यों-का-त्यों रहने दिया है। वे एक दूसरे के जितने विरोधी हों, श्लोकों का विभाजन 'अ' द्वारा किया गया है। मैंने उसके स्थान पर दोहरे दंड (॥) से किया है, और श्लोक के बीच में केवल एक दंड से।

सोलहवें सर्ग के छन्द है *पुष्पिताग्रा* (१–७८), *मन्दाक्रान्ता* (७९,८१,८३) और शार्दूल-विक्रीडित (८२)। सर्ग के विषय हैं, सूर्यास्त वर्णन, राक्षसों का मैथ–विहार और युद्ध के दिवस का प्रभात ॥

(इसके बाद पूरा-का-पूरा १६वाँ सर्ग दिया है : अनुवादक)

अनुवादक की टिप्पणी

बुलेटिन आव दी स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज, खण्ड ४, पृष्ठ २८५ पर एल० डी० बार्नेट का जो लेख है उसमें उन्होंने बताया है कि उपर्युक्त स्कूल को जानकीहरण की

एक सम्पूर्ण प्रति १–२० सर्ग) मिली है। यह हस्तलिखित प्रति तालपत्र पर मलयालम लिपि में लिखी है। उस प्रति से बार्नेट ने जानकीहरण के सोलहवें सर्ग को अपने लेख में रोमन लिपि में पूरा उद्धृत किया है। मालयालम वाली प्रति में १६वें सर्ग में ८३ श्लोक हैं। जिस मद्रास वाली प्रति से मैंने भाषानुवाद किया है उसके १६वें सर्ग में केवल ७४ श्लोक हैं अर्थात् मलयालम वाली प्रति के साढ़े नौ श्लोक इसमें नहीं है। वे साढ़े नौ श्लोक नीचे दिये जाते हैं। श्लोकों की क्रम संख्या मैंने वही दी है जो मलयालम वाली प्रति में है।

गगन सरसि चन्द्र रूप्य कुम्भे
निकर इवाति घनस्तमः प्रहाराः ॥२१॥
(यह अर्धश्लोक है)।

अधरमणिमसौ व्यम्बष्डयत्ते
स्पृशति शनैरुपचुम्बितो न दोषम्।
अमहदपि कृतम्प्रपद्यकर्तुं–
द्विगुणतरं विदधाति यस्स साधुः ॥४४॥

विरचित पटु चारु रम्यभावं
प्रमद रसं रति भूल मावरेण।
मधुनिहित सरोज मंगनास्वै–
र्मुख चषकैर्दयिताभिपाययन्ते ॥५७॥

चषकमधुनि बिम्बितप्रियाया
नयनमवेक्ष्य सरोजशंकयालिः।
अपिमधु निपपात गन्धलोभा–
द्विषयसुखप्रवणे कथं विवेकः ॥५९॥

दशभिरभिमुखैस्सुगन्धि हृद्यम्
मधुवदनैरुपनीत मंगनानां।
बहुवदन फलमिपीय लेभे
सुररिपुरेत वहो दुरापमन्यैः ॥६३॥

कर किसलय धूननम्मुखान्ताः
कलमणिताभयनार्धं मीलितानि।
मधरिल कलसोत्कृतं वधूनां
प्रणयिषु मन्मथदीपनान्यभूवन् ॥६५॥

अपगतविनयं मवस्त लज्जा
यव समधम्यदनिष्टमात्तधैर्यम्।
मदवयं असमाधिरागवृद्धं
रतिषुहि सत्तवभूद् गुणो न दोषाः ॥६६॥

उपरि विहरणे विलासिनीनां
कुचकलशोद गलिताम्बिराघवारि ।
मनसिजमभिषिञ्चति स्म यूनां
पृथुल भुजान्तर पीठ सन्निविष्टम् ॥६७॥

वदनमिदमुरोजकुङ्कुमार्द्रं
सुतनु विलोकयतादिति स्वमङ्कुम् ।
सरभसमधिरोपिता सवोष्ठं
वदनुर्तादिति वृवतो युवस्व दृष्टा ॥६८॥

तरणि तव भवामि वल्लभोऽह-
म्भवपतिरित्युदिते शिरोधुनाना ।
नहि नहि वलयं स्वकीयमेका
दयितकरे न्यधितावलम्बुराङ्कुम् ॥६९॥



६

घार्नेट द्वारा उद्धृत जानकीहरण का सोलहवाँ सर्ग

मलयालम में लिखी प्रति श्लोक संख्या	अनूदित प्रति मद्रास श्लोक संख्या	मलयालम में लिखी प्रति श्लोक संख्या	अनूदित प्रति मद्रास श्लोक संख्या	मलयालम में लिखी प्रति श्लोक संख्या	अनूदित प्रति मद्रास श्लोक संख्या
१	१	३१	३१	६१	५९
२	२	३२	३२	६२	५६
३	३	३३	३३	६३	—
४	४	३४	३४	६४	५८
५	५	३५	३५	६५	—
६	६	३६	३६	६६	—
७	७	३७	३७	६७	—
८	८	३८	३८	६८	—
९	९	३९	३९	६९	—
१०	१०	४०	४०	७०	६०
११	११	४१	४१	७१	६१
१२	१९	४२	४२	७२	६३
१३	१८	४३	४३	७३	६४
१४	२०	४४	—	७४	६५
१५	१७	४५	४४	७५	६६
१६	१२	४६	४५	७६	६७
१७	१३	४७	४६	७७	६८
१८	१४	४८	४७	७८	६९
१९	१५	४९	४८	७९	७०
२०	१६	५०	४९	८०	७१
२१	—	५१	५०	८१	७२
२२	२२	५२	५१	८२	७३
२३	२३	५३	५२	८३	७४
२४	२४	५४	५३		
२५	२५	५५	५४		
२६	२६	५६	५५		
२७	२७	५७	—		
२८	२८	५८	६२		
२९	२९	५९	—		
३०	३०	६०	५७		

मलयालम की प्रति के श्लोक २१, ४४ ५७, ५९, ६३, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९—ये अनूदित प्रति में नहीं है।

श्लोक ३—अवलुप्य (म) अनुलिप्य से अधिक अच्छा है।

,, ६—अपसरतीति (म) का भाव अपसरतेति से अधिक अच्छा है।

,, ७—नमितचपलमस्तका (म); समुमद्गता (म) समुपगता से अच्छा है।

,, ९—रथिरपचलितो (म) रथिरथ चलितो के स्थान पर।

,, १९—दूसरी पंक्ति में जो छूट गया है वह (म) में इस प्रकार है—अतिपटुपटलम् विपाटय

विदयमविवरमं

,, २०—स्थपत्त (म) नवयेव।

,, ११—हृतः (म) जितः के स्थान पर। यह जितः की पुनरावृत्ति को जो पहिली पंक्ति में प्रयुक्त (अर्थजितः) हो चुका है, बचाता है।

,, १२ —अथ मनो (म) अथ मनो के स्थान पर अधिक सुन्दर है।

,, १२—को इस प्रकार पढ़ना चाहिये:

> गगन सरसि चन्द्र रूप्य कुम्भे
> स्थपसरितिस्म निपातिते रजन्या।
> तदुपहित तरंग धूत नीलो—
> निकर इवाति घनस्तमःप्रवाहः॥

,, २५—अयकुण्ठनेन (म) ०अयकुण्ठनेव से अधिक अच्छा जंचता है।

,, २९—रातैः से रागः अच्छा है।

,, ३१—मदन समुचिताङ्ग सङ्गी० (म) मदन समुचिताङ्ग सङ्गे के स्थान पर।

,, ३२—प्रिया निरस्त श्रवण ० (म) प्रिया निरस्य श्रवणं से अधिक अच्छा है क्योंकि दूसरे में प्रिया और निरस्य का विश्लेषण कठिन है।

,, ३४—त्वाम् (म) त्वम् के स्थान पर और प्रियातिकोपे के स्थान पर प्रियाहि कोपे अधिक अच्छा पाठ है। दूसरी पंक्ति में (म) कम परम निग्रह प्रसादे एक समस्त पद है।

,, ३५—निषिञ्चति (म) निषिञ्चति से अधिक अच्छा है।

३६—तिरयति (म) तिरयति से अच्छा है।

,, ३८—०परमित्यरः (म) परिपन्थिकः से श्रेष्ठतर है।

,, ४०—सखिगिरा निरासे (म) सखिगिरानिरासे से अच्छा है। उसी प्रकार मेरी समझ में, हमें २८वें श्लोक की दूसरी पंक्ति में फलच्युता निरासे पढ़ना चाहिये।

,, ४२—०भाग० (म) ०भाव० से बेहतर है हमें के अनुसार विदंशि पढ़ना चाहिये० विदर्शिता० नहीं, जिससे छन्दोभंग होता है।

,, ४३—दष्टवान् (म) अवश्य ही दृष्टवान से अच्छा है, जिसका कोई अर्थ नहीं है।

,, ४४—रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये (म) लिखता है स्वयमखिलं मम।

,, ५०—अन्तिम पंक्ति (म) में इस प्रकार है तवचपल निरुपिता नवोद्यत्प्रविरल रोम्णि कथञ्चि-दुत्तरोष्ठे।

,, ५१—नयनश्रवोऽसिजातः (म) नयन श्रवोऽपि जातः से अधिक अच्छा लगता है, क्योंकि यहाँ अपि का कोई अर्थ नहीं है।

श्लोक ५३—मित्र कृत्ये (म) साधु कृत्ये के स्थान पर (ठीक होगा)। रिक्त-स्थान पूर्ति के लिये (म) का एव ले लिया जाय।

„ ५४—क्षतम् (म) क्लम के स्थान पर।

„ ५५—मधु वपुः (म) निश्चय ही मधुवपुः से अच्छा है। और (म) में कुन्तलोपमुक्तं है ०कुन्तलोपयुक्तं के स्थान पर।

„ ६४—०जर्जरेव (म) निश्चित ही जर्जरैव से अधिक माननीय है। कारण यह उत्प्रेक्षालंकार लगता है जिसमे इव की आवश्यकता है। (म) मे परिभोगवत्सु है, परिपीतवत्सु के स्थान पर।

„ ६९—०लोहिनीभिर् (म) वाहिनीभिर् के स्थान में।

„ ७१—परिवृतं (म) अनुगत० के स्थान पर।

„ ७२—अनर्तयत (म) अहर्षयत के स्थान पर।

„ ७४—सीत्कृतिः (म) सीत्कृतः के स्थान पर और प्रियाभिः (म) समाभिः।

„ ७७—०धातु विभूषणः (म) धातु विभूषितः के स्थान पर

„ ७९—(म) के अनुसार व्यक्तं (स्पष्ट) व्यस्तं के स्थान पर हमें पढ़ना चाहिये और समस्तः, तमस्तः के स्थान पर। प्रथम पंक्ति में जो शशीतः है उसका विश्लेषण शशिईतः (=गतः) और अन्तिम पंक्ति को सारसं तं रसल्सम् (सारसं तं सरसम्)।

८०—हमें (म) के अनुसार उदक ह्रास वेलां पढना चाहिये उदकह्रास वेलां के स्थान पर, यमक और अर्थ दोनो के कारण। विरामाः शब्द का विश्लेषण वि+रामाः (पक्षियों की स्त्रियाँ) करना चाहिये और नेत को न+इतम् (गतं)। अन्तिम पंक्ति में (म) का पाठ विगतकिरणोद्भास, विगत चरणोल्लासं से अधिक अच्छा मालूम पड़ता है।

„ ८१—विहित० (म) विहिन के स्थान पर। और परभटं, वरभटं के स्थान पर ठीक होगा।

„ ८२—अन्तिम पंक्ति कुछ संदिग्ध है क्योंकि अश्रुतपुरा अगर उसका विश्लेषण सेर्य के साथ किया जाता है और आक्रोशायिता समझ में नही आता। (म) का यह पाठ अश्रुतपराक्रोशायिका शायिका उसी भाँति उलझन में डालता है और मुख्य प्रश्न पर उससे कोई प्रकाश नही पड़ता।

„ ८३—नक्तं देखने से मक्राधिवासं से संगत संज्ञा है (और यहाँ क्रिया विशेषण नहीं है)।

जरनल आव दी रायल एशियाटिक सोसायटी आव ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड : १८९४, पृष्ठ ६२३.

राइज डेविड्स की टिप्पणी

जानकीहरण : कुमारदास कृत : जयपुर शिक्षा-विभाग के सञ्चालक, स्वर्गीय पण्डित हरिदास द्वारा सम्पादित। (कलकत्ता : २४ गिरीश विद्यारत्न लेन, १८९३ मूल्य ५ रु०)

इसके पूर्व हम इस काव्य के उस संस्करण की ओर ध्यान दिला चुके हैं जिसे धर्माराम ने हाल ही में संस्कृत-छन्दों में बद्ध कर दिया है और जो १८९१ में सीलोन में प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ को एक नवयुवक और बहुत ही योग्य विद्वान्, पण्डित हरिदास शास्त्री ने स्वतंत्र रूप से, उस टीका की प्रतिलिपि से तैयार किया है जो सीलोन से उनके पास भेजी गई थी। उसे अब उनके अतीव दुःखप्रद और असामयिक निधन के पश्चात् 'जयपुर संस्कृत कालेज' के प्रिंसिपल (श्री) कालीपद वन्दोपाध्याय ने प्रकाशित किया है। चूँकि इस टीका में (जो सीलोन के संस्करण में पूरी की पूरी छपी है) इस काव्य का प्रत्येक शब्द है (थोड़े से मामूली शब्दों को छोड़ कर) पर वे किसी खास क्रम से बद्ध नहीं थे, जो गुत्थी सुलझानी थी वह उन शब्दों को छन्द-बद्ध करना था। भारतीय सम्पादक का पुनः क्रमबन्धन, सीलोन के सम्पादक के क्रमबन्धन से बहुत स्थानों में भिन्न है। उन्होंने (भारतीय सम्पादक ने) संस्कृत की छोटी-छोटी टिप्पणियों में उन पंक्तियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जहाँ उनकी मनमझ में, सन्न का ही पाठ गलत है। चूँकि कि सीलोन के राजा का शासन काल, कुछ ही वर्षों के आस-पास निश्चित है (उन्होंने ईसा के बाद ५१७-५२६ तक राज किया) उसके साहित्यिक मूल्य के अतिरिक्त उसकी ऐतिहासिक महत्ता है। विद्वान् लोग एक ऐसे संस्करण को पाकर प्रसन्न होंगे जो नागराक्षर में है और जिसे एक विद्वान् भारतीय ने सम्पादित किया है। अतः जयपुर संस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य बधाई के पात्र हैं जिन्होंने पण्डित हरिदास शास्त्री के इस बड़े मनोरञ्जक ग्रन्थ को नष्ट हो जाने से बचाया है।

जानकीहरण में प्रयुक्त छंद

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
१	१	१–८७ उपजाति (११ वर्ण)	इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा मिश्रित अनन्त रोदीरित लक्ष्मभाजौ पादौयदी या वुप जातयस्ताः। इत्थ किलान्यस्वपिमिश्रितासुतु वदन्तिजातिष्विदमेव नाम ॥ त त ज ग ग ज त ज ग ग यत्रयोरप्यनयोस्तु पादा, भवन्ति सीमन्तिनि चन्द्रकान्ते। विद्वद्भिराद्यैः परिकीर्तिता सा प्रयुज्यतामित्युपजातिरेषा ॥—श्रुतबोध हे चन्द्र कान्ते सुकेशि, जिसमें जिसमें दोनों (इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा) के चरण हों (पहिला और तीसरा चरण इन्द्रवज्रा का सा एवं दूसरा और तीसरा चौथा उपेन्द्रवज्रा का सा) उसे आदि विद्वज्जन 'उपजाति' कहते हैं।
२	,,	८८–९० पुष्पिताग्रा	अयुजि नयुगरेफतो यकारो। युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥ (वृत्तरत्नाकर) न न र य न ज ज र
३	२	१–७७ अनुष्टुप (श्लोक)	श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुः पादयोर्ह्रस्व सप्तमं दीर्घमन्ययो ॥ श्लोक के चारों चरणों में छठा वर्ण दीर्घ, पाँचवाँ लघु और दूसरे तथा चौथे चरण का सातवाँ अक्षर ह्रस्व और पहिले तीसरे का दीर्घ होता है।
४		७८ पुष्पिताग्रा	देखिये :—१–८८–९०.
५		७९ शार्दूलविक्रीडित	"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ (वृत्तरत्नाकर)

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
		(१९ वर्ण)	गणः—म, स, ज, स, त, त एवं एक लम्बा शब्दांश। आद्ये यत्र गुरुत्रयं प्रियतमे, षष्ठं ततश्चाष्टमं तस्त्येकादशतस्त्रयस्तदनुचेदष्टा दशाद्यान्तिमाः। मार्तण्डैर्मुनिभिश्च यत्र विरतिः पूर्णेन्दुबिम्बानने तद्वृत्तं प्रवदन्ति काव्य रसिकाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ —श्रुतबोध । हे प्रियतमे ! जहाँ प्रथम के तीनों वर्ण तथा छठाँ, आठवाँ गुरु हो फिर ग्यारह से आगे के तीन वर्ण (१२, १३, १४) गुरु हों, तथा सत्रहवें वर्ण के आदि व अन्त के (१६, १७, १९) गुरु हों और जहाँ बारह पर यति हो तो हे पूर्णेन्दु बिम्बानने ! काव्य-रसिक उस वृत्त को शार्दूलविक्रीडित कहते हैं।
६		१–६३ उपजाति	
७	३	६४–७६ वंशस्थ (१२ वर्ण)	देखिये :—१–१–८७. "वदन्ति वंशस्थविल जतौ जरौ"। गणः—ज, त, ज, र उपेन्द्रवज्रा चरणेषु सन्ति चे– दुपान्त्य वर्णा लघवः कृता यदा । मदोल्लसद् भ्रूजितकामकार्मुके वदन्ति वंशस्थमिदं बुधास्तदा ॥—श्रुतबोध । हे भौहों से कामदेव के धनुष को जीतने वाली ! यदि उपेन्द्रवज्रा के चारों चरणों में ११वाँ वर्ण ह्रस्व तथा १२वाँ गुरु हो तो बुधजन उसे वंशस्थ छंद कहते हैं।
८ ९		७७ पुष्पिताग्रा अथवा औपच्छन्दसिक	देखिए :—१–८८–९०
१०		७८–७९ शिखरिणी (१७ वर्ण)	'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी । (वृत्तरत्नाकर)। गणः—य म न स भ एक छोटा और एक लम्बा शब्दांश यदा पूर्वो ह्रस्व कमलनयने पञ्चगुरव- स्ततोवर्णाः पञ्च प्रकृति सुकुमाराङ्गि लघवः । त्रयोऽन्ये चोपान्त्याः सुतनु जघनाभोग सुभगे रसैरीशैश्च स्यां भवति विरतिः सा शिखरिणी ॥ —श्रुतबोध।

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
			हेपंकजाक्षि ! यदि प्रथम वर्ण ह्रस्व, उसके आगे से पाँच वर्ण (२ से ६ तक) दीर्घ, फिर उसके (६ के) आगे से पाँच (७ से ११ तक) ह्रस्व, फिर तीन वर्ण अन्त के (१४, १५, १६) लघु हों और ६ और ११ वर्णों पर यति हो तो हे शुभाङ्गी सुभगे ! वह 'शिख रिणी' होगी
११		८०–८१ स्रग्धरा (२१ वर्ण)	'म्रम्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।' (वृत्त रत्नाकर) । गण :—म र भ न य य य चत्वारो यत्र वर्णाः प्रथम लघवः पष्ठकः सप्तमोऽपि द्वौतद्वत् षोडशाद्यौ मृगमदमुदिते षोडशान्त्यौ तथान्त्यौ । रम्भा स्तम्भोरु कान्ते मुनिमुनि मुनिभिर्यते चेद्विरामो बाले वन्द्यैः कवीन्द्रैः सुतनु निगदिता स्रग्धरा सा प्रसिद्धा । —श्रुतबोध । हे मृगमदमुदिते ! जिस पद्य में प्रथम के चार, वैसे ही १४वाँ, १५वाँ, १७वाँ, १८वाँ, एवं २०वाँ, २१वाँ ये अक्षर दीर्घ हों और हे कदलिस्तम्भोरु ! जिसमें सात सात पुनः सात वर्णों पर विश्राम हो तो, हे सुन्दरी बाले ! माननीय कविवर उसे स्रग्धरा कहते हैं।
१२	४	१–६९ वियोगिनी (वैतालीय का एक प्रकार)	'विषमे ससजा गुरुः समे' स भ रा लोऽथ गुरु वियोगिनी । स स ज और एक दीर्घ शब्दांत । स भ र और एक लघु और एक दीर्घ शब्दांत ।
१३		७०–७२ नर्दटक (अवितथ, नर्कुटक, कोकिलक)	'यदि भवतो नजौ भजजला गुरु नर्दटकम्' गण:—न, ज, भ, ज, ज, ल, ग
१४		७३ शार्दूलविक्रीडित	देखिये :—७९
१५	५	१–५४ वंशस्थ	देखिये :–३–(६४–७६) ।
१६		५५ वसततिलक (१४ वर्ण)	"ज्ञेयं वसन्त तिलकं तभजा जगौ गः ॥ (वृत्तरत्नाकर) । गण:–त भ ज ज एवं दो दीर्घ शब्दांत । आद्यं द्वितीयमपि चेत् गुरु तच्चतुर्थं यत्राष्टमं च दशमान्त्यमुपान्त्यमन्त्यम् । अष्टाभिरिन्दुवदने विरतिस्तथाद्भिः कान्ते वसन्त तिलकं किल तां वदन्ति ॥—श्रुतबोध ।

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद		विवरण
				जहाँ प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, अष्टम, ११वाँ, १३वाँ, १४वाँ वर्ण दीर्घ हों तथा ८ व ६ पर विराम हो तो हे चन्द्रानने कान्ते ! निश्चय ही वह छंद वसन्ततिलक कहा जाता है।
१७	५	५६	मालिनी (१५ वर्ण)	'नन मयययुतेय मालिनी भोगि लोकैः।' (वृत्तरत्नाकर)। गणः—न न म य य प्रथममगुरु षट्कम् विद्यते यत्र कान्ते तदनु च दशमं चेदक्षरं द्वादशान्त्यम्। करिभिरथ तुरङ्गैः यत्र कान्ते विरामः सुकवि जन मनोज्ञा मालिनी सा प्रसिद्धा ॥ —श्रुतबोध। हे कान्ते ! प्रथम के छहों वर्ण, १०वाँ, १३वाँ जहां ह्रस्व हो और ८ व ७ पर विश्राम हो तो हे कान्ते ! उसको विद्वज्जन मनोहर 'मालिनी' छंद कहते हैं।
१८		५७–५८	वसन्ततिलक	देखिये :—५–(५५)।
१९		५९	प्रहर्षिणी (१३ वर्ण)	"म्नौज्रौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्षणीयम्।" गणः—म न ज र और एक दीर्घ शब्दांश। आद्यं चेत् त्रितयमथाष्टमं नवान्त्यं द्वायन्त्यौ गुरुविरती सुभाषिते स्यात्। विश्रामो भवति महेश नेत्र दिग्भि- र्विज्ञेया ननु सुदति प्रहर्षिणी सा ॥—श्रुतबोध। जहांप्रथम के तीन वर्ण, ८वाँ. १२वाँ १३वाँ दीर्घ हों और ३ व १० यति हो तो हे सुवंनी शुभ्रदंति, उसको प्रहर्षिणी छंद जानो।
२०		६०–६१	वसन्ततिलक	देखिये :—५–५५।
२१		१–५४	अनुष्टुप्	देखिये :—२–१–७७।
२२	६	५५–५७	प्रहर्षिणी	देखिये :—५–५९।
२३		५८–५९	वसन्त तिलक	देखिये :—५–५५।
२४		१–६१	उपजाति	देखिये :—१–१–८७।
२५	७	६२	मालिनी	देखिये :—५–५६।
२६	८	१–९९	रथोद्धता (११ वर्ण)	'रान्नराविह रथोद्धता लगौ'

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
			गण :—र न र एवं एक ह्रस्व और एक दीर्घ शब्दांश । आद्यमक्षरमतस्तृतीयकं सप्तमंच नवमं तथान्तिमम् । दीर्घबिन्दु मुखि यत्र जायते तां वदन्ति कवयो रथोद्धताम् ॥—श्रुतबोध । हे चन्द्रवदने ! १ला, ३रा, ७वां, ९वां, अन्त का ११वां वर्ण जहां दीर्घ हो उस छंद को कविजन रथोद्धता कहते हैं ।
२७		१००–१०१ नर्दटक	देखिये :—४–७०–०–७३ ।
२८	९	१–६६ वंशस्थ	देखिये :—३ (६४–७६) ।
२९		६७ वसंत तिलक	देखिये :—५–(५५) ।
३०		६८ नर्दटक	देखिये :—४ (७०–७३) ।
३१	१०	१–८१ अनुष्टुप्	देखिये :—२–(१–७७) ।
३२		८२–८३ वसंततिलक	देखिये :—५ (५५) ।
३३		८४–८९ शार्दूलविक्रीडित	देखिये :—२ (७९) ।
३४		९० स्रग्धरा	देखिये :—३ (८०–८१) ।
३५	११	१–८६ द्रुतविलम्बित	"अयि कृशोदरि यत्र चतुर्थक, गुरु च सप्तमक दशम तथा । विरहितं च तयंवविचक्षणैर्द्रुतविलम्बितमित्युपदिश्यते ॥ हे कृशोदरि ! जहां चोथा सातवां, दशवां गुरु हो, तथा बारहवां भी गुरु हो तो पण्डितजन उसे द्रुत-विलम्बित छंद कहते हैं ।
३६		८७–९० वसन्ततिलक	देखिये :—५ (५५) ।
३७		९१ पृथ्वी	द्वितयमलि कुन्तले, यदि षष्टमं द्वादशं । चतुर्दशमथप्रिये गुरु गभीर नाभिह्लदे ॥ सपञ्च दशमान्तिकं, तदनुयत्र कान्ते यतिः । करीन्द्रफणि मूलकुलैर्भवति शुभ्रपृथ्वीहि सा ॥ हे भ्रमरकेशि, यदि दूसरा, छठा, आठवां, बारहवां, चोदहवां, पन्द्रहवां, सत्रहवां, ये अक्षर गुरु हों और हे शुभ्रं प्रिय, गम्भीरनाभे ! जिसमे आठ और नो अक्षरों पर विराम हो तो वह पृथ्वी नाम का छन्द होगा ।
३८		९२–९३ शिखरिणी	देखिये :—३ (७८–७९) ।
३९		९४ शार्दूलविक्रीडित	देखिये :—२ (७९) ।
४०		९५ शिखरिणी	देखिये :—५ (५५) ।

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
४१		९६ शार्दूल विक्रीडित	देखिये :—२ (७९) ।
४२	१२	१–५२ वंशस्थ	देखिये :—३ (६४–७६) ।
४३	१२	५३–५५ पुष्पिताग्रा	देखिये :—१ (८८–९०) ।
४४		५६ पृथ्वी	देखिये :—११ (९१) ।
४५	१३	१–३७ प्रमिताक्षरा (१२ वर्ण)	'यदि तोटकस्य गुरु पचमक, विहितं विलासिनि तवक्षरकम् । रस सत्यक गुरु न चेद्गले, प्रमिताक्षरेति कविभिः कथिता ॥ हे विलासिनी ! यदि तोटक छंद का छठां वर्णन होकर पांचवा गुरु होते तो कविजन उसे प्रमिताक्षरा छंद कहेंगे ।
४६		३८–४४ पृथ्वी	देखिये :—११ (९१) ।
४७		४५–४६ हरिणी (१७ वर्ण)	सुमुखि लघवः पञ्च प्राच्यास्ततो दशमान्तिक– स्तदनु ललितालाभेवर्णस्तृतीयचतुर्थको । प्रभवति पुनर्यत्रोपान्त्यः स्फुरत्कनकप्रभे यतिरपि रसैर्वेदैर स्मृता हरिणीति सा ॥ हे सुमुखि ! जहां प्रथम के पाँचों वर्ण लघु हों और ११, १३, १४ भी लघु हों। पुनः हे सुनैनी, १६ भी लघु और ६, ४, ७ वर्णों पर क्रमशः विश्राम हो तो हे शुभ्र स्वर्णप्रभे ! उसे हरिणी छंद कहते हैं ।
४८	१४	१–८० द्रुतविलम्बित	देखिये :—११ (१–८६)।
४९		८१ मन्दाक्रान्ता	चत्वारः प्राक् सुतनु गुरवो द्वौदशंकदशौचे— न्मुग्धे वर्णौ तदनुकुमुदा मोदिनि द्वादशान्त्यौ। तद्वञ्चान्त्यौ युग रस हयैर्यत्र कान्ते विरामो मन्दाक्रान्तां प्रवर कवयस्तन्विण संगिरन्ते ॥ हे सुन्दरी, जिस छंद में प्रथम के चार वर्ण गुरु तथा १०, ११ दोनो गुरु हों तथा हे मुग्धे ! १३, १४ भी दीर्घ हों और हे कुमदा मोदिनि, ४, ६ तथा ७ पर विश्राम हो तो हे कृशाङ्गिकान्ते ! श्रेष्ठ कवि जन उसको मन्दाक्रान्ता छंद कहते हैं ।
५०	१५	१–५५ स्वागता (११ वर्ण)	अक्षरंच नवमं दशम चेव, व्यत्ययपादभर्यात यत्र विनीते । प्राक्तनैः सुनयने यदिसैव, स्वागतेति कविभिः कथितासौ ॥ हे विनीते सुनयनी ! जहां रथोद्धता छंद के नवम्, दशम् वर्ण विपरीत (नवम् ह्रिस्व, दशम् दीर्घ) हों उसे कविजन स्वागता छंद कहते हैं ।

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
५१		५६–६० उपेन्द्रवज्रा (११ वर्ण)	यदींद्रवज्रा चरणेषु पूर्वे, भवन्ति वर्णा लघवः सुवर्णे । अमन्द माद्यन्मदने तदानीमुपेन्द्रवज्रा कथिता कवीन्द्रैः । हे सुन्दरी कामिनी ! यदि इन्द्रवज्रा के चारों पदों में प्रथमाक्षर ह्रस्व हो तो कवीन्द्र उसको उपेन्द्रवज्रा कहते हैं ।
५२		६१ शार्दूल विक्रीडित	देखिये :—२ (७९)
५३		६२–६४ स्रग्धरा	देखिये :—३ (८०–८१)
५४	१६	१–६९ पुष्पिताग्रा	देखिये :—१ (८८–९०)
५५		७०–७२ मन्दाक्रान्ता	देखिये :—१४ (८१)
५६		७३ शार्दूलविक्रीडित	देखिये :—२ (७९)
५७		७४ स्रग्धरा	देखिये :—३ (८०–८१)
५८	१७	१–४२ वंशस्थ	देखिये :—३ (६४–७६)
५९		४३ मन्दाक्रान्ता	देखिये :—१४ (८१)
६०	१८	१–६८ अनुष्टुप्	देखिये :—२ (१–७७)
६१		६९–७० इन्द्रवज्रा	यस्यां त्रियट् सप्तममक्षरं स्यात् । ह्रस्वं सुजघे नवमं च तद्वत् ॥ गत्या विलज्जी कृतहंस कान्ते । तामिन्द्रवज्रा ब्रुवते कवीन्द्राः ॥ हे वरोरु, जिसका तीसरा, छठा, सातवाँ, नवाँ, वर्ण ह्रस्व हो तो हे गति में हंस को लजाने वाली, कवीन्द्र उसको 'इन्द्रवज्रा' छंद कहते हैं ।
६२		७१–७२ तोटक(१२वर्ण)	सतृतीयक षष्ठमनगरते, नवम निरति प्रभव गुरुचेन् । घन मीन पयोधर भार नते ननु तोटक वृत्तमिदं कथितम् । हे विलासाभिलाषिणी, जो तीसरा, छठा, नवाँ, बारहवाँ ये अक्षर दीर्घ हों तो हे कठिन और स्थूल पयोधरों के भार से विनम्र, इस छंद को तोटक वृत्त कहते हैं ।
६३		७३ पृथ्वी	देखिये :—११ (९१)
६४		७४ शार्दूलविक्रीडित	देखिये :—२ (७९)
६५	१९	१–५९ वंशस्थ	देखिये :—३ (६४–७६)
६६		६०–६२ वसन्ततिलका	देखिये :—५ (५५)
६७		६३ मन्दाक्रान्ता	देखिये :—१४ (८१)
६८		६४ स्रग्धरा	देखिये :—३ (८०–८१)
६९	२०	१–५१ वंशस्थ	देखिये :—३ (६४–७६)

क्रम संख्या	सर्ग संख्या	छंद	विवरण
७०		५२ पुष्पिताग्रा	देखिये :—१ (८०–९०)
७१		५३–५४ रुचिरा	
७२		५५–५६ वसन्ततिलका	देखिये :—५ (५५)
७३		५७–६० मन्दाक्रान्ता	देखिये :—१४ (८१)
७४		६१–६२ शार्दूल विक्रीडित	देखिये :—२ (८०)
७५		६३–६४ स्रग्धरा	देखिये :—३ (८०–८१)

सर्गों में प्रयुक्त छंद (सर्गानुसार)

सर्ग	छन्द	श्लोक
१	उपजाति	१ से ८७ तक
	पुष्पिताग्रा	८८ से ९० तक
२	अनुष्टुप्	१ से ७७ तक
	पुष्पिताग्रा	७८
	शार्दूलविक्रीडित	७९
३	उपजाति	१ से ६३ तक
	वंशस्थ	६४ से ७६ तक
	पुष्पिताग्रा	७७
	शिखरिणी	७८ ७९
	स्रग्धरा	८० ८१
४	वियोगिनी	१ से ६९ तक
	नर्दटक	७० से ७२ तक
	शार्दूलविक्रीडित	७३
५	वंशस्थ	१ से ५४ तक
	वसन्ततिलका	५५
	मालिनी	५६
	वसन्तलितका	५७, ५८
	प्रहर्षिणी	५९
	वसन्ततिलका	६०, ६१
६	अनुष्टुप्	१ से ५४ तक
	प्रहर्षिणी	५५, ५६, ५७
	वसन्ततिलका	५७, ५९
७	उपजाति	१ से ६१ तक
	मालिनी	६२
८	रथोद्धता	१ से ९९ तक
	नर्दटक	१००, १०१
९	वंशस्थ	१ से ६६ तक
	वसन्ततिलका	६७
	नर्दटक	६८
१०	अनुष्टुप्	१ से ८१ तक
	वसन्ततिलका	८२, ८३
	शार्दूलविक्रीडित	८४ से ८९ तक
	स्रग्धरा	९०
११	द्रुतविलम्बित	१ से ८६ तक
	वसन्ततिलका	८७ से ९० तक
	पृथ्वी	९१
	शिखरिणी	९२; ९३

सर्ग	छंद	श्लोक
	शार्दूलविक्रीडित	९४
	शिखरिणी	९५
	शार्दूलविक्रीडित	९६
१२	वंशस्थ	१ से ५२ तक
	पुष्पिताग्रा	५३ से ५५ तक
	पृथ्वी	५६
१३	प्रमिताक्षरा	१ से ३७ तक
	पृथ्वी	३८ से ४४ तक
	हरिणी	४५, ४६
१४	द्रुतविलम्बित	१ से ८० तक
	मन्दाक्रान्ता	८१
१५	स्वागता	१ से ५५ तक
	उपेन्द्रवज्रा	५६ से ६० तक
	शार्दूलविक्रीडित	६१
	स्रग्धरा	६२ से ६४ तक
१६	पुष्पिताग्रा	१ से ६९ तक
	मन्दाक्रान्ता	७० से ७२ तक
	शार्दूलविक्रीडित	७३
	स्रग्धरा	७४
१७	वंशस्थ	१ से ४२ तक
	मन्दाक्रान्ता	४३
१८	अनुष्टुप्	१ से ६८ तक
	इन्द्रवज्रा	६९, ७०
	तोटक	७१, ७२
	पृथ्वी	७३
	शार्दूलविक्रीडित	७४
१९	वंशस्थ	१ से ५९ तक
	वसन्ततिलका	६० से ६२ तक
	मन्दाक्रान्ता	६३
	स्रग्धरा	६४
२०	वंशस्थ	१ से ५१ तक
	पुष्पिताग्रा	५२
	रुचिरा	५३, ५४
	वसन्ततिलका	५५, ५६
	मन्दाक्रान्ता	५७ से ६० तक
	शार्दूलविक्रीडित	६१, ६२
	स्रग्धरा	६३–६४

कुल १४२६ श्लोक

११

छंदों की श्लोक संख्या

क्रम संख्या	छंद	श्लोक संख्या
१	वंशस्थ (१२ वर्ण)	३३७
२	अनुष्टुप्	२८०
३	उपजाति (११ वर्ण)	२११
४	द्रुतविलम्बित (१२ वर्ण)	१६६
५	रथोद्धता (११ वर्ण)	९९
६	पुष्पिताग्रा	७८
७	वियोगिनी	६९
८	स्वागता (११ वर्ण)	५५
९	प्रमिताक्षरा (१२ वर्ण)	३७
१०	वसन्ततिलका (१४ वर्ण)	१९
११	शार्दूलविक्रीडित (१९ वर्ण)	१५
१२	स्रग्धरा (२१ वर्ण)	१०
१३	मन्दाक्रान्ता (१७ वर्ण)	१०
१४	पृथ्वी (१७ वर्ण)	१०
१५	नर्दटक (१७ वर्ण)	६
१६	उपेन्द्रवज्रा (११ वर्ण)	५
१७	शिखरिणी (१७ वर्ण)	५
१८	प्रहर्षिणी (१३ वर्ण)	४
१९	मालिनी (१५ वर्ण)	२
२०	इन्द्रवज्रा (११ वर्ण)	२
२१	तोटक (१२ वर्ण)	२
२२	हरिणी (१७ वर्ण)	२
२३	रुचिरा (१३ वर्ण)	२
		१४२६

महाकाव्य का विवरण

सर्ग	श्लोक	विवरण
१	१—११	अयोध्या का वर्णन ।
	१२–२५	महाराज दशरथ ।
	२६–४४	महाराज दशरथ की रानियाँ ।
	४५–७४	दशरथ का आखेट के लिये जाना और वहाँ अन्ध-मुनि-पुत्र पर धोखे से तीर चलाना ।
	७५–९०	मुनि-पुत्र की मृत्यु और मुनि का शाप देना।
२	१–८	देवताओं का विष्णु के पास जाना । विष्णु का वर्णन ।
	९–१८	देवताओं द्वारा विष्णु की प्रशंसा ।
	१९–३२	विष्णु का देवताओं से उनके दुख का कारण पूछना ।
	३३–७३	बृहस्पति का उनसे रावण के अत्याचारों और उसकी शक्ति का कहना ।
	७४–७९	विष्णु का उन्हें ढाढ़स देना और कहना कि वह राम का अवतार लेकर उनके दुखों को दूर करेंगे ।
३	१–१३	वसन्त वर्णन
	१४–२४	उद्यान में दशरथ का अपनी रानियों के साथ क्रीड़ा ।
	२५–३१	दशरथ द्वारा प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन ।
	३२–५८	जल विहार ।
	५९–६२	क्रीड़ा की समाप्ति ।
	६३–६८	दशरथ द्वारा सूर्यास्त का वर्णन ।
	६७–७५	रात्रि-वर्णन ।
	७६–८१	प्रातःकाल और चारणों द्वारा गुणानुवाद ।
४	१–१४	दशरथ के पुत्रों का जन्म और बड़ा होना ।
	१५–२९	विश्वामित्र का आना और यज्ञ में विघ्नों को दूर करने के लिये राम को माँगना। दशरथ का स्वीकार करना ।
	३०–४९	दशरथ का राम को उपदेश। लक्ष्मण का राम के साथ जाने के लिये तैयार होना।
	५०–५८	तीनों का प्रस्थान । राम का आश्रम को उजड़ा हुआ देखना और उसका वर्णन।
	५९–६१	ताड़का राक्षसी का आना । उसका वर्णन ।
	६२–६९	स्त्री होते हुए भी ताड़का के वध के लिये विश्वामित्र का राम को प्रोत्साहित करना।
	७०–७३	ताड़का-वध और विश्वामित्र का राम का दिव्यास्त्र देना।
५	१–१०	विश्वामित्र के आश्रम में प्रवेश ।
	११–२४	विश्वामित्र का राम को यज्ञ की रक्षा का भार सौंपना। राम द्वारा आश्रम का वर्णन।
	२५–६१	पिशाचों की सेना का आ पहुँचना। राम लक्ष्मण का उसका विध्वंस करना। मारीच और सुबाहु का वध ।
६	१—८	विश्वामित्र का दोनों भाइयों को, जनक का धनुष देखने के लिये, मिथिला ले जाना।
	९–१५	रास्ते में गौतम के आश्रम में ठहरना और अहल्या का उद्धार ।
	१६–३०	मरुतों की जन्मभूमि, मिथिला पहुँचना ।
	३१–३२	मिथिला में स्वागत ।

सर्ग	श्लोक	विवरण
	३३-४१	जनक को विश्वामित्र का साधुवाद ।
	४२-४६	जनक का धनुष दिखलाना ।
	४७-५९	राम का धनुष को तोड़ना । जनक का राम को दामाद बनाने के लिये चुनना । जनता का राम की प्रशंसा करना ।
७	१-६	राम और सीता का मिलना ।
	७-१८	राम द्वारा सीता का वर्णन ।
	१९-२१	सीता का लौट जाना ।
	२१-३४	राम और सीता का प्रेम ।
	३५-६२	दशरथ का अपने पुत्रों के सहित मिथिला में आना । राम और सीता का विवाह ।
८	१-५४	सम्भोग वर्णन ।
	५५-९२	सन्ध्या और रात्रि का सुन्दर वर्णन ।
	९३-१०१	मधुपान ।
९	१-२५	दशरथ का अयोध्या के लिये, अपने पुत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ प्रस्थान । मार्ग का वर्णन ।
	२६-४५	परशुराम का आगमन, राम और परशुराम सम्वाद ।
	४६-६६	अयोध्या में प्रवेश ।
	६७-६८	कैकेय राज का अपने पुत्र युधाजित को भरत को लाने के लिये अयोध्या भेजना ।
१०	१-४२	दशरथ का राम के राज्याभिषेक के लिये प्रस्ताव और राजा के कर्तव्य का निरूपण ।
	४३-४५	मन्थरा का आगमन ।
	४६-५६	राम का चित्रकूट-प्रस्थान ।
	५७-६१	वहाँ भरत द्वारा, दशरथकी मृत्यु का संदेश पहुँचाना ।
	६२-६८	राम का भरत को सान्त्वना देना और राज्य करने के लिये लौट जाने का आदेश करना ।
	६९-७०	विराध की मृत्यु ।
	७१	राम का पञ्चवटी चले जाना ।
	७२-७५	शूर्पणखा, खर और दूषण का वृत्तान्त ।
	७६-९०	रावण का जानकीहरण करना ।
११	१-२२	रावण और जटायु का युद्ध । मरते समय जटायु का राम से जानकीहरण का वृत्तान्त कहना ।
	२३-२४	राम का ऋष्यमूक पर्वत पर जाना और हनुमान से मैत्री ।
	२५-३७	वालि और सुग्रीव का युद्ध ।
	३८-८०	वर्षा-ऋतु-वर्णन ।
	८१-९६	राम द्वारा वर्षा-ऋतु-वर्णन ।
१२	१-१०	शरद ऋतु का वर्णन ।
	११-३७	राम के द्वारा शरद्-वर्णन और उनका सुग्रीव की अकर्मण्यता पर भर्त्सना करना ।
	३८-५२	लक्ष्मण का सुग्रीव को फटकारना, और सुग्रीव द्वारा क्षमा-याचना ।
	५३-५६	सीता को खोजने के लिये वानरों का निकल पड़ना ।
१३	१-५	राम की विकलता ।
	६-२५	सुग्रीव का राम के मन को बहलाना और पर्वत की शोभा का वर्णन करना ।
	२६-४४	सीता का पता लगा कर लौट आना और राम से सब हाल कहना ।
	४५-४६	राम का समुद्र-तट पर जाना ।
१४	१-४५	सेतु-बन्धन ।

सर्ग	श्लोक	विवरण
	४६–५०	राम द्वारा उसका वर्णन ।
	५१–७१	सेतु वर्णन ।
१५	१८–२२	अंगद का रामदूत होकर रावण के पास जाना और सन्देश कहना ।
	२३–२७	अंगद का रावण को उपदेश ।
	२८–४१	राक्षसों का क्रुद्ध होना। अंगद को बाँध लेने का प्रयास। परन्तु अंगद का आकाश मार्ग से अपनी सेना में चले जाना।
	४२–५५	रावण के नाना, माल्यवान का रावण को सीता को लौटा देने का आदेश करना।
	५६–६४	रावण की गर्वोक्ति ।
१६	१–१४	लंका में सन्ध्या-वर्णन ।
	१५–२५	चन्द्रोदय वर्णन ।
	२६–५९	राक्षसियों का केलि-वर्णन।
	६०–६६	राजमहल में रावण का मद्यपान और राक्षसियों के साथ विहार।
	६७–७४	प्रातःकाल चारणों का रावण को जगाना।
१७	१–२५	राम का युद्ध-क्षेत्र में आना; रावण का अपने सेनानायकों को एकत्र कर युद्ध के लिये प्रोत्साहित करना।
	२६–६२	राक्षसों का युद्ध के लिये निकल पड़ना ।
	३३–४३	वानरों और राक्षसों का युद्ध। राक्षस-सेना का भाग खड़ा होना। रावण का मेघनाद को भेजना ।
१८	१–१३	मेघनाद का युद्ध करना और लक्ष्मण को नाग-पाश में बाँध लेना।
	१४–५४	कुम्भकर्ण का युद्ध । अंगद का हनुमान् को प्रोत्साहित करना । भागती हुई वानर सेना का लौटना । कुम्भकर्ण का वध ।
	५५–६३	राक्षसों से युद्ध ।
	६४–७४	लक्ष्मण और रावण का युद्ध । रावण की 'शक्ति' से लक्ष्मण की मूर्छा।
१९	१–३१	हनुमान् के सञ्जीवनी बूटी लाने से लक्ष्मण की मूर्छा टूटना। राम-रावण युद्ध। रावण का वध और आकाश से पुष्प वृष्टि ।
	३२–५२	मन्दोदरी विलाप ।
	५३–५६	राम का रावण के राजमहल में सिंहासनारूढ होना । वहाँ सीता का आना। परन्तु राम का जनापवाद के भय से मुँह फेर लेना।
	५७–६०	सीता का क्रोध से युक्त होकर राम से कहना।
	६१–६४	सीता का अग्नि को साक्षी देकर शपथ लेना ।
२०	१–८	राम का लंका से पुष्पक पर प्रस्थान, सीता के प्रति उनके स्नेहोद्गार।
	९–५२	पुष्पक पर से मार्ग के दृश्यों का सीता से वर्णन करना।
	५३–६०	अयोध्या पहुँचना और राम का राज्याभिषेक ।
	६१–६४	कवि के वंश का वर्णन ।

१३

यमकों के लक्षण

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वर व्यञ्जन संहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥— साहित्य दर्पण

गोमूत्रिकाबन्धः—

वर्णानामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्द्धयोः ।
गोमूत्रिकेति तत्प्राहु दुष्करन्तद्विदोविदुः ॥

सर्वतोभद्रः—

तदिदं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ।—दण्डी

समुद्गकः—

अर्द्धं पुनरावृत्तं जनयति यमकं समुद्गकम् ।—रुद्र भट्ट
अर्द्धाभ्यासः समुद्ग स्यात् ।—दण्डी

यमकावली:—

पदेषु यत्र सर्वेषु सादृश्यं दृश्यते यदि ।
यमकावलिरुद्दिष्टा श्लिष्टा यमक कोविदैः ॥

प्रतिलोमः—

आवृत्तिः प्रतिलोम्येन पादार्द्धश्लोक गोचरा ।
यमकं प्रतिलोमत्वात्प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥—दण्डी

चक्रबन्धः—

दशमण्डलरेखात्मके नवमण्डलान्तरालवर्ति चक्रे नाभिस्थानेन सहैकोनविंशतिप्रकोष्ठं प्रत्येकं द्वयक्षगतं पंक्तित्रयं समरेखया लिखित्वा तत्रैकस्यां पंक्तौ वामपार्श्वप्रक्रमेण आद्यपादमालिख्य तथा प्रादक्षिण्येन द्वितीय तृतीययोर्द्वितीय तृतीयौ लिखित्वा नेमिस्थाने बाह्यवलये साक्षर कोष्ठषट्केन सहाष्टादश कोष्ठवर्ति तृतीय पादान्तकोष्ठवर्ति वर्णमारभ्य प्रादक्षिण्येन चतुर्थपादं लिखित्वा तत्रैव समापयेत् । तत्र तद्यान्तवर्णैः सह चतुर्थ पादोद्धारः तत्र नाभिस्थाने आद्य पादत्रयदशमाक्षर संवादः । तृतीयान्त कोष्ठे चतुर्थाद्यन्त वर्णयोः संवादः तृतीय वलये माघ काव्यमिदं । षष्ठे शिशुपाल वध इति कविकाव्य नामोद्धारः ।

—शिशुपाल वध, १९-१२०.

मुरजबन्धः—

तिर्यग्रेखा लिखेत्पञ्च नवोर्ध्वास्तत्र पंक्तयः ।
अष्टकोष्ठाश्चतस्रः स्युस्तासु श्लोकं लिखेत् क्रमात् ।

तत्राद्य द्वित्रितुर्यासु तुर्यत्रिद्वयाद्य पंक्तिषु ।
आद्य द्वित्रिचतुः पञ्च षट् सप्ताष्टम कोष्ठगः ।
दृश्यते प्रथमः पादश्चतुर्थश्चैव मेवहि ।
चतुर्थं पंक्ति प्राथम्यात्प्रथमावधि वीक्षणात् ।
द्वितीयादावाद्य द्वित्र्योर्द्वितुर्ये त्रितुरीयके ।
तुर्यं त्रिद्वयोस्तृतीयाद्ये द्रष्टव्योंघ्रिर्द्वितीयकः ।
तृतीयोंघ्रिर्द्वितीयान्त्ये आद्य सप्तमषष्ठयो : ।
द्वित्रिपञ्चमयोस्तुर्यषष्ठ सप्तमयोः क्रमात् ।
तृतीयान्त्ये च लक्ष्योयमयान्यः क्रम उच्यते ।
आद्यन्त्य युग्मयोः पंक्त्याश्चिन्त्यो गोमूत्रिका क्रमः ।
कृत्वैकं द्वितयं द्वेच द्वयमेकमिति क्रमात् ।
यद्वा द्वितयमेकं च द्वयमेकं द्वयं पुनः ।
स्वपंक्तिप्रक्रमावेव विन्यासद्वितयं भवेत् ।
यद्वा प्रथम तुर्य्यांघ्री स्व पंक्त्योस्तदनुक्रमात् ।
द्वितीयोंघ्रिर्द्वितीयस्यां क्रमावाद्यचतुष्टये ।
व्युत्क्रमाच्च तृतीयस्या माद्यमेव चतुष्टये ।
व्युत्क्रमेण द्वितीयस्यां तृतीयस्यां क्रमेण च ।
द्रष्टव्यो हि तृतीयोंऽघ्रिरन्त्यकोष्ठ चतुष्टये ।
विन्यास भेदास्त्वन्येऽपि सन्त्येव बहवोऽत्रहि ।
विस्तरात्तु न लिख्यते स्वयमूह्या विचक्षणैः ॥

—माघ, १९–२९.

यमक एवं शब्द-चित्र

कुमारदास ने जानकीहरण में २५ प्रकार के यमकों एवं शब्द-चित्रों का व्यवहार किया है । उसका विस्तृत विवरण अन्यत्र दे दिया गया है । इस परिशिष्ट में अन्य कवियों—भारवि माघ, भट्टि (भट्टि काव्य के प्रणेता) ने जानकीहरण में प्रयुक्त जिन यमकों एवं शब्द-चित्रों का उपयोग किया है उनका भी उल्लेख है। इन यमकों में से बहुतों के लक्षण नाम ही से स्पष्ट हैं जैसे, 'एकाक्षरः', 'द्व्यक्षरः,' 'चतुरक्षरी', इत्यादि । जिनके स्पष्ट नहीं हैं उनके लक्षण परिशिष्ट के अन्त में दे दिये हैं ।

कुछ यमकों का नामकरण कुमारदास ने एक प्रकार से किया है । उन्ही यमकों का अन्य कवियों ने भिन्न नामकरण किया है; यद्यपि दोनों एक ही हैं। यथा :—

कुमारदास	भारवि	माघ	भट्टिकाव्य
गूढ़ चतुर्थम्	गूढ चतुर्थ पाद.	गूढ़ चतुर्थः	—
पाद यमकम्	द्विचतुर्थ यमकम्	--	—
आदि यमकम्	पादादियमकम्	—	—
प्रतिलोम	—	गतप्रत्यागतः	—
चतुरक्षरी	एकाक्षर पाद	—	—
निरन्तरानुप्रासम्	—	एकाक्षरः	—
अर्धप्रतिलोमः	प्रति लोमानुलोमपादः	अर्ध प्रतिलोमः	—
आद्याम्रेडितम्	पादादि यमकम्	—	—
सन्दष्टकम्	शृंखला यमकम्	—	—
अर्धयमकम्	समुद्गकम्	—	—
चक्रवृत्तम्	—	चक्रबन्धः	

कुछ महाकवि तो ऐसे हैं जिन्होने अपने काव्यों मे यमकों का अत्यधिक प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, माघ ने 'शिशुपाल वध' का पूरा छठा सर्ग एक ही प्रकार के यमक में लिखा है और १९वें सर्ग में विभिन्न यमकों एवं शब्द-चित्रों का व्यवहार किया है । माघ का महाकवियों में एक विशिष्ट स्थान है । सभी जानते हैं :—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम् ।
नैषधे (दण्डिनः) पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥

भारवि ने किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग मे यमकों का बहुत उपयोग किया है और भट्टिकाव्य मे तो यमकों की भरमार है ही। परन्तु ध्यान देने की बात है कि कालिदास ने रघुवंश और कुमारसम्भव मे और श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित मे केवल छोटे-छोटे ललित यमकों का उपयोग किया, एक भी भयंकर दंगली यमका का नहीं। कारण यही लगता है कि कालिदास मे प्रसाद गुण और नैषध में लालित्य इतना है कि दंगली यमको के लिये उनमे कोई स्थान नहीं है। काव्य के रस की दृष्टि से यमक अधम है ।

———